डॉ० शिवकरण सिंह

साहित्य-रूप

किताब महल



साहित्य-रूप

डॉ॰ शिवकरण सिंह, एम॰ ए॰ (हिन्दी-अँग्रेजी), पी-एच॰ डी॰
प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

किताब महल, इलाहाबाद
१९७३

प्रथम संस्करण : १९७३

प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद

मुद्रक—देव भारती प्रेस, १०, दरभंगा रोड, इलाहाबाद–२११००२

डॉ० केशव प्रसाद सिंह,
एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
काशी विद्यापीठ
वाराणसी

डॉ० त्रिभुवन सिंह
एम० ए०, डी० लिट्०
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

तथा

डॉ० कृष्ण कुमार मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यापक, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

जिन्होंने मेरा ठोंक-पीट कर निर्माण किया

को श्रद्धापूर्वक समर्पित

—शिवकरण

दो शब्द

साहित्य-रूप पर बहुत कुछ लिखा गया है। शोध-प्रबंधों और पुस्तकों में तमाम सामग्रो बिखरी है। फिर 'साहित्य-रूप' के लेखन के औचित्य का प्रश्न उठना स्वाभाविक है। मैं वेहिचक कहना चाहता हूँ कि हिन्दी में यह इस विषय पर पहली पुस्तक नहीं है, लेकिन अपने तरह की अकेली पुस्तक अवश्य है। इस आत्मस्वीकृति के कुछ कारण हैं। हिन्दी में पिष्टपेषण का गोरखधन्धा बढ़ गया है, इससे लेखक मूलस्रोतों की खोज से कतराने लगे हैं। आज हर साहित्यकार के हाथ में एक बना-बनाया नुस्खा है, और मर्ज़ का निदान किए बिना वह उसका बेलौस प्रयोग भी करता रहता है। इसी से मर्ज़ बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की—की बात सामने आती है। एक समझदार आदमी अपने से पूछता है कि आख़िर यह स्थिति कब तक बनी रहेगी ? उसकी आवाज़ शून्य से टकरा कर उसके यहाँ लौट आती है। जब वह सर उठाता है तो एक ओर उसे विश्वविद्यालयीय 'गुरुडम' का दर्शन होता है तो दूसरी ओर कुछ नया कह जाने और रच जाने की धमाचौकड़ी और धकापेल होड़ का। धन्य है अखाड़ेबाजी जो हर चमड़े के सिक्के को करेंसी के भाव चला लेती है, लेकिन भवों में वल भी नहीं पड़ता है। मैं साहित्य के प्रति आस्थावान् हूँ, लेकिन किसी भो तरह की साहित्यिक अखाड़ेबाजी का विरोधी।

आप ज़रा विचार तो कीजिए, भवों में बल तो डालिए, फिर आपको सहज ही ज्ञात हो जायगा कि 'संशय विहंग उड़ावनहारी' यह साहित्य-विधा सावयव विकास की द्योतक है। यह बढ़ती है, फलती और फूलती है। जब तक भाव-रूपी बीज बना है, तब तक लगातार उसके विकसित होने की संभावनायें भी अक्षुण्ण हैं। इस विकास में बहुत कुछ लगातार उभड़ता और तिरोहित होता रहता है। यह उतार-चढ़ाव, या यों कहें कि दिशा-बदलाव, उसकी अजस्र धारा का ही जनक होता है। जब किसी परिवर्तन को मूलधारा से काट कर अनावश्यक महत्त्व दिया जाता है तो उसकी विकासोन्मुख गति अवरुद्ध हो जाती है। साहित्य न तो केवल शिल्प है और न कथ्य। वह तो असल में कथ्य का शिल्पगत निरूपण है। कथ्य बदलता है तो शिल्प का बदलना स्वाभाविक हो जाता है। कुछ लोग इसी बदलाव को पकड़ कर या तो हाय-तौबा मचाने लगते हैं या अतिरंजित समर्थन प्रदान करने लगते हैं। यह प्रवृत्ति स्वास्थ्यकर नहीं है। यह तभी पैदा भी होती है जब सावयव

विकास का सिद्धान्त हमारी आँख से ओझल हो जाता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हर विकास गति का सूचक होता है और गति क्रिया की। जहाँ क्रिया होती है, वहाँ उसकी प्रतिक्रिया का होना ज़रूरी है। प्रतिक्रिया गुणात्मक या परिमाणात्मक बदलाव की सूचक होती है, लेकिन उसका प्रेरणा-स्रोत क्रिया होती है, अतएव उससे दृश्य रूपों में भिन्न होने पर भी वह अन्त:संबन्धों में भरपूर गुँथी होती है। आज के साहित्यकार को क्रिया-प्रतिक्रिया के इन अन्त:संबन्धों पर नए सिरे से सोचना है। इससे सावयव विकास की धारणा ही बलवती नहीं होगी, नए मूल्य भी उभड़ कर सामने आयेंगे। आज मूल्य की तलाश करने वालों की कमी नहीं है, लेकिन अपनी डफली और अपनी तान के कारण आर्केस्ट्रा की बात तो सामने आ रही है, पर वह बौद्धिक और सवेदनात्मक 'रिद्म' नहीं पैदा हो पा रहा है जो मूल्य-बोध के लिए ज़रूरी हाता है। क्या हमारी तंगदिली अथवा उधारखाते पलने वाली बौद्धिकता इसके लिए जिम्मेदार नहीं है?

'साहित्य-रूप' में हमने सावयव विकास और मूल्य-बोध की संगति को सदैव ध्यान में रखा है। इसकी प्रेरणा आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के एक आक्षेप से मिली है। कला-सृजन-प्रक्रिया के दूसरे खण्ड का काम चल रहा था। इसी बीच द्विवेदी जी से अचानक भेंट हो गई। उन्होंने चेतावनी देते हुए कहा, "सारा प्रयास कहीं हवा में मुक्का चलाने जैसा न हो जाय।' बात पते की थी। मैंने कला और साहित्य का उस दृष्टि से अध्ययन करना शुरू किया। दृष्टि सृजन के सूत्रों पर टिकी थी और अध्ययन साहित्य-रूपों का चल रहा था। इस क्रम में जो भी हाथ लगा, उसी का फल यह 'साहित्य-रूप' है। मुझे इसके बाद निराश होने का कोई कारण नज़र न आया। मेरी धारणा और दृढ़ हुई और सोचने-विचारने के लिए नई सामग्री भी मिली। सृजन को ध्यान में रख कर विवेचन के कारण इसका ढाँचा इस विषय पर लिखी गई पुस्तकों से कुछ भिन्न ज़रूर हो गया।

हर साहित्य-रूप पर समान रूप से बल देना संभव न था। मैंने विभाजन की दृष्टि से कल्पना की कार्य-पद्धति को स्वीकार किया है। कोई विषय किसी भी साहित्य-रूप के लिए उपयुक्त हो सकता है, बशर्ते लेखक की समान और रचनात्मक शक्ति उसे उस ओर प्रेरित करे। पूरी पुस्तक में प्रगीत कल्पना के विषय प्रगीत और नाट्य कल्पना के विषय उपन्यास, नाटक पर गंभीरता से विचार किया गया है। कहानी का विवेचन भी संतोषप्रद है। तत्त्वों को लिया गया है, पर इस बात का ध्यान रखा गया है कि पुनरावृत्ति न होने पाए। हिन्दी में आधुनिक कविता और कहानी को यह सौभाग्य प्राप्त है कि उसे सशक्त लेखक ही नहीं, आलोचक भी मिले हैं। डॉ० नामवर सिंह, डॉ० इन्द्रनाथ 'मदान, डॉ० राम विलास शर्मा, भैरव प्रसाद गुप्त, डॉ० विजय देव नारायण साही, डॉ० धर्मवीर भारती, डॉ० बच्चन

सिंह और डॉ० जगदीश गुप्त इसके प्रमाण हैं। नाटक और उपन्यास की नियति इससे भिन्न है। कुछ अपवादों को छोड़ कर इनमें सशक्त चिन्तन और मनन का अभाव दिखाई देता है। किसी भी रूप में अगर प्रस्तुत पुस्तक का सैद्धान्तिक विवेचन उसमें सहायक सिद्ध हो सका तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

इस पुस्तक में कलेवर न बढ़ने देने के लिए सिद्धान्त की ही बात उठाई गई है। हर साहित्य-रूप की कुछ चुनी हुई विधाओं की आलोचना बाद में प्रकाशित होगी। वहाँ व्यवहार पक्ष की बात भी सामने आएगी।

मैं डॉ० नगेन्द्र, डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, डॉ० विजय पाल सिंह और डॉ० केशव प्रसाद सिंह का भी कृतज्ञ हूँ जिनसे समय-समय पर सहायता मिलती रही है।

—शिवकरण

अनुक्रम

नाट्य सिद्धान्तः—हीगेल; मूभमेण्ट, मोशन; डाइलेक्टिक और नाटक—ट्रैजिक कान्फ्लिक्ट—शापेनआवर; इच्छाशक्ति—ब्रुनेटियर; सोद्देश्य इच्छाशक्ति—हेनरी जोन्स; इच्छाशक्ति अन्तर्द्वन्द्व—सार्सी, दर्शक के मनोरंजन का विधान—आधुनिकवाद; **अन्विति :**—पाश्चात्य मत, अनुकरण और अन्विति—विरोध और समर्थन, **रंगमंच और प्रेक्षागृह**—नाटक के विकास में योगदान—**दर्शक और नाटक**—दर्शक का महत्त्व—दृश्यविधान—तादात्म्य—**पठ्य नाटक** :—रचना सोद्देश्य—पाठक की कल्पना शक्ति—नाटककार के निर्देश—अवधान-केन्द्रीकरण—पाठक की जागरूकता—**नाटक और संघर्ष** :—संघर्ष का स्वरूप और महत्त्व—हावर्ड लॉसन; सामाजिक संघर्ष—ब्रुनेटियर; आर्ट आव क्राइसिस—जोन्स—संभावित संघर्ष और क्रियाशील संघर्ष—तनाव और संघर्ष—निष्कर्ष—**नाटक के तत्त्वः**—**कथानक**—कथानक की परिभाषा—कार्य-कारण-शृंखला—आरंभ, मध्य और अन्त—कथानक का विरोध—संस्कृत आचार्यों की देन—फ्रेटॉग का पिरामिड—संघर्ष और जटिलता—कार्य और कार्य-व्यापार—रचना-संबंधी मत—संप्रकाशन, कार्यारोहण, चरमोत्कर्ष, कार्यावरोहण, निगति—**चरित्र-चित्रण**—चरित्र और कार्यव्यापार—व्याख्या-प्रधान कार्यव्यापार, उपस्कारक कार्य-व्यापार तथा चरित्र—संस्कृत आचार्यों के मत—चरित्र-सृजन—चरित्र और उद्देश्य—सुगठित और सपाट चरित्र—यथार्थवाद का प्रभाव—**कथोपकथन**—नाटक और अन्य कलारूप—कथोपकथन की कला—भाववाहक भाषा कथोपकथन और अभिनय—कथोपकथन और कार्य-व्यापार—चित्रोपम भाषा—**नाटक के प्रकार**—दशरूपक—नाटिका—**त्रासदी** :—व्युत्पत्ति इतालवी प्रभाव—जीवन में प्रयोग—अन्धशक्ति और भाग्य—परिभाषा, अरस्तू; करुण और भय का परिष्कार—ज्वायस; करुण और भय का स्वरूप—अन्य मनोविकारों का उल्लेख—क्लिफर्डलीच; अहं और भय—कीर्केगार्द; अवसाद और विस्मय—बाह्य और मानसिक संघर्ष—प्रकृतवाद और नियति—हीगेल; दो शक्तियों का संघर्ष—ओस्कार मण्डल; इच्छाशक्ति प्रेरित नायक की उलझन—विशेषता—रवानी—त्रासदी और कॉमदी—**त्रासदी का आस्वाद** :—अरस्तू; विरेचन—रोबर्टेली; कष्टों के प्रति सहिष्णुता—जिराल्डी; समान भावों का परिष्कार—लेसिंग; मध्यमान की प्राप्ति—रिचर्ड्स; भावसामंजस्य—हीगेल, नीत्शे; विषमताओं का परिहार—ब्रैडले; आत्मविभाजन और ध्वंस—रोजरफ्राई; विश्वजनीन नियम—देकार्त; मन का बहिर्मुख प्रवाह—संस्कृत काव्य-सुख, सुख-दुखात्मक अनुभूति—**कामदी**—हास्य के कारण—व्यतिरेक अन्तर्विरोध—बंधनों से मुक्ति—निर्वैयक्तिक अन्तःसंबंध—हास्य और नाटक—पुराने सुखान्त

प्रजातंत्रीय मनोवृत्ति का—गद्य और पद्य का भेद--रोमांस और उपन्यास — **उपन्यास और जीवन** : जड़ें जीवन में--चुनाव की ज़रूरत--जीवन-दर्शन—रचना की सावधानी—विश्वसनीय चित्रण--निरीक्षण-क्षमता--अंत:संबंध का निर्वाह-- परिभाषा -- **तकनीक**--परिभाषा और व्याख्या--विषय-वस्तु--अभिव्यक्त विषय-वस्तु और तकनीक--तकनीक और शैली — वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक, प्रतीकात्मक, नाटकीय और मिली-जुली तकनीक -- **तत्त्व** -- कथानक—कालसापेक्ष संघटन — घटना की शृंखला — 'मोटिव' और ड्यूरेशन' पर इसका प्रभाव -- रचनापद्धति का ज्वलन्त रूप — कथानक और रिद्‌म -- कथानक और विषय - विन्यास — तनाव और सुलझाव-- कथानक और बोध -- रचना से संबन्ध -- डाइलेक्टिक आँव सेल्फ एण्ड इट्स सर्कुलर मूभमेण्ट -- घटना और परिस्थिति -- संश्लेषण -- कुतूहल -- विश्वसनीयता -- संगठित कथानक की विशेषता -- **शिथिल वस्तु-- विन्यास** कथानक के विरुद्ध प्रतिक्रिया -- फार्स्टर; कहानी की खोज -- जाइड; शुद्धि के प्रयास में मुक्ति का प्रयत्न -- क्षीणता; मनोविज्ञान -- **चरित्र-चित्रण**—जीवन और चरित्र -- चरित्र और सन्दर्भ -- चरित्र और सर्जक -- चरित्रों का संबंध विशिष्ट अनुभूति द्वारा सीमांकित -- चरित्र और विसंगति -- परिदृश्य और चरित्र—विकास में परिदृश्य और संबंध—वैविध्य का योग-- चरित्र और परिदृश्य का बाह्य तथा आन्तारिक लक्ष्य-विस्तार -- नायक, सहायक पात्र और फिसले -- कल्पना और तथ्य का सामंजस्य -- पूर्ण चरित्र, सपाट चरित्र और वर्तुल चरित्र -- चुनाव -- लिडल की दृष्टि में चरित्र-निर्माण—बटलर के मिथक निर्माण-सदृश--निर्माण की पद्धति के दो रूप—चेतनाप्रवाहवाद और चरित्र — सृजन-संबंधी अन्य पक्ष — आधुनिक उपन्यास के चरित्र -- चरित्रों का विरोध—**भाषा**:—सार्थक प्रयोग -- कथा की भाषा, विचार की भाषा—पात्रों की भाषा – भाषा और उपन्यास—प्रयोग -- ट्वेन, स्पेशल डाइलेक्ट स्टाइल—हेमिंग्वे; सामान्य जनभाषा -- उपयुक्तता, संक्षिप्तता और व्यंजकता -- **परिवेश**—देश. काल, वातावरण -- **देश** :—अन्तर्निहित विशेषता -- अनुभूति के साथ लगाव -- स्थान का उपयोग अन्तर्निहित विशेषता के चित्रण में सहायक -- गोदान, या ऐन्द्रिय संवेदन का दान -- चरित्रों पर प्रभाव - स्थान से संलग्न संवेदना का चित्रण आंचलिकता -- **काल** -- कालाश्रित कला; साहित्य और संगीत -- विषय-वस्तु पर प्रभाव -- निरूपण की विविध पद्धतियाँ -- चेतनाप्रवाहवाद, टाइम-शिफ्ट, टाइम लैंग्युअर -- कालातीतता -- स्थगित क्षण और बहुसमावेशक क्षण -- वर्तमान, भूत और स्थिर काल का प्रयोग -- मनोवैज्ञानिक काल--शून्य कालखड्ड -- चेतनाप्रवाहवाद और काल—**पृष्ठभूमि** :-- परिदृश्य - चित्रण

साहित्य के वर्गीकरण की समस्या और उसका समाधान | १

चिरकाल से साहित्य के विविध प्रकार के रूपों की चर्चा हमारे चिन्तन का विषय है, पर खेद के साथ कहना पड़ता है कि अभी तक उनके वर्गीकरण के आधारों का समुचित निराकरण नहीं हो पाया है। इससे साफ जाहिर है कि या तो अनावश्यक या उलझनपूर्ण समझ कर समीक्षक इससे कतराते हैं। साहित्य के क्षेत्र में यह प्रवृत्ति ठीक नहीं है। थोड़ा विचार करने पर भी यह ज्ञात हो जाता है कि व्यक्ति के स्वभाव में विभेदीकरण की सूक्ष्म प्रवृत्ति पाई जाती है। वह देखते ही देखते संसृति के परिचित जड़ अथवा चेतन उपादानों के स्वरूपों और प्रकृतियों की भिन्नता को परख लेता है। यही पारखी वृत्ति साहित्य के सन्दर्भ में भी चरितार्थ होती है। अपने ज्ञानाश्रित संस्कारों के आधार साहित्य के किसी भी रूप को देखकर या पढ़कर वह बता देता है कि यह महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी या निबंध है। पर, अगर हम उससे यह पूछें कि उसके इस विभेदीकरण का आधार क्या है तो वह कुछ ऊल-जलूल उत्तर देकर चुप हो जाता है।

दरअसल साहित्य के दो पक्ष हैं, (१) अनुभूति पक्ष और (२) अभिव्यक्ति पक्ष। हर साहित्यकार अपनी अनुभूतियों को विधायक कल्पना के द्वारा किसी साहित्य-रूप में अभिव्यक्त करता है। इससे प्रकट होता है कि अभिव्यक्ति रूपायन की क्रिया है। इसमें चुनाव, इच्छाशक्ति और आवश्यकता का पुट रहता है, इसीलिये यह जब भी शब्द और अर्थ के कलेवर से बँधती है तो उपर्युक्त आवश्यकताओं अथवा निर्देशनों के कारण सायास या अनायास ढंग से किसी रूप का परिचायक सिद्ध होती है। निराकार से साकार, अमूर्त से मूर्त अथवा सूक्ष्म से स्थूल तक का यह प्रत्यागमन कला-सृजन का मेरुदण्ड है। व्यक्ति की यह विशेषता है कि वह केवल निराकार से संतुष्ट नहीं होता, कम से कम लौकिक जीवन में यह निराकार उसके किसी काम का नहीं सिद्ध होता। वह अपना विकास चाहता है और इसी से प्रेरित होकर वह रूप

अथवा प्रतिरूप का निर्माण करता है। साहित्य के सन्दर्भ में यह बात आत्माभिव्यक्ति द्वारा पूरी की जाती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि आरंभ में व्यक्ति ने अपने मनोभाव को सांकेतिक चिह्नों के द्वारा प्रकट किया था। बाद में इन्हीं सांकेतिक चिह्नों से भाषा का उद्‌भव हुआ। भाषा के विकास के साथ अभिव्यक्ति का माध्यम भी विकसित होने लगा और विषयवस्तु को निश्चित विषय-विन्यास देने का प्रयत्न भी हुआ। इसके परिणामस्वरूप विविध साहित्य-रूप हमारे सामने आये। रूप, विधा, या विन्यास एक आकार का परिचायक है जो निश्चित भावसंवेग या भावानुभूति को दृश्य स्वरूपों या उपादानों के माध्यम से सुनियोजित रूप में अभिव्यक्त करने पर हमें मिलता है। आरंभ में अभिव्यंग्य अमहत्त्वपूर्ण हो सकता है, पर प्रेरणा और कल्पना का संयोग होने पर उसमें आन्तरिक दृष्टि से एक स्पन्दन होता है और वह गतिशील होकर हमारी इच्छा के अनुरूप रूपायित हो उठता है। इस रूपायन की निजी विशेषता होती है। वह दृश्य तो होता है, पर उसमें अपने अन्तर्निहित सत्य के साथ ही कुछ और भी व्यंजित करने की क्षमता होती है। इस प्रकार साहित्य-रूप किसी आकार का परिचायक ही नहीं होता, अपितु विविधता के सामंजस्य तथा सौन्दर्य और समन्वय-गर्भित एकता का भी परिचायक होता है। बाहरी दुनियाँ में हमें अव्यवस्था और विशृंखला दिखाई देती है। पर, साहित्यकार इसे कुछ व्यवस्थित रूप में प्रकट करता है। इसमें काल्पनिक अवधान की क्रिया का निश्चित संस्पर्श पाया जाता है। रूप का भावात्मक आविर्भाव तो उसी समय हो जाता है जब कलाकार जीवन को देखता और एकता और सामंजस्य में उसे बाँधने की कोशिश करता है, पर इसका कलात्मक आविर्भाव उस समय होता है जब कलाकार संवेग और विचार तथा मनःसृष्टि और तकनीक के सहयोग से उस एकता और सामंजस्य को निश्चित रूप देकर सर्वसुलभ बना देता है।

साहित्य-रूपों के विकास का निश्चित इतिहास है। उसे देखने से पता चलता है कि आरंभ में अनगढ़ गेय पदों की रचना हुई थी। कवि जीवन की नीरसता से मुक्त होने के लिये अचानक कुछ गुनगुना उठा था। उसकी गुनगुनाहट ही कविता बन गई थी। विकास के साथ यह स्थिति बदली और भाषा तथा भाव के अनन्त कोण किसी न किसी साहित्य-रूप से बँध कर सामने आये। देव-परिकल्पना आदि संस्कृति की प्रमुख विशेषता होती है। इस काल में हर संस्कृति में उनके लिये स्तुतियों का विधान पाया जाता है। वीराख्यानक युग तक इनके अतिरिक्त कुछ अन्य काव्य रूपों का उद्‌भव हो गया रहता है, क्योंकि उसके आरंभ होते ही महाकाव्य-काल (epic age) का सूत्रपात हो जाता है। महाकाव्यकार युग की ज्वलन्त समस्या को इस रूप में भाषाबद्ध करता है जिससे उसके अन्तराल में चलने वाली विशेषता स्पष्ट हो उठे। महाकवि का दृष्टिकोण व्यापक होता है और वह अपने अन्तर्परीक्षण में उलझे बिना जीवन का एक चित्र प्रस्तुत करता है जिससे यह ध्वनि निकलती है,

"न तो जीवन को अधिक प्यार करो और न घृणा करो, इसे अच्छी तरह जीना सीखो।" महाकाव्य के पहले ही नाटक के सृजन के बीज भी बो दिये जाते हैं, जो बाद में विकसित होते हैं। दुःखान्त नाटक यथार्थ के सकारात्मक तथ्यों पर प्रकाश डालता है, पर सुखान्त नाटक उसकी अपूर्णता पर; पर इसके द्वारा वे दोनों ही रूप किसी न किसी 'लॉजिकल औॅर्डर' को स्थापित करते हैं। महाकाव्य में जीवन के प्रति स्वीकृति का भाव पाया जाता है, पर नाटक में अस्वीकृति का। गेय कविता किसी क्षणिक आनंद अथवा उद्वेलन की अभिव्यक्ति होती है। विज्ञान का विकास मनुष्य के भावात्मक क्षेत्र को ठूंठ और अनुर्वर बना देता है। इस युग में पद्य के स्थान पर गद्य की संभावनायें बढ़ जाती हैं और उपन्यास अथवा कहानी आदि के सृजन की ओर लोगों की दृष्टि जाती है। किसी भी युग में हमें अनेक साहित्य-रूपों का दर्शन होता है, या हो सकता है, पर प्रमुखता किसी एक की होती है।

साहित्य-विधा के इस उपर्युक्त स्वरूप पर एक और दृष्टि से विचार किया जा सकता है। प्रायः यह देखने में आता है कि साहित्य और समाज का संबंध भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। इसीलिये समाज की निश्चित दशा में साहित्य-रूप के भी निश्चित स्वरूप का दर्शन होता है। हर देश के साहित्य में पहले हमें वीराख्यानक गेय पद, महाकाव्य, खण्डकाव्य अथवा नाटक का दर्शन होता है। इसे दूसरे शब्दो में अगर हम प्रकट करना चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि हर देश का आदिकालीन साहित्य स्वच्छन्दतावादी साहित्य रहा है। ग्रियर्सन ने बहुत पहले एक महत्त्वपूर्ण बात कही थी। उनकी धारणा थी कि स्वच्छन्दतावादी और परपरादर्शवादी कला का स्वरूप हृत्स्फुरण और हृत्संकोच का मुखापेक्षी होता है। पहली स्थिति में परंपराओं का अभाव होता है; व्यक्ति जो कुछ भी लिखता है, वह उसकी उन्मुक्त चेतना का प्रतिफलन होता है। पर, दूसरी स्थिति में यही सहज उच्छलन परंपरा में बँध जाता है। आदिकालीन साहित्य में मनोरंजन, युयुत्सा, प्रेम, शृङ्गार आदि के साथ ही चेतना की सहजानुभूति का स्वर मुखर होता है। इसीलिये उसमे हमें अगर एक ओर ताण्डव का दर्शन मिलता है तो दूसरी ओर लास्य का। इस काल के जीवन में आस्तिकता, आस्था और विश्वास की प्रमुखता होती है। इसीलिये साहित्य में भी सहज आस्था की बनावट और बुनावट खचित होती है। विज्ञान के विकास से इस उपर्युक्त सत्य का स्वरूप बुरी तरह प्रभावित होता है। इसके कारण हृदय के स्वाभाविक स्पन्दन के स्थान पर बुद्धि—कर्कश तर्क-पद्धति—प्रमुख हो जाती है। हृदय भावात्मक सहजानुभूति का केन्द्र होता है और बुद्धि खण्डन-मण्डन और तर्क का। प्रथम आदर्शवादी हाता है, पर द्वितीय यथार्थवादी। यथार्थ के आगमन के साथ ही आदर्श—आस्था-विश्वास—का युग वदल जाता है और पद्य के स्थान पर गद्य की प्रधानता हो जाती है और गद्य से संबंधित साहित्य-रूप रचे जाते हैं। परिवर्तन का यह चक्र चलता रहता है और इसी के साथ साहित्य-रूप भी बनते-बिगड़ते रहते हैं।

'हड्सन' महोदय ने वर्गीकरण पर विचार करते हुए चार प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है, (१) आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति, (२) व्यक्ति और उसके कार्य-व्यापार में रुचि लेने की प्रवृत्ति, (३) यथार्थ संसृति और कल्पना-प्रधान सृजन की प्रवृत्ति, और (४) विन्यास या रूप की प्रवृत्ति। हर प्रकार के साहित्य के लिये रूप आवश्यक है। अब रही उपर्युक्त तीन प्रवृत्तियों की बात। कहना न होगा कि हम जिस बात का अनुभव करते हैं, उसे दूसरे तक प्रेषित करने के लिये आतुर हो उठते हैं। हम अपने चतुर्दिक् बिखरे उपादानों की व्यंजना और इतिहास से उपलब्ध तथ्यों को देखते और परखते हैं और उन्हें अपनी अनुभूति की संवित् के रूप में चित्रित करते हैं। इस चित्रण में व्यक्ति का आचार-व्यवहार, उसका अतीत, वर्तमान तथा भविष्य, उसकी इच्छा-अनिच्छा, रुचि-अरुचि, विशेष रूप से रूपायित होती हैं और उसकी संवेदना संश्लेषित होकर एक मूर्त स्वरूप में हमारे सामने प्रकट होती है। संश्लेषण की क्रिया के लिये कल्पना की अपेक्षा होती है। इन प्रवृत्तियों की कुछ विशेषतायें हैं, जो एक-दूसरी से अलग नहीं, अपितु जुड़ी होती हैं। इनमें एक अन्तःसंबंध होता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि किसी प्रवृत्ति-विशेष को लेकर लिखा गया साहित्य केवल उसी प्रवृत्ति को ही नहीं द्योतित करता है, अपितु कुछ अन्य विशेषताओं को भी चित्रित करता है। यही है साहित्य-रूप की कुछ विशेषताओं के उभय-निष्ठ होने का रहस्य। प्रवृत्तियों के साथ ही साहित्य के विषय की बात भी कुछ हद तक महत्त्वपूर्ण है। विषय विविध हैं और इन्हें किसी निश्चित खेमे में बाँटना कठिन है, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से इन्हें निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) कुछ विषय व्यक्ति की निजी अनुभूति से संबद्ध होते हैं। इन्हें लेखक अपनी अन्तर्दृष्टि और बोध के द्वारा समग्रता से प्रस्तुत करता है।

(२) कुछ जीवन की समस्याओं के शाश्वत पक्ष होते हैं जिनमें जीवन, मृत्यु, भाग्य, ईश्वर, अर्थ, जातिगत विशेषता, राष्ट्रीय भावना आदि प्रमुख हैं। ये विषय सार्वजनीन होते हैं और व्यक्ति की वैयक्तिक सीमा का अतिक्रमण करते हैं।

(३) कुछ विषयों का संबंध व्यक्ति के सामाजिक संबंधों, रीति-रिवाजों और संस्कारों से होता है। इनकी निजी विशेषता और समस्या होती है।

(४) विषय के मूल में व्यक्ति की बाह्य संसृति के संबंध का भी स्थान होता है। मनुष्य इन विषयों से संबद्ध अपने अनुभव को प्रकट करता रहता है। इस व्यंजना में प्रकारान्तर से उसका व्यक्तिगत जीवन ही नहीं आ जाता, अपितु उसका सामाजिक, आर्थिक और राष्ट्रीय जीवन भी आ जाता है। अब हम प्रवृत्तियों के आधार पर साहित्य-रूप पर विचार करते हैं। 'हड्सन' के विवेचन के सन्दर्भ में हमने आत्माभि-व्यक्ति का उल्लेख किया है। इस प्रकार के साहित्य में गीतिकाव्य, चिन्तन-प्रधान

साहित्य, निबंध तथा भाव-प्रधान आलोचना आती है। आत्माभिव्यक्ति आत्मगत दृष्टिकोण से संबद्ध होती है। इसके विपरीत, वस्तुगत दृष्टिकोण से लिखे गये साहित्य में इतिहास, जीवन-चरित, वीराख्यानक काव्य, महाकाव्य, उपन्यास, कहानी और नाटक आदि को परिगणित किया जाता है। वर्णन-प्रधान साहित्य को इनसे भिन्न कोटि में रखा जा सकता है। ज़ाहिरा तौर पर हर प्रकार के साहित्य का बोधपक्ष जीवन से संबद्ध होता है। भेद केवल उसको ग्रहण करने की पद्धति में होता है। कुछ साहित्यकार उसके निरूपण के समय थोड़ा तटस्थ रहते हैं और अन्य इसे आवश्यक नहीं समझते हैं। मेरी दृष्टि में अनुभूति की स्थिति में तटस्थता का कोई प्रश्न नहीं उठता। इसका प्रमुख कारण यह है कि इस दशा में लेखक दृश्य के साथ जब तक समरस संबंध नहीं स्थापित करता—द्रष्टा जब तक दृश्य के साथ एवंभूत संयोग नहीं स्थापित करता—तब तक उसकी अनुभूति खरी नहीं हो पाती। तटस्थता का प्रश्न तो विशेष रूप से अभिव्यक्ति के साथ संबद्ध होता है। इस पहलू से प्रश्न पर सोचने पर कुछ नयी बातें मिलती हैं।

'हडूसन' के पूर्व 'अरस्तू' ने भी वर्गीकरण की बात उठाई थी और इस सन्दर्भ में उन्होंने पाँच प्रमुख बातों को विवेच्य समझा था, (१) कवि का व्यक्तित्व, (२) विषय, (३) व्यक्तित्व और विषय का सम्मिलन, (४) अनुकरण की पद्धति और (५) माध्यम। उन्होंने व्यक्तित्व के आधार पर काव्य को वीरकाव्य और व्यंग्य-काव्य में विभाजित किया है और वीरकाव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, देवसूक्त और त्रासदी को परिगणित किया है। व्यंग्य-काव्य के अन्तर्गत कामदी और प्रहसन को लिया गया है। विषय की दृष्टि से काव्य के तीन उपविभाग किये गये हैं: (१) उदात्त काव्य, (२) यथार्थ काव्य और (३) क्षुद्र काव्य। उदात्त काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य और त्रासदी, यथार्थ के अन्तर्गत यथार्थ जीवन का निरूपण करने वाले काव्य और क्षुद्र काव्य के अन्तर्गत कामदी और प्रहसन को लिया गया है। मिश्र आधार के सन्दर्भ में रौद्रस्तोत्र का नाम लिया गया है और अनुकरण-रीति के अन्तर्गत समाख्यान और दृश्यकाव्य का। माध्यम की दृष्टि से इसको गद्य और पद्य में विभाजित किया गया है।

पाश्चात्य साहित्य में कल्पना को केन्द्र में रखकर साहित्य को दो रूपों में विभाजित किया गया है, (१) नाटकीय कल्पना-प्रसूत काव्य और (२) प्रगीत-कल्पना-प्रसूत काव्य। नाटकीय कल्पना विविध क्रिया कलाप-सक्षम, बहुसमावेशक, बहिर्मुख और आख्यान-आश्रित होती है। अतएव इस से प्राप्त होने वाले प्रबंधकाव्य, नाटक, उपन्यास आदि में उपर्युक्त विशेषतायें पाई जाती हैं। प्रगीत-कल्पना अन्तर्मुखी, स्वकेन्द्रित और आत्मनिष्ठ होती है और यह प्रमुख रूप में गीति, शोकगीति, निबंध आदि में देखने को मिलती है।

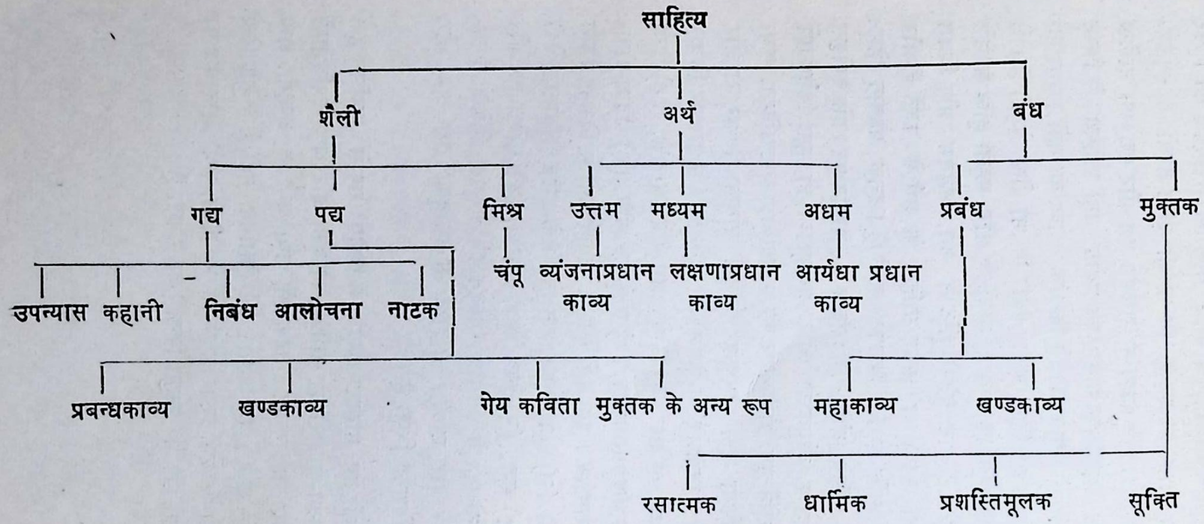
आज साहित्य को कला के अन्तर्गत विवेचित किया जाता है और इसे उसी का एक अंग भी माना जाता है। इसके विवेचन के समय हम विषय-वस्तु, भौतिक माध्यम, शिल्प तथा विषय-वस्तु और शिल्प के अन्त:संबंध पर विचार करते हैं। 'हीगेल' ने इसे सबसे पहले तर्कसंगत रूप में प्रस्तुत किया है। विषय-वस्तु की दृष्टि से उन्होंने कला को तीन उपविभागों में बाँटा है, (१) आत्मनिष्ठ, (२) वस्तुनिष्ठ और (३) परम। 'हीगेल' ने भौतिक माध्यम को भी दो प्रकार का माना है, (१) सूक्ष्म और (२) स्थूल। उनकी दृष्टि में वास्तुमूर्ति और चित्रकला स्थूल माध्यमाश्रित कलायें हैं और संगीत तथा काव्य सूक्ष्म माध्यमाश्रित। वस्तु और शिल्प के संबंध की दृष्टि से उन्होंने कलाओं को तीन प्रकार का माना है, (१) प्रतीकात्मक, (२) स्वच्छन्दतावादी और (३) परंपरादर्शवादी। इस वर्गीकरण के सन्दर्भ में यथास्थान उपयोगिता और लालित्य की बात भी उठाई गई है। प्रथम तीन कलाओं को उपयोगी और बाद की दो कलाओं को ललित कला की संज्ञा दी गई है। ऐसा ज्ञात होता है कि बाद की 'मकैनिकल और 'एस्थेटिकल' कला की मान्यता इसी से प्रभावित है। साहित्य के वर्गीकरण में यह विभाजन विशेष सहायक नहीं सिद्ध होता।

कल्पना की ही तरह प्रतिभा के विवेचन को भी वर्गीकरण में घसीटने का प्रयत्न किया गया है। कहना न होगा कि बहुत पहले 'एडिसन' ने 'आर्टफुल जीनियस' और 'नेचुरल जीनियस' तथा 'यंग' ने 'इन्फैन्टाइन जीनियस' और 'मेच्योर जीनियस' की बात उठाई थी। उनकी धारणा थी कि कलात्मक प्रतिभा-संपन्न कलाकार में वैचारिक दीप्ति, गहनता और कल्पना का वह अत्युच्च आदर्श नहीं पाया जाता जो सहज प्रतिभा-संपन्न कलाकार में विद्यमान रहता है। नैसर्गिक प्रतिभा-प्रसूत कला सहज और स्वत:प्रेरित होती है, पर कौशल-प्रसूत कला अर्जित और प्रयत्नपूर्ण। प्रथम प्रकृति की रंगस्थली में मुक्त रूप से उगने वाले पुष्प के सदृश है, जबकि द्वितीय गमले में प्रयत्नपूर्वक उगाये जाने वाले पुष्प के सदृश। यंग ने शैशवीय प्रतिभा और परिपक्व प्रतिभा के द्वारा प्रायः इसी बात का संकेत किया है। जिस प्रकार शिशु को लालन-पालन की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार अपरिपक्व प्रतिभा को भी संरक्षण की अपेक्षा होती है। परिपक्व प्रतिभा इससे भिन्न रूप में पूर्णविकसित और सहज हुआ करती है। संस्कृत काव्यशास्त्र में भी सहजा, आहार्या और औपदेशिकी प्रतिभा की बात मिलती है जो उपर्युक्त तथ्य का ही परिचायक है। कुछ अत्याधुनिक विचारकों ने इसी आधार पर सहज कला और अभ्यासार्जित कला का उल्लेख किया है। 'काका कालेलकर' ने अंग्रेजी के 'औब्जेक्टिव' और 'सब्जेक्टिव' के ही ढंग पर हिन्दी में भी परस्मैपदी और आत्मनेपदी शब्द का प्रयोग किया है और प्रथम को बहुजन-हिताय और द्वितीय को स्वांत:सुखाय की संज्ञा दी है।

संस्कृत साहित्य में भी साहित्य के वर्गीकरण का प्रयत्न किया गया है। 'भामह' पहले आचार्य हैं जिन्होंने सर्वप्रथम प्रतिपाद्य वस्तु और बंध की बात उठाई है।

प्रतिपाद्य वस्तु के अन्तर्गत कल्पित और देशादि-निरूपक काव्य को लिया गया है और बंध के अन्तर्गत आनिबद्ध, कथा-आख्यायिका, अभिनेय वस्तु और संर्गबंध को। पर इसमें कुछ त्रुटियाँ हैं। पहली बात तो यह है कि उनकी दृष्टि तत्त्वों के स्वरूप-निरूपण पर टिकी रह गई है और उन्होंने काव्य के माध्यम गद्य और पद्य का उल्लेख तक नहीं किया है। दूसरी बात यह है कि काव्य का प्रयोग यहाँ साहित्य से भिन्न अर्थसंगति में किया गया है। तीसरी बात यह है कि बंध काव्य का नहीं, कथा का परिचायक होता है। 'भामह' की यह चिन्ताधारा दण्डी में भी दीख पड़ती है। वे असल में छन्द और बंध को वर्गीकरण का आधार बनाते हैं और पहली दृष्टि से उसे गद्य और पद्य में विभाजित करते हैं और दूसरी दृष्टि से सम, अर्द्धसम और विषम में। रुद्रट पहले विचारक हैं जो काव्य का प्रयोग साहित्य के अर्थ में करते हैं और इसे काव्य, कथा, आख्यायिका आदि रूपों में विभक्त करते हैं। इनके पश्चात् 'हेमचन्द्र' ने विभावन करने वाली इन्द्रिय, बंध तथा संख्या के आधार पर इसे वर्गीकृत किया है। इस वर्गीकरण के द्वारा दृश्यकाव्य और प्रबंधकाव्य की कुछ विशेषतायें उभड़ कर सामने आई हैं। उन्होंने पुनः श्रव्यकाव्य को महाकाव्य, आख्यायिका, कथा और चंपू आदि में विभक्त किया है। 'हेमचन्द्र' की इस मान्यता में परंपरा और मौलिकता का पुट मिलता है। 'राजशेखर' ने केवल अर्थ की दृष्टि से इस पर विचार किया है। उनकी दृष्टि में काव्य में सात प्रकार के अर्थ पाये जाते हैं, (१) दिव्य (२) दिव्य मानुष, (३) मानुष, (४) पातालीय, (५) मर्त्य-पातालीय, (६) दिव्य-पातालीय और (७) दिव्य-मर्त्य-पातालीय। इन अर्थों को दो उपविभागों में विभक्त किया गया है, (१) मुक्तकगत और (२) प्रबंधगत। इन दोनों के पाँच अवान्तर भेदों का उल्लेख भी मिलता है, (१) शुद्ध, (२) चित्र, (३) कथोत्थ, (४) संविधानक और (५) आख्यानक। परवर्ती आलोचकों में आचार्य 'विश्वनाथ' का मत विशेष महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने ऐन्द्रिय आधार और माध्यम की दृष्टि से इसे दृश्य तथा श्रव्य और गद्य तथा पद्य उपविभागों में विभक्त किया है।

आचार्य 'विश्वनाथ' की यह मान्यता हिन्दी में विशेष रूप से प्रचलित है। हिन्दी के समीक्षकों ने भी इन्द्रिय-आधारों पर साहित्य को दृश्य और श्रव्य उपविभागों में विभक्त किया है और दृश्य के अन्तर्गत नाटक को तथा श्रव्य के अन्तर्गत अन्य साहित्य-रूपों को परिगणित किया है। यह आधार पूर्ण वैज्ञानिक नहीं है। कुछ अन्य आधुनिक विचारकों ने साहित्य के वर्गीकरण के सन्दर्भ में शैली, अर्थ और बंध का उल्लेख किया है जिसे अग्रांकित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :


साहित्य
शैली
अर्थ
बंध
गद्य
पद्य
मिश्र
उत्तम
मध्यम
अधम
प्रबंध
मुक्तक
उपन्यास
कहानी
निबंध
आलोचना
नाटक
चंपू
व्यंजनाप्रधान काव्य
लक्षणाप्रधान काव्य
आर्यधा प्रधान काव्य
प्रबन्धकाव्य
खण्डकाव्य
गेय कविता
मुक्तक के अन्य रूप
महाकाव्य
खण्डकाव्य
रसात्मक
धार्मिक
प्रशस्तिमूलक
सूक्ति

यह वर्गीकरण प्रमुख रूप से अभिव्यक्ति-प्रणाली और अभिव्यक्त स्वरूप के साथ ही विषय-वस्तु और विषय-विन्यास दोनों पर प्रकाश डालता है। इसके द्वारा उपलब्ध निष्कर्ष निरापद न होते हुए भी आंशिक रूप से ग्राह्य हो सकते हैं।

कला की ही तरह साहित्य के हर रूप में भी कुछ बातें उभयनिष्ठ होती हैं।[1] अतः किसी भी वर्गीकरण को सार्वभौम मानदण्ड नहीं माना जा सकता। वैज्ञानिकता की दृष्टि से भी इस पर तरह-तरह के आक्षेप किये जा सकते हैं। यह सत्य है कि सभी साहित्य-रूप किसी न किसी रूप में जीवन की संवेदना को ही उद्भासित करने का कार्य संपादित करते हैं। अतएव अगर संवेदना एक है तो उसे विविध नामों से अभिहित करने की क्या जरूरत? बात ठीक भी है, पर यह प्रश्न उठना ज़रूरी है कि क्या यह व्यावहारिक भी है? द्रष्टव्य यह है कि हर ठीक बात व्यावहारिक नहीं होती। इसीलिये तो श्रुति को व्यवस्था देनी पड़ी है कि सत्य बोलिये, प्रिय बोलिये, अप्रिय सत्य मत बोलिये। ऐसी स्थिति में हमें किसी ऐसे मध्यस्थ बिन्दु की खोज करनी पड़ेगी जो हमारे लिये सत्य और व्यावहारिक दोनों है। मेरी दृष्टि में वह बिन्दु नामकरण का ही बिन्दु है। हम प्रायः यह देखते हैं कि एक बाप के एकसमान बच्चों को भी हमें भिन्न नाम देने की ज़रूरत होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि नाम रूप का परिचायक होता है, आत्मा का नहीं। अगर साहित्य की एक ही अनुभूति भिन्न-भिन्न साँचों में ढलकर भिन्न रूप में हमारे सामने अभिव्यक्त होती है तो उसे भी समझने और समझाने की दृष्टि से नाम की आवश्यकता होगी। तो फिर नानारूपात्मक जगत् में इस रूप को लेकर विवाद करना शत-प्रतिशत अनुचित है।

---

1. "Literary Compositions" as Lord Kames said, "run into each other, precisely like colours, in their strong tints, they are easily distinguished, but are susceptible to so much variety, and so much different forms, that we can never say where one specie ends and another begins.

W. Macneile Dixon, *Eng. Epic and Heroic Poetry, p. 18*

२ | काव्य

प्रबंधकाव्य

प्रबंधकाव्य का प्रयोग ऐसे साहित्य-रूप के लिये किया जाता है जिसकी परिधि में प्रायः सभी काव्य-रूप आ जाते हैं। इसमें निश्चित इतिवृत्त रहता है जो विधायक कल्पना से संश्लेषित होता है। प्रबंधकाव्य के पदों को अगर हम अलग-अलग करके देखें तो इसमें निबंध काव्य की सभी विशेषतायें मिल जाती हैं। संस्कृत आचार्य प्रायः इस मत के थे कि मुक्तक की रचना में पटुता प्राप्त करने के बाद ही महाकवि को प्रबंध-लेखन की ओर उन्मुख होना चाहिए। इस उपर्युक्त तथ्य को माला के मौर अथवा अग्नि-स्फुल्लिग के सादृश्य द्वारा समझाया गया है। जिस प्रकार माला को गूँथने के बाद उसमें मौर लगाना अधिक उपयुक्त होता है, उसी प्रकार मुक्तक-रूपी माला को गूँथने में कुशल हो जाने के बाद प्रबंधकाव्य-रूपी पुष्प के गुच्छे को—मुकुट को—लगाना अधिक समीचीन है। अग्नि-स्फुल्लिग का उदाहरण भी साभिप्राय ग्रहण किया गया है। जिस प्रकार अग्नि से बिखरे स्फुल्लिग क्षणिक दीप्ति फैलाने के बाद बुझकर निष्प्रभ हो जाते हैं, उसी प्रकार पूर्वा-पर-संबंध-निरपेक्ष काव्य भी क्षणिक दीप्ति बिखेरने के बाद प्रभावहीन हो जाता है। उपर्युक्त बातों से दो तरह के सत्य हमारे सामने आते हैं। पहला यह कि प्रबंधकाव्य साहित्य का सिरमौर है, मुकुट है। दूसरा यह कि वह अधिक स्थायी प्रभाव का जनक है। आप पूछ सकते हैं—क्या यह निष्कर्ष सत्य है? मैं कह सकता हूँ हाँ, सोलहो आने सही है। पर इस प्रश्नोत्तर से प्रबंधकाव्य के विषय में एक स्वीकारात्मक अनुमोदन तो सामने आ जाता है, पर उसकी किसी विशेषता पर प्रकाश नहीं पड़ता। दरअसल प्रबंधकाव्य ऐसा काव्य-रूप है जिसके लेखक में अद्भुत जीवन-बोध, कला-साधना, तकनीकी ज्ञान और प्रबंध-पटुता का मणिकांचन-योग पाया जाता है। उसके संपूर्ण जीवन की अन्तर्दृष्टि, अन्वीक्षण-क्षमता, पाण्डित्य और तपःपूत साधना इसके द्वारा मूर्तिमान् हो उठती है। महाकवि की वैयक्तिक चेतना, आदर्श अथवा यथार्थवादी दृष्टि और समाज के अन्तराल में चलने वाले भावकोणों के अनन्त स्वरूप अपनी

संपूर्ण विशेषता में स्वयं रूपायित हो उठते हैं। इसी को ध्यान में रखकर आचार्य शुक्ल ने कहा भी था, "मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिससे हृदय की कलिका थोड़ी देर के लिये खिल उठती है। यदि प्रबंधकाव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से यह सभा-समाज के लिये अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन पर उसके किसी पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि एक रमणीय खण्ड दृश्य इस प्रकार ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ समय के लिये मंत्रमुग्ध हो जाता है। स्पष्ट है कि प्रबंधकाव्य की अपनी निजी विशेषता है जो अन्य काव्य-रूपों में नहीं पाई जाती। इसके अन्तर्गत हम महाकाव्य, खण्डकाव्य और एकार्थ काव्य को परिगणित करते हैं।

महाकाव्य

पौरस्त्य मान्यता

महाकाव्य, रुचि और परिस्थिति के अनुसार, हर देश और काल में लिखे गये हैं और इनकी एक निश्चित मान्यता भी स्थापित हो चुकी है। संस्कृत काव्यशास्त्र इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। आचार्यों का मत है कि इस से संबंधित मान्यताओं का प्रथम निरूपण 'अग्निपुराण' में मिलता है। उस पर विचार करने से कुछ निम्नांकित सत्य हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं —

(१) यह सर्गों में विभक्त होता है। (२) यह प्रमुख रूप से संस्कृत भाषा से आरंभ होता है, पर आवश्यकतानुसार किसी अन्य भाषा से भी शुरू किया जा सकता है। (३) इसमें ऐतिहासिक या लोक-प्रचलित आख्यान को निरूपित किया जाता है। (४) युद्ध और मंत्रणा आदि का यथास्थान उल्लेख मिलता है। (५) महाकाव्य में सुन्दर छन्दों का प्रयोग किया जाता है। सर्ग के अन्त में पहले से चल रहे छन्द को बदल दिया जाता है। (६) इसका कथानक अधिक से अधिक वृत्तियों और भावावस्थाओं से अलंकृत होता है, मूल संवेदना रसपूर्ण होती है और अभिव्यक्ति में तरह-तरह के अलंकारों का प्रयोग किया जाता है।

'भामह' की मान्यता 'अग्निपुराण' की मान्यता से मिलती है। उनके अनुसार महाकाव्य सर्गबद्ध होता है और उसमें उदात्त चरित्रों के निरूपण, अलंकृत भाषा, वर्णन-वैविध्य, नायक के अभ्युदय के निरूपण, संधियों तथा कार्यावस्थाओं के निर्वाह आदि का समुचित नियोजन होता है। महाकवि कथा के बाधक तथ्यों को सावधानी से छोड़ जाया करता है और चतुर्वर्ग-फल की प्राप्ति उसका प्रमुख उद्देश्य होता है।[1] 'दण्डी'[2]

---

१. काव्यालंकार—१/१९-२३
२. काव्यादर्श—१/१४-२०

ने सर्गबद्धता के साथ ही उसके आवश्यक प्रसार का उल्लेख भी किया है। वे आरंभ में देवस्तुति, आशीवर्चन तथा कथानक का संकेत देने वाले सूत्रवाक्यों की उपस्थिति आवश्यक समझते हैं। कथानक भी या तो ऐतिहासिक होना चाहिए, या लोकवृत्तों और सद्प्रवृत्तियों पर आधारित। इसमें नाटक की सभी संधियों का विधान होना चाहिए और भिन्न-भिन्न सर्गों में भिन्न-भिन्न वृत्तियों का प्रयोग किया जाना चाहिए। महाकवि को अलंकार, रस और भाव के निरूपण की दृष्टि से पर्याप्त सतर्कता बरतनी चाहिए। नायक के अभ्युदय के साथ ही चतुर्वर्ग-फल की प्राप्ति का विधान पाया जाना चाहिए और इसे वर्णन-वैविध्य के चित्रण पर बल देना चाहिए। 'दण्डी' की इस मान्यता की कुछ विशेषतायें हैं। उन्होंने 'अग्निपुराण' और 'भामह' की मान्यता को आगे बढ़ाया है। सर्गों के विस्तार तथा कथानक के संकेत-सूत्रों का उल्लेख उनकी सृजन-संबंधी व्यावहारिक दृष्टि का परिचायक है। भिन्न सर्गों में भिन्न वृत्तियों के उल्लेख से भी यही बात सिद्ध होती है।

'दण्डी' के बाद आने वाले आचार्यों में रुद्रट[1] का स्थान भी विशेष रूप से ध्यातव्य है। इनके समय तक संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के विकसनशील महाकाव्यों की समृद्ध परंपरा का आविर्भाव हो चुका था। अतएव इनके समक्ष ऐसा आदर्श उपस्थित था जिसके द्वारा सैद्धान्तिक चिन्तन को एक नयी दिशा दी जा सकती थी। 'रुद्रट' तत्त्वाभिनिवेशी प्रतिभा के विचारक थे। उन्होंने अपनी दृष्टि से भूत और वर्तमान की काव्यशास्त्रीय परंपरा का आलोड़न भी किया था। इसीलिये वे मौलिक तरीके से कुछ सोच और कह सके थे। उन्होंने पहली बार महाकाव्य के सन्दर्भ में उत्पाद्य, अनुत्पाद्य तथा महत् और लघु कथाओं के साथ ही अवान्तर कथाओं का उल्लेख किया, सर्गबद्धता के साथ नाटकीय तत्त्वों पर विचार करते हुए प्रमुख घटना के परिप्रेक्ष्य में देशकाल के व्यापक चित्रण पर बल दिया तथा नायक को महावीर, दिग्विजयी, सर्वशक्ति-संपन्न, नीति-निपुण, सुयोग्य और सम्राट् आदि गुणों से विभूषित माना। प्रतिनायक के गुणों का भी उल्लेख किया गया। चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति और रस को इस का उपजीव्य बताया गया। दिव्य और अतिमानवीय चरित्रों को भी विश्वसनीय ढंग से चित्रित करने पर बल दिया गया। तात्पर्य यह है कि 'दण्डी' ने अपने पूर्ववर्ती विचारकों की तुलना में अधिक उदार तथ्याभिनिवेशी और परंपरामुक्त दृष्टिकोण का परिचय दिया।

'रुद्रट' के बाद के विचारकों में आचार्य 'विश्वनाथ' ने इस चिन्ताधारा को समृद्ध करने में अप्रतिम योगदान दिया। इनकी परिभाषा मौलिक नहीं है, पर उसमें पूर्ववर्ती विचारकों के सभी सूत्र उपस्थित हैं। उनकी दृष्टि में नायक को सुर, क्षत्रिय-

---

१. रुद्रट—काव्यालंकार १६/२-१६

वंशोत्पन्न, संवेदनशील और धीरोदात्त होना चाहिए। कथानक में सर्गबद्धता पाई जानी चाहिए और संपूर्ण महाकाव्य में शृंगार, वीर अथवा शांत में से कोई एक रस होना चाहिए। कथा को संधिपूर्ण और ऐतिहासिक होना चाहिए। आरंभ में मंगलाचरण, ईशवन्दना, आशीर्वचन, कथा के भावी सूत्रों का निर्देश तथा सज्जनों की प्रशंसा और असज्जनों की निन्दा का विधान पाया जाना चाहिए। कथा के प्रवाह को बनाये रखने के लिये छन्द की एकरूपता अपनायी जानी चाहिए और हर सर्ग के अन्त में पहले प्रयोग में लाये गये छन्द को बदल देना चाहिए। संपूर्ण महाकाव्य में औसत लंबाई के आठ सर्ग होने चाहिये और सर्ग के अन्त में आने वाली कथा का पहले ही संकेत दे दिया जाना चाहिए। वर्णन-विविधता इसका प्रमुख उपजीव्य होना चाहिए और महाकाव्य के नामकरण में सावधानी बरतनी चाहिए।

ऊपर के विवेचन के आधार पर हम महाकाव्य की अधोलिखित विशेषतायें निर्धारित कर सकते हैं—

(१) महाकाव्य को सर्गबद्ध होना चाहिए।[1] इसमें औसत लंबाई के आठ सर्ग होने चाहिये।

(२) इसका नायक देवता या धीरोदात्त और सद्वंश में उत्पन्न क्षत्रिय होता है। कभी-कभी इसमें एक से अधिक नायक होते हैं, पर उन सब का एक ही वंश में उत्पन्न होना आवश्यक है।[2]

(३) इसमें शृंगार, वीर और शान्त में से कोई एक अंगी रस तथा उसके उपस्कारक अन्य रस विद्यमान रहते हैं।[3]

---

१. अ—सर्गबंधो महाकाव्यं महतांच महच्चयत्। भामह
ब—सर्गबंधो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्। दण्डी
स—सर्गविधानि चास्मिन्नवात् प्रकरणानि कुर्वीत। रुद्रट
द—सर्गबन्धो महाकाव्यो तत्रेको नायकः सुरः। विश्वनाथ

२. अ—युक्तं लोक स्वभावेन वंशवीर्य श्रुतादिभिः। भामह
ब—चतुरोदात्त नायकम्। दण्डी
स—तत्रत्रिवर्ग सक्तं समृद्धशक्ति त्रयं च च सर्वगुणम्।
रक्त समस्त प्रकृतिं विजिगीषुं नायकं न्यस्येत। रुद्रट
द—सर्गबन्धो महाकाव्यो तत्रेको नायकः सुरः।
सद्वंश क्षत्रियोवापि धीरोदात्त गुणान्वियः। विश्वनाथ

३. अ—रसभाव निरन्तरम्। दण्डी
ब—सर्वे रसाः क्रियन्ते। रुद्रट
स—शृंगारवीर शान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटक संधयः। विश्वनाथ

(४) इसमें नाटक की संधियों का विधान पाया जाता है।[1] 'भामह' ने इसे पंचसंधियुक्त, 'दन्डी' ने श्रव्यवृत्तियों और सुन्दर संधियों से संश्लिष्ट, 'रुद्रट' ने संधियों के अतिरिक्त अन्य संबंधों से अलंकृत और 'विश्वनाथ' ने नाटक की सभी संधियों के विधान से पूर्ण बतलाया है।

(५) संस्कृत काव्यशास्त्र में महाकाव्य की कथावस्तु के विषय में भी निश्चित मत मिलता है। 'भामह'[2] ने कथा के बाधक तत्त्वों के त्याग की बात कही है और वृत्त को देवादि-चरित्र[3] पर आधारित और उत्पाद्य होना आवश्यक समझा है। 'दण्डी' ने कथा को इतिहासोद्‌भूत लोकवृत्ताश्रित और सद्‌वृत्ताश्रित माना है।[4] 'रुद्रट' ने इस सन्दर्भ में उत्पाद्य, अनुत्पाद्य, महत् तथा लघु कथा के साथ अवांतर कथाओं को भी उल्लेख्य समझा है।[5] यह सभी बातें 'विश्वनाथ' की परिभाषा में समग्र रूप से ग्रहण की गई हैं।[6]

(६) महाकाव्य के प्रयोजन की बात भी उठाई गई है। इस दृष्टि से प्राय: सभी विचारक एकमत हैं। उन्होंने एक स्वर से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को इसका प्रमुख साध्य घोषित किया है। बाद में आचार्य 'विश्वनाथ' ने किसी एक फल की प्राप्ति की बात उठाई है,[7] पर 'भामह' ने चतुर्वर्ग की प्राप्ति के साथ ही उपदेश की बात को भी रेखांकित किया है।[8] 'दण्डी' ने तो केवल 'चतुर्वर्गफलायत्तं' अथवा 'चतुर्वर्ग:' का उल्लेख करके संतोष कर लिया है।

(७) महाकाव्य के आरंभ के विषय में भी सभी विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। 'दण्डी' ने आरंभ में ही आशीर्वचन, देवस्तुति तथा कथानक का

---

१. अ—पंचभिः सन्धिभियुक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत्। भामह
   ब—श्राव्यवृत्तौ सुसंधिभिः। दण्डी
   स—संधीनपि संश्लिषंस्तेषाम् अन्योन्य संबंधात्। रुद्रट
   द—सर्वे नाटक संधयः। विश्वनाथ
२. यदि काव्य शरीरस्यं न स व्यापितयेष्यते।
   न चाभ्युंदयभक्तिस्त्य मुधदौ ग्रहणास्तवौ। भामह
३. वृत्तदेवादिचरितंशासि। वही
४. इतिहास कथोद्‌भूत......जायते सद्‌लंकृतम्। दण्डी
५. उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेन भूयोऽपि।
   तत्रोत्पाद्या येषां शरीरमुत्पादयेत्कविः संकलम्। रुद्रट
६. इतिहासोद्‌भवंवृत्तमन्याद्वा सज्जनाश्रयम्। विश्वनाथ
७. चत्वारस्तस्यवर्गा: स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्। विश्वनाथ
८. चतुर्वर्गाभिधानोपि भूयसार्थोपदेशकृत। भामह

संकेत देने वाले सूत्रों की अवतारण को आवश्यक माना है।[1] आचार्य 'विश्वनाथ' ने 'दण्डी' की इस मान्यता में खलनिन्दा और सज्जन की स्तुति को जोड़ दिया है।[2]

(८) महाकाव्य में छन्द-विधान भी महत्त्वपूर्ण होता है ।'भामह' ने अग्राम्य शब्द और अर्थ से पूर्ण अलंकारयुक्त भाषा को ग्राह्य माना है।[3] 'दण्डी' भी इसी मत के हैं। 'हेमचन्द्र सूरि'[4] ने महाकाव्य को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश या प्रचलित भाषाओं में लिखा जाना आवश्यक समझा है। वे शब्द-वैचित्र्य, अर्थवैचित्र्य और उभय-वैचित्र्य के समर्थक हैं। अधिकांश विचारक प्रायः इस मत के हैं कि महाकाव्य का एक सर्ग एक छन्द में लिखा जाना चाहिए और अन्त में इनके वृत्त को बदल देना चाहिए। यथास्थान इस नियम में छूट भी दी गई है। किसी एक सर्ग में एकाधिक छन्दों का प्रयोग किया जा सकता है, पर इससे रस की धारा बनी रहनी चाहिए। अगर किसी भी रूप में एकाधिक छन्दों के प्रयोग से इसमें बाधा उत्पन्न होती हो तो उससे बचना आवश्यक है।

९. इसमें दिव्य और अतिमानवीय स्वरूपों का प्रयोग इस रूप में होना चाहिए कि वे स्वाभाविक और विश्वसनीय ज्ञात हों। 'भामह' ने इसीलिये 'युक्त लोक स्वभावेन' की बात द्वारा प्रकारान्तर से इसका अनुमोदन भी किया है। महाकाव्य की प्रधान घटना में जीवन के व्यापक चित्रण, प्रकृति, देश-काल, नगर-युद्ध, दूत-प्रेषण, समुद्र, ऋतु, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उत्सव-वर्णन, उद्यान-विहार, जल-क्रीड़ा, मधुपान, कुमार-जन्म, विवाह, मिलन, मंत्रणा तथा नायक के अभ्युदय और निःश्रेयस् को स्थान मिलना चाहिए। इसमें विभाव, अनुभाव और संचारियों की उपयुक्त व्यंजना होनी चाहिए। शृंगार के संभोग और विप्रलंभ दोनों पक्षों का उचित निरूपण होना चाहिए।[5]

---

१. आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशोवापितन्मुखम् । दण्डी

२. आदौनमस्क्रियाशीर्वावस्तुनिर्देश एव वा ।
क्वाचिन्निन्दाखलादीनां सतांचगुण कीर्तनम् ।

३. अग्राम्यशब्दमर्थांच वालंकार सदाश्रयम् ।

४. पद्यं प्रायः संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश ग्राम्य भाषानिबद्ध भिन्नत्यवृत्त सर्गाश्वास सन्ध्यवस्कन्ध प्रबधं सत्सन्धि शब्दार्थ वैचित्र्योपेतम् महाकाव्यम्। काव्यानुशासन

५. अः नगरार्णव शैलस्तु चन्द्रार्कोदय वर्णनैः ।
उद्यानं सलिल क्रीड़ा मधुपान रतोत्सवैः ।।
विप्रलंभैर्विवाहश्च कुमारोदय वर्णनैः ।
यत्र दूत प्रयाणादि नायकाभ्युदयैरपि ।। दण्डी ।
(ब)...... रक्त समस्तप्रकृति विजिगीषुं नायकं न्यस्येत ।।
विधिवत् परिपालयतः सकलं राज्यं च राजवृत्तं च ।

पाश्चात्य विचारकों के मत

पाश्चात्य देशों में भी महाकाव्य-संबंधी विवेचन पहले ही शुरू हो गया था। 'अरस्तू' के विचारों में इसके सुव्यवस्थित सूत्र सब से पहले मिले थे। उन्होंने इस काव्य-विधा पर अलग से विचार नहीं किया है। उनके त्रासदी के विवेचन के सन्दर्भ में महाकाव्य की कुछ मूलभूत बातों का उल्लेख मिलता है। 'अरस्तू' ने आरंभ में ही त्रासदी और महाकाव्य के भेद-विभेद को निरूपित किया है। उनकी दृष्टि में ये दोनों विधायें भाषा के माध्यम से किसी महान् चरित्र या कार्य का अनुकरण करती हैं। इस दृष्टि से ये समान हैं। इसके अतिरिक्त अन्य सभी दृष्टियों से ये असमान हैं। महाकाव्य वर्णन-प्रधान होता है और इसमें किन्हीं एक-दो छन्दों का प्रयोग किया जाता है, पर त्रासदी में ये बातें नहीं पाई जातीं। इन दोनों में विस्तार की दृष्टि से भी भिन्नता होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि त्रासदी में अन्विति-त्रय का विधान पाया जाता है, पर महाकाव्य में नहीं। तात्त्विक विशेषता की दृष्टि से त्रासदी की कुछ बातें महाकाव्य में भी पाई जाती हैं, अतएव इसकी अच्छाई-बुराई को समझने वाला व्यक्ति महाकाव्य का भी सफल पारखी होता है। महाकाव्य का कथानक सुगठित होता है और इसमें आदि, मध्य और अन्त की व्यवस्था पाई जाती है। यह सावयव विकास का परिचायक होता है। महाकाव्य आनंद प्रदान करता है। इसका आख्यान ऐतिहासिक-पौराणिक होता है, पर संघटन इतिहास और पुराण दोनों से भिन्न। इसका प्रमुख कारण यह है कि महाकाव्य में जो कलात्मक अन्विति पाई जाती है, वह इतिहास या पुराण में नहीं पाई जाती। महाकाव्य के कथानक में अवान्तर कथा के रूप में समकालीन जीवन से संबंधित घटनाओं का समावेश भी किया जा सकता है और कार्य-व्यापार को वर्णनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। इस विशेषता के कारण वह युग-जीवन को पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है। इसमें नाटकीय तत्त्वों के साथ ही अतिप्राकृतिक और अलौकिक घटनाओं का समावेश भी होता है, पर महाकवि संभावना और विश्वसनीयता को दृष्टि से ओझल नहीं होने देता। भाषाशैली भी विषय के निर्वाह में पूर्ण समर्थ होती है।

'अरस्तू' ने त्रासदी पर विचार करते हुए महाकाव्य के संबंध में जो कुछ भी कहा है, वह प्रथम विवेचन होने के बावजूद कई दृष्टियों से पूर्ण है। इसे बारीकी से

तस्य कदाचिदपेतं शरदादि वर्णयेत समयम् ॥
स्वार्थं मित्रार्थं वा धर्मादिसाधयिष्यत स्तस्तस्य।
कुल्यादिष्वन्यतमं प्रतिपक्षं वर्णयेद्गुणिनम ॥
स्वचरात्तद्दूतात्वा कुलोपि वा वृण्वतोरिकार्याणि।
कुर्वीत सदसि राज्ञां क्षोभं क्रोधेद्धाचित गिराम् ॥
रजनींच तत्र यूनां समाज संगीत पान शृंगारान्। रुद्रट

समझने के लिये इस बात को मद्दे नजर रखना जरूरी है कि उनकी यह व्याख्या विकसनशील महाकाव्य को ध्यान में रख कर प्रस्तुत की गई है, अतएव इसे परवर्ती अलंकृत काव्यों पर सफलतापूर्वक लागू नहीं किया जा सकता। मध्यकाल में विकासशील महाकाव्य के साथ ही अलंकृत अथवा कलात्मक महाकाव्य का आविर्भाव भी हो चुका था, अतएव विचारकों की दृष्टि स्वाभाविक रूप से उधर भी गई थी। दोनों प्रकार के महाकाव्यों के अवलोकन से इस समय तक जो मान्यता विकसित हुई थी, उसे संक्षेप में अधोलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. महाकाव्य की कथा विस्तारपूर्ण और पद्यबद्ध होती है।

२. इसमें नायक के वीरतापूर्ण कार्य को चित्रित किया जाता है।

३. इसमें राष्ट्रीय और जातीय विशेषतायें पाई जाती हैं।

४. कथा में शौर्यपूर्ण, अलौकिक और उदात्त तत्त्वों का समावेश रहता है।

इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर 'जॉन ड्राइडेन' ने लिखा था, "महाकाव्य असल में ऐसा वीराख्यान है—ऐसी बहादुरी की दास्तान है—जिसे पूरा करने में मनुष्य की आत्मा भलीभाँति सफल होती है। यह अपने काल के लिये विशेष महत्त्वपूर्ण होता है, पर यह आंशिक रूप से देश-काल की सीमा को लाँघ भी जाता है। इसीलिये यह न केवल मानवता की भूत की अभिलाषा को अभिव्यक्त करने में समर्थ है, अपितु उसकी आधुनिक परिकल्पना को आन्दोलित करने में भी पूर्ण सक्षम है।"[1]

उसकी इस सफलता के कुछ कारण हैं। इसका नायक असल में बहादुर और हिम्मती होता है और वह अपना पूरा जीवन किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये समर्पित कर देता है। वीरता की यह खुली दास्तान प्राचीन और अर्वाचीन दोनों महाकाव्यों में पाई जाती है।

महाकाव्य में कला के तत्त्व को सफलता से सजाने की काफी गुंजाइश होती है। आरंभ के महाकाव्यों में भी यह विशेषता उपस्थित है। आज यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है कि पहले जब छापेखाने का आविष्कार नहीं हुआ था और लेखन की कला भी अपूर्ण थी तो महाकाव्य मौखिक रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला करते थे। इसके लिये सर्जक को सावधानी बरतनी पड़ती थी। उसे कथासूत्र को व्यंजनापूर्ण भाषा के माध्यम से पद्यबद्ध एवं लयात्मक रूप में सँवारना पड़ता था,

1. 'A heroic poem is undoubtedly the greatest work which the soul of man is capable to perform', epitomises the feeling of many ages other than his own, though it certainly had special significance for his own day. Epics have voiced aspirations and fascinated the imagination of primitive peoples and sophisticated scholars in several continents for nearly 3000 years.

चरित्रों को कलात्मक ढंग से सजाना पड़ता था और वर्णनात्मकता के निर्वाह के लिये भी तकनीकी एहतियात बरतना पड़ता था। तात्पर्य यह कि उसे उन सभी साधनों को अपनाना पड़ता था जिससे वह सरलता से याद किया जा सके। बाद में यह बात बदल गई और पुराने कौशल के स्थान पर नयी तकनीकी बारीकी अपनाई गई। अब इन नये महाकाव्यों में उपमा का प्रचुर प्रयोग किया गया और उसके द्वारा प्रत्यक्ष कार्य-व्यापार को कुछ समय के लिये निलंबित करके काव्य के भावात्मक पहलू को सशक्त बनाया गया। रचना में एक नयी शिल्प-विधि अपनाई गई और इसी के द्वारा महाकाव्योचित औदात्य और कार्य-व्यापार के कलात्मक सौष्ठव को उत्पन्न करने की कोशिश की गई। परवर्ती महाकाव्यों के आरंभिक स्वरूप से ही उसकी व्यापकता झलकने लगी। अब भी महाकवि अपने विषय और पात्रों को अतिरंजित स्वरूप में चित्रित करने का हिमायती था। इस अतिरंजना के जरिये वह ऐसे महत् उद्देश्य को प्रस्तुत करना चाहता था जो प्रेरणाप्रद और उत्साहवर्द्धक हो। ये अतिरंजित कथा-सूत्र अथवा पात्र भी रूपक के जरिये उपस्थित किये जाते थे। महाकवि सदैव हर तरह से किसी न किसी विशिष्ट मानव-अनुभूति के कथात्मक निरूपण का प्रयास करता था। इसके लिये एक ओर वह आकाश के फूल की कल्पना को सँजोता था तो दूसरी ओर उसकी दृष्टि धरती की धूल पर भी टिकी रहती थी। लोक से लेकर लोकोत्तर तक का यह कथासूत्र महत्तर उद्देश्य तथा उदात्त चरित्रों से अनुप्राणित होता रहता था। विधायक कल्पना महाकाव्य का प्राण होती है, यह तथ्य महाकवि को ज्ञात था। वह इसके उपयोग द्वारा अपने महाकाव्य के व्यापक चित्रफलक को विश्वसनीय ढंग से सजाता और सँवारता रहता था। महाकाव्य में अलौकिक और अतिरंजित स्वरूपों का चित्रण हुआ था, पर महाकवि उसे विश्वसनीय और प्रभावोत्पादक बनाने में कोई कोर-कसर न उठा रखता था।

बाद के समीक्षकों की मान्यताओं में इस ऊपरी सत्य को ग्रहण किया गया है। 'वाल्टेयर' ने इसीलिये महाकाव्य की घटना को ऐसी गरिमा से मण्डित घटना माना है जिस पर समाज की मुहर लगी हो, जो मान्यता प्राप्त हो। 'मि० डब्ल्यू० पी० केर' के शब्दों में महाकाव्य जटिल और बहुसमावेशक काव्य-विधा है। इसमें अन्य काव्य-विधाओं का समावेश और उचित प्रतिनिधित्व होता है।[1]

महाकाव्य विविध प्रकार के चरित्रों का भण्डार होता है। इसके सफलतापूर्ण चित्रण के लिये महाकवि कल्पना का उचित उपयोग करता है। इसी के द्वारा वह उन सूक्ष्म, व्यापक और सतरंगी मानस-स्थितियों को ग्रहण करता है जो महाकाव्य की व्यापकता के जनक हैं। महाकवि जीवन का चितेरा होता है और वह उसे समग्रता

---

1. The epic poetry is one of the comprehensive and complex kind of literature, in which most of the other kinds, may be included.

में ग्रहण भी करता है। वह इससे कुछ ऐसे जीवन-सत्यों को ग्रहण करता और उन्हें संश्लेषित करता है जो जीवन-कथा के परिचायक हों और साथ ही एक पूर्ण जीवन-चित्र भी प्रस्तुत करें। 'केर' महोदय ने भी इसी बात का अनुमोदन किया है कि महाकाव्य में युद्ध, संघर्ष, असुर-विनाश, पलायन तथा संरक्षण जैसे कुछ विषयों को ही चित्रित नहीं किया जाता, उसमें आम जनता में पाई जाने वाली वीरता की प्रशस्ति के लिये सहानुभूति भी पाई जाती है। प्रायः यह देखने में आता है कि जिस काल में महाकाव्य समृद्ध होता है, उस काल की जन-चेतना में मानस का महाकाव्यीय विस्तार तरंगायित होता रहता है और एक व्यापक विधायक कल्पना क्रियाशील रहती है जो ऐतिहासिक घटनाओं और परिस्थितियों को महाकाव्योचित औदात्य प्रदान करती रहती है। इस काल में सामान्य व्यक्ति जीवन पर वीरोचित ढंग से विचार करता है। इस उत्साह के भाव से महाकाव्य आरंभ होता है। इस काल के जीवन की रग-रग में उत्साह भरा होता है और यह दर्शक और पाठक को भी साहसी बना देता है।[1] 'प्रो० केर' की इस व्याख्या से कई महत्त्वपूर्ण सूत्र मिलते हैं, (१) महाकाव्य में प्रायः सभी साहित्य-रूप समा जाते हैं। (२) इसके चरित्रों के निरूपण से जीवन की विविधता के साथ ही समग्रता का बोध होता है। (३) इसमें कल्पना का विशेष सहयोग होता है। (४) इसमें जन-सामान्य में उपस्थित वीरता की भावना के प्रति सहानुभूति पाई जाती है। (५) महाकाव्य-काल में जन-चेतना में एक वीरोचित उत्साह पाया जाता है और (६) महाकाव्य इसी भावना से उत्पन्न भी होता है। 'सी० एम० बावरा' के शब्दों में, "महाकाव्य निर्विवाद रूप से भी विस्तारपूर्ण विवरणात्मक काव्य है जिसमें क्रियाशील जीवन से प्राप्त होने वाली घटनाओं को औदात्य-मण्डित रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यह मानव-जीवन की महत्तम उपलब्धि होने के कारण—

---

1. The epic literature implies too as Professor Ker tells us, "not merely certain favourite themes-combats, battles, killing of monsters escapes or defences—but a diffused sympathy for heroic mood among the people for whom the epic is made. We may suppose that when the epic poem flourishes, there is among the contemporary people who are not poetical, something like the epic frame of mind, a rudimentary heroic imagination, which already gives to mere historical events and situations a glimmering of their epic magnificence. The multitude is an heroic age, interprets life heroically, and it is this common vague sentiment of heroism, not any bare unaccommodable thing in itself, with which the epic poets make their beginning. Their real life is heroic, because it seems so both to them and their unpoetic fellows and hearers.

आस्था और विश्वास उत्पन्न करने के कारण—आनन्दप्रद होता है।[1] 'बावरा' ने महाकाव्य के सन्दर्भ में आस्था की बात उठाकर साहित्य की प्रमुख विशेषता का संकेत किया है।

'प्रो० डिक्सन' का महाकाव्य-संबंधी विवेचन और लोगों की तुलना में अधिक युक्तिपूर्ण और गंभीर है। उनकी धारणा है कि प्राचीन समूह-गीत स्त्री-सत्ताप्रधान था, पर महाकाव्य में पुरुष-सत्ता की प्रधानता हो गयी। महाकाव्य-युग, विकसित युग होता है जिसकी कला और सभ्यता समृद्ध होती है। इस युग के लोग कला के सच्चे पारखी होते हैं और वे आस्था और विश्वास के साथ सृजन का कार्य संपादित करते हैं। इसका उद्भव 'होमोजीनियस सोसाइटी' में होता है। महाकाव्य को ख्याति-प्राप्त व्यक्ति, राष्ट्रीयता, उसके प्रति प्रशंसा और आसक्ति के भाव और सामान्य जन-जीवन से अधिक व्यापक विषय की अपेक्षा होती है। राष्ट्रीय काव्य के लिये राष्ट्रीय चेतना आवश्यक होती है। यही चेतना राष्ट्र का निर्माण करती है, उसमें राजनीतिक एक-सूत्रता स्थापित करती है, काव्य को भी प्रेरणाप्रद पृष्ठभूमि प्रदान करती है। महा-कवि का नायक महत्तर उद्देश्य और कार्य को संपादित करता है। किसी भी उद्देश्य की सिद्धि के लिये अध्यवसाय, निष्ठा और संघर्ष की अपेक्षा होती है। उसकी प्राप्ति में लगे हुए व्यक्ति का उत्थान और पतन दोनों महत्त्वपूर्ण होता है। चूँकि महाकाव्य महान् व्यक्ति के जीवन के महान् संघर्ष को चित्रित करता है, अतएव यह आदर्शों का कुबेरालय होता है। इसके कथानक में अन्विति होती है और कार्य-व्यापार किसी महत् उद्देश्य के चारों ओर घूमता रहता है। सारांश यह कि महाकाव्य कविता का ऐसा रूप है जो सामाजिक विकास के निश्चित स्वरूप से प्रभावित होता है। इसके सृजन के मूल में निश्चित सामाजिक चेतना पाई जाती है। अगर यह विकास किसी कारण से कुछ शताब्दी पहले रुक गया होता, अथवा महाकाव्य के लिये उपयुक्त सामाजिक अवस्था न मिल पाई होती तो महाकाव्य का विकास भी अवरुद्ध हो गया होता।[2] महाकाव्य दो शब्दों के संयोग से बना है, (१) महा और (२) काव्य। महा-काव्य के 'महा' शब्द का अर्थ होता है, महान्—उत्कृष्ट, गरिमा-मण्डित। संभवतः

---

1. An Epic poem is by common consent a narrative of some length and deals with events which have a certain grandeur and importance and come from a life of action, specially a violent action such as war. It gives a special pleasure, because its events and persons enhance our belief in worth of human achievements and in originality of nobility of man.

2. Epic let us say is a type of poetry caught and fixed at a given stage, poetry which would not have been exactly as it is had the movement been stayed a generation or two earlier or a generation or two later.

इसीलिये इसे महाकाव्य कहा जाता है। इस पर कुछ लोग नाक-भौं सिकोड़ सकते हैं। पर ध्यातव्य यह है कि महाकाव्य का कार्य-व्यापार सरल या जटिल किसी तरह का हो सकता है, उसका घटना-क्रम एक स्थान या अनेक स्थानों पर घटित हो सकता है, उसमें एक से अधिक अभागे, भाग्यशाली अथवा क्रोधी नायक हो सकते हैं जो राजा या जेनरल किसी भी पद को सुशोभित कर सकते हैं, दृश्य भी स्वर्ग से लेकर नरक तक के किसी स्थान से सम्बद्ध हो सकता है, उससे उसके महाकाव्य होने या न होने में कोई फरक नहीं पड़ता, क्योंकि महाकाव्य तब तक महाकाव्य बना रहेगा जब तक हम उसके गुणों के अनुरूप कोई दूसरा नाम नहीं देते।[1] इस विवेचन पर विचार करने से हमें महाकाव्य-संबंधी निम्नांकित मान्यताओं का दर्शन होता है—

१. महाकाव्य और त्रासदी में भिन्नता पाई जाती है।

२ महाकाव्य में किसी महान् चरित्र या कार्य का निरूपण होता है।

३. इस काव्य-रूप में अन्य सभी काव्य-रूपों की कमोवेश खूबियाँ पाई जाती हैं।

४. इसका कथानक सुगठित होता है। इसमें आदि, मध्य और अन्त पाया जाता है। कथानक में ऐतिहासिक और पौराणिक घटनाओं का समावेश रहता है, पर उसका स्वरूप इतिहास और पुराण से भिन्न होता है। अवान्तर कथा के रूप में इसमें समकालीन घटनाओं का प्रयोग किया जाता है, पर उन सबको अन्वित होना आवश्यक है।

५. इसमें नाटकीय तत्त्वों के साथ ही प्राकृतिक, अतिप्राकृतिक तथा अलौकिक तत्त्वों का समावेश रहता है, पर लेखक इन्हें इस रूप में निरूपित करता है कि वे विश्वसनीय ज्ञात हों। कथानक विस्तारपूर्ण, पद्यबद्ध तथा जातीय और राष्ट्रीय विशेषताओं से अलंकृत रहता है।

६. नायक धीरोदात्त, साहसी और मानवीय गुणों से पूर्ण होता है। वह अपना संपूर्ण जीवन महत् उद्देश्य की पूर्ति में लगा देता है, इसीलिये उसका चरित्र प्रेरणाप्रद और उत्साहवर्द्धक होता है।

---

2. Use alone has prefixed the name of epic particularly to those poems which relate some great action. Let the action be simple or complex, let it be in some single place as in Iliad, or let the hero wander all the world over as in Odyssey, let there be a single hero or great many, happy or unfortunate, furious as Achilles or pious Aeneas; let them be kings or generals, or neither of them, let the scene lie upon the Indian Ocean......in hill, in heaven or out of limits of nature in Milton, the poem will equally deserve the name of epic unless you have mind to honour it with another title proportionable to its merit

७. महाकाव्य के उद्देश्य के अनुरूप व्यापक विधायक कल्पना का उपयोग किया जाता है। लेखक जीवन को पूर्णता अथवा समग्रता से समझना चाहता है और वह इसके हर पक्ष पर सहानुभूतिपूर्ण ढंग से विचार करता है।

८. महाकाव्यकार जन-सामान्य में प्रस्तुत वीरता की भावना पर भी सहानुभूति के साथ विचार करता है और इसी के व्याज से युग की समग्र संवेदना का अवगाहन करके महत्त्वपूर्ण अंश ग्रहण कर लेता है और तलछट को फेंक देता है।

९. महाकाव्य हमें मानवीय सद्‌गुण के प्रति आस्थावान् बनाता है।

१०. इसमें जातीय और राष्ट्रीय विशेषतायें पाई जाती हैं।

११. वह सामाजिक विकास के निश्चित स्वरूप का प्रतिफलन होता है।

१२. यह सामाजिक आदर्शों का भाण्डार होता है।

पौरस्त्य और पाश्चात्य और मान्यता

महाकाव्य के सिद्धान्त-संबंधी पौरस्त्य और पाश्चात्य मान्यताओं पर विचार करने से उनके साम्य-वैषम्य को सरलता से हृदयंगम किया जा सकता है। उदाहरण के लिये हम कुछ अधोलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं—

१. सर्गबद्धता अनिवार्य मानी गई है।

२. नायक सद्‌वंश में उत्पन्न वीर पुरुष होता है। एक से अधिक नायक भी हो सकते हैं, पर उनका एक वंश में उत्पन्न होना (भारतीय दृष्टि से) आवश्यक है।

३. भारतीय विचारकों ने शृङ्गार, वीर और शांत को अंगीरस के रूप में स्वीकार किया है और अन्य रसों को सहायक रूप में। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में रस का निरूपण इस पद्धति पर नहीं हुआ है, पर वे भी प्रकारान्तर से शृङ्गार और वीर को इसका प्रमुख उपजीव्य मानते हैं।

४. भारतीय विचारकों ने कथानक को पंच संधियुक्त माना है और पाश्चात्य विचारकों ने नाटकीयता को इसकी आवश्यक शर्त घोषित किया है।

५. दोनों दृष्टियों में महाकाव्य में अलौकिक, प्राकृतिक और अतिप्राकृतिक तत्त्वों के समावेश पर समान रूप से बल दिया गया है और अवान्तर कथाओं के प्रयोग की बात उठाई गई है। कथानक की अन्विति के महत्त्व पर भी प्रकाश डाला गया है।

६. दोनों इसकी रचना को सोद्देश्य मानते हैं। एक में जहाँ चतुर्वर्ग या इसमें से किसी एक फल की प्राप्ति की बात कही गई है, वहीं दूसरे में महत् उद्देश्य, जन-सामान्य के उद्‌बोधन और आस्था की बात उठाई गई है।

७. छन्द-विधान, उपयुक्त भाषा और अलंकरण की बात दोनों को समान रूप से मान्य है।

८. भारतीय विचारकों ने महाकाव्य के आरंभ के विषय में भी निश्चित मत दिया है और इसमें प्रस्तुत किये जाने वाले दृश्यों और घटनाओं की सूक्ष्म तालिका दी है। पाश्चात्य विचारक इस बात पर चुप नहीं हैं, पर वे इतने विशद रूप में इसका उल्लेख भी नहीं करते।

९. लोकवृत्त को दोनों ग्राह्य समझते हैं।

१०. आधुनिक पाश्चात्य विचारक इसकी समाजशास्त्रीय व्याख्या भी देते हैं और इसे देश-काल के घटना-क्रम से संबद्ध करके देखना अधिक समीचीन समझते हैं। वे इसे जातीय और राष्ट्रीय विशेषताओं का समुच्चय मानते हैं।

परिभाषा

महाकाव्य निश्चित देश-काल में निहित जातीय विशेषता, राष्ट्रीय चरित्र तथा जीवन के अन्य व्यापक स्वरूपों से उद्भूत महत् उद्देश्य-मण्डित कल्पना-प्रवण पद्यमय सर्गबद्ध सोद्देश्य रचना है जिसके कथानक में लौकिक के साथ ही अलौकिक तथा अतिप्राकृतिक तथ्यों का अलंकृत अथवा अतिरंजित, पर विश्वनीय और संभावित समावेश होता है और जिसकी शैली विषय के उचित निरूपण में सक्षम होने के साथ ही प्रेरणाप्रद, आकर्षक और आनंददायक होती है।

उद्भव और विकास

महाकाव्य का उद्भव न तो अचानक घटित होने वाली घटना है और न जादुई चिराग का करिश्मा। यह तो समाज के निश्चित विकास का प्रतिफलन है। अतएव इस दृष्टि से समाज के इस स्वरूप और उस की मूलभूत प्रेरणा को समझ लेना उपयुक्त जान पड़ता है। हमने इसके पूर्व इस बात का संकेत किया है कि महाकाव्य समाज की वीराख्यान-प्रवृत्ति से उत्पन्न है, पर दुर्भाग्य यह है कि इस प्रवृत्ति के विषय में हमें अधिक नहीं ज्ञात है। फिर भी, जो कुछ भी हमारे सामने मौजूद है, उसे देखते हुए इतना तो कहा ही जा सकता है कि इस काल की प्रमुख विशेषता संघर्ष, आवास के लिये परिभ्रमण और खोज है। इस काल की संस्कृति भी दुहरी प्रकृति की होती है। एक ओर तो मानव की असभ्यता के चिह्न पूर्ण रूप से विलुप्त नहीं हो गये होते और दूसरी ओर वह सभ्य होने का दम भी भरने लगता है। असभ्य व्यवहार व्यक्ति को युद्ध, क्षुधा-शान्ति और प्रवृत्तियों पर आश्रित क्रियाओं की ओर प्रेरित करते हैं और सभ्य व्यवहार सुव्यवस्थित पारिवारिक जीवन, वात्सल्य और सद्गुण की ओर। इस संक्रान्ति-युग में समाज में नायक-पूजा की भावना प्रबल होती है और यह व्यक्ति को साहसपूर्ण कार्यों की ओर उन्मुख करती रहती है। वे पशु-पक्षियों को अपने साहस के आदर्श के अनुकूल शिक्षित करते हैं, बड़ी-बड़ी समुद्री यात्रायें करते हैं, अस्त्र बनाते हैं और वीरता का प्रदर्शन करते हैं। इससे व्यक्ति का अर्द्धसभ्य अहं संतुष्ट होता है। सब कुछ के बावजूद इन्सानियत

के चमन की हैवानियत अब भी शान्त नहीं हो सकी है, उसकी रक्त-पिपासा अब भी रह-रह कर उमड़ जाती है, उसका रावण आज भी सीता-रूपी शील को चुराता फिरता है और वह अब भी शान्ति के नारे के छद्म वेष में युयुत्सु हो उठता है। युद्ध में वीरता-प्रदर्शन और त्याग को विशेष महत्त्वपूर्ण समझा जाता है, कष्ट झेल-कर भी कुछ कर गुजरने या मर मिटने को चाह-भरी दृष्टि से देखा जाता है। जोखिम झेलना जीवन के आदर्श और यथार्थ का मान्य प्रतिमान होता है। जननेता ऐसी स्थिति में सस्ती लोकप्रियता अर्जित करने के लिये अपने को इसी के अनुरूप ढालना चाहता है। इसी प्रवृत्ति से महाकाव्य का उद्भव होता है। जब भी ऐसी स्थिति होती है तो उसमें नेताओं के इस भावुक आदर्श का समाज में बोलबाला होता है। लोग इन जननेताओं की प्रशस्ति में गीत गाते हैं और ये जनता में प्रचलित होकर गाथागीत का रूप लेते हैं। इन गीतों के साथ मध्यकाल में प्रायः नृत्य का संयोग भी हो जाता था। ये गीत प्रभावोत्पादक होते थे, जन-मानस में बैठी हुई भावना को छूते थे, अतएव लोग इन्हें गाने और सुनने में आनंद का अनुभव करते थे। उस समय ये गीत अपनी लोकप्रियता के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाया करते थे। इस संक्रमण में इनमें कुछ परिवर्तन भी हो जाता था। प्राचीन काल में यह सामग्री तीन स्तरों में विकसित हुई थी। प्रथम स्तर पर गाथागीतों का निर्माण हुआ था जो बाद में चलकर 'लीजेण्ड' में बदल गये थे। गाथागीत अपने दूसरे स्तर पर गाँवों तक पहुँचे और भाँट तथा भिखमंगे इन्हें गाने लगे। इस स्तर पर ये 'कम्युनल' थे। गायक अपनी इच्छानुसार इनमें कुछ जोड़ते-घटाते रहे। इससे एक ओर गाथा का रूप बदला और दूसरी ओर नायकों का चरित्र अनावश्यक रूप से अतिरंजित हो गया। इससे जो गाथा-चक्र निर्मित हुआ, वह बहुत समय तक मौखिक गायन का विषय बना रहा। बाद में इन्हें लिपिबद्ध किया गया और इस रूप में इनकी परंपरा आगे बढ़ी। समाज भी अब तक विकसित होकर कुछ आगे बढ़ चुका था। उसमें पहले से अधिक व्यवस्था आ गई थी। इस परवर्ती काल में जिन महाकाव्यों की रचना हुई, वे प्रकृत्या पूर्ववर्ती महाकाव्यों से भिन्न थे। इस प्रकार महाकाव्य के दो स्वरूप हमारे सामने आये। पहले स्वरूप को 'आथेन्टिक एपिक', 'एपिक ऑव ग्रोथ' तथा दूसरे स्वरूप को 'एपिक ऑव कल्चर', 'एपिक ऑव आर्ट' या 'लिटरेरी एपिक' कहा गया। पहले प्रकार के महा-काव्य का उद्भव-काल वीरगाथा-काल या उससे पूर्व का काल था और दूसरे प्रकार के महाकाव्य के उद्भव का काल परवर्ती युग था।

पहले तरह के महाकाव्य—विकसनशील महाकाव्य—को लेकर कुछ झमेला खड़ा हुआ है। 'गमर' की धारणा है, "प्राचीन महाकाव्य 'कम्युनल' होने के साथ ही 'फॉक ओरिजिन' के थे। किसी एक कथा को केन्द्र में रखकर कई शताब्दियों तक कुछ गाथागीत (Ballads) उससे जुड़ते गये थे। बाद के लेखकों ने इन्हें इसी

रूप में एकत्रित कर दिया था। महाभारत, 'इलियड' और 'ओडेसी' इसी तरह के महाकाव्य हैं। 'एबरक्रॉम्बी' इस मान्यता से असहमत हैं। उनका मत है कि महाकवि पूर्ववर्ती कथासूत्रों का अपनी तरह से उपयोग करता है, पर वह कई लोगों द्वारा एकत्रित गाथागीत के चक्र को ज्यों-का-त्यों अपनाकर महाकाव्य नहीं लिखता। लेखक में प्रबुद्ध चेतना और प्रतिभा होती है। इसके द्वारा वह कथासूत्रों का अन्वीक्षण और परीक्षण करता है, यथावत् छानबीन करता है और पुनः रुचि के अनुसार उन्हें अपनाता और त्यागता है। वह अपनाये तथ्यों को संश्लेषित करके काट-छाँट कर या सँवार-सजा कर हमारे सामने रखता है। इस संदर्भ में एक और दिलचस्प बात उठती है। महाकाव्य की रचना भौतिक निर्माण से भिन्न होती है। भौतिक निर्माण में हमें भौतिक उपकरणों की जरूरत पड़ती है और हम कुछ हद तक दूसरे के सहयोग पर भी मुनहसर रहते हैं। इसमें काम में आने वाली प्रतिभा भी मशीनी प्रतिभा होती है और वह किसी निश्चित साँचे में ढली रहती है। काव्य-सृजन इससे भिन्न होता है। इसके लिये हम पूर्व-प्रस्तुत कथासूत्र को अपनाते तो हैं, पर एहतियात के साथ। इसमें संश्लेषणात्मक प्रतिभा का उपयोग करके हम कथासूत्रों को अन्वित भी करते हैं। यह अन्विति इस बात की मिसाल है कि महाकाव्य एक व्यक्ति के सृजन का विषय है। महाकाव्य अपने हर पहलू से समाज के विकसित पक्ष को प्रतिच्छायित करता है। फिर इस बात को अस्वीकार करने का कोई सवाल नहीं खड़ा होता कि ये महाकाव्य एक व्यक्ति द्वारा नहीं लिखे गये हैं। यहीं पर एक और बुनियादी बात हमारे सामने आती है! प्रायः हम सुनते हैं कि प्राचीन कृतियों को कुछ लोगों ने अपने विश्वास के अनुरूप ढालना चाहा है। उसमें कुछ हेर-फेर कर दिया गया है। यह जनश्रुति ही नहीं है, सत्य भी है। इससे आकर ग्रंथों के मूलपाठ में कुछ परिवर्तन हो गया है। पर इससे यह भी तो नहीं सिद्ध होता कि ये प्रक्षेपक भी कृतिकार हैं। विकसनशील महाकाव्य का हमारी दृष्टि से यही अर्थ है कि कवि ने अपने समय तक विकसित होकर आई हुई गाथा-परंपरा को ग्रहण किया है और उसका अपने ग्रंथ में उपयोग भी किया है। इसीलिये ये महाकाव्य अधिक यथार्थवादी हैं। इस प्रकार के महाकाव्य के लेखन की स्थिति में कलाकार अपने सूत्रों को सहज और स्वतःप्रेरित रूप में ग्रहण करता है और स्वाभाविक ढंग से उन्हें व्यक्त कर देता है। वह व्यर्थ की पच्चीकारी के चक्कर में नहीं पड़ता। अपने द्वारा ग्रहण किये हुए तथ्यों को वह अनावश्यक रूप से विकृत नहीं बनाता, वह तो उसे काव्य की अन्विति की दृष्टि से कम से कम परिवर्तित रूप में हमारे सामने रखता है। यह स्वच्छन्दतावादी युग होता है और रचनाकार "मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत" की बात चरितार्थ करता है। विकसनशील महाकाव्य में मानव-चेतना का सहज उच्छलन अधिक वेगवान् और मनोहारी होता है। यह बात कलात्मक महाकाव्य में नहीं पाई जाती। इसका एक कारण है। यह महाकाव्य

अधिक व्यवस्थापूर्ण, स्थायी और परम्परावद्ध समाज की उपज होता है। यह महाकाव्य के शास्त्रीय प्रतिमान का अनुगमन करता है। यह आग्रह प्रतिभा और चेतना को नियंत्रित करता है और भाषा और भाव की स्वच्छन्दता पर अंकुश लगाता है। स्पष्ट है कि विकसनशील महाकाव्यों की स्वच्छन्दता और निर्बन्ध संवेदनशीलता कलात्मक महाकाव्यों में संकुचित होकर बुद्धि की करब्योंत में फँस जाती है। पहले का निर्बन्ध प्रवाह दूसरे में सबंध प्रवाह में बदल जाता है। यह वात भाषा और भाव दोनों धरातलों पर घटित होती है। विकसनशील महाकाव्य की स्वच्छन्द प्रवृत्ति कलात्मक महाकाव्य में 'क्लासिकल' प्रवृत्ति में बदल जाती है।

महाकाव्य और लोकगाथा-काव्य

लोकगाथा-काव्य को 'बैलेड' कहते हैं। पूर्ववर्ती पृष्ठों में हमने इस बात का जिक्र किया है कि लोकगाथा-काव्य महाकाव्य से पहले रचा गया था और इसकी तकनीक और कथानक रूढ़ियों से महाकाव्य का उद्भव हुआ था। अँग्रेजी शब्द 'बैलड' लैटिन और इतालियन शब्द बेलारे (Bellare) से बना है जिसका अर्थ नृत्य होता है। इसी आधार पर अरसे तक यह धारणा बनी रही कि गाथा-काव्य के मूल में नृत्य की भावना भी विद्यमान थी। इसमें कोई शक की गुंजाइश नहीं कि आदि कविता का स्रोत गाथा-नृत्य (Ballad Dance) से प्रवाहित हुआ था। इन नृत्यों की प्रमुख प्रेरक व्यक्ति की सामाजिक और धार्मिक भावना थी। 'पासनेट' ने ठीक ही कहा है कि कविता के मूल में प्रजाति के तरह-तरह के धार्मिक और सामाजिक प्रयत्न निहित रहते हैं। कभी वह ऐन्द्रजालिक अभिचार के रूप में स्फुरित होती है तो कभी युद्धगीत, परिणयगीत और शोकगीत के रूप में। कुछ में आंगिक चेष्टाओं का प्राधान्य होता है तो कुछ में स्थूल शब्द-चित्रों का। उस काल में ये सभी प्रवृत्तियाँ आपस में इतनी घुली-मिली और अस्पष्ट होती हैं कि केवल शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त हो जाने से उनकी गतिमयता के विषय में कोई स्पष्ट धारणा नहीं बनाई जा सकती।[1]

गाथा-काव्य में कविता का अशुद्ध स्वरूप मिलता है। आरंभ में संगीत, नृत्य और मनोरंजन के प्रमुख साधन जातीय थे, अतएव विशेषतायें उस समय की कविता में भी पाई जाती हैं। 'टेनब्रिक' ने ठीक ही कहा है कि महाकाव्य-काल में 'प्रोडक्शन'

---

1. Sometimes they are magic incantations, sometimes they are warsongs, sometimes they are songs of marriage, sometimes they are dirge of dath. In some gestures predominate and in others rude music, in others the refrain of a few simple words. But the main points to be boine in mind arc that these elements are confused together and that the mere presentation of words alone can not ennoble us to imagine the rue nature of primitive song.

के स्थान पर 'रिप्रोडक्शन' की प्रमुखता थी। कहना न होगा कि इसके पूर्व कुछ ऐसी परंपरायें थीं जो अधिक जनसंख्या वाले समुदाय में प्रचलित थीं। वे इनका निरन्तर प्रयोग भी करते थे और इनको बार-बार कहते और सुनते थे। इससे इनका स्वरूप कुछ संशोधित और परिवर्धित होता रहता था। इस परिवर्तन के मूल में चेतन कलात्मक उद्देश्य का अभाव था। उनके कथानक का स्वरूप-निर्माण भी सायास प्रयत्न से सर्वथा मुक्त था। आधुनिक अर्थ में इन्हें रचना की संज्ञा नहीं दी जा सकती थी। इस काव्योपजीव्य पर बहुत बड़े समुदाय की मुहर लग चुकी थी और वह अनेकशः रूपों में सहज ही प्रवाहित भी होता रहता था।[1] 'गमर' भी इसी बात का अनुमोदन करते हुए कहते हैं, "उस काल में सब कुछ परिवर्तनशील था। परम्परा के उभयनिष्ठ तत्त्वों से स्वतःस्फूर्त रूप में गीत का आविर्भाव हुआ और वह समाज की आवश्यकता के अनुकूल ढलता रहा।"[2] गाथा-काव्य असल में विवरणात्मक कविता है जो प्रकृति से निर्वैयक्तिक और तकनीक की दृष्टि से नाटकीय होती है। इसमें गेय पदों के सहारे कहानी कही जाती है। इसकी विवरणात्मकता और गेयता आपस में इतनी मिली-जुली होती है कि उसे अलग करके देख पाना कठिन हो जाता है। इसमें ऐतिहासिक कथासूत्र होता है जिसके सन्दर्भ में युद्ध, परिवार-निजंधरी कथा, जादू-टोना और प्रेम-घृणा का भाव दर्शाया जाता है। इसका वातावरण अन्धविश्वासपूर्ण होता है और उसमें दुःखान्त तत्त्वों की प्रधानता पाई जाती है। यह प्राचीन मानस की सफल अभिव्यक्ति होता है। आरंभ में इसमें गीत और नृत्य का संयोग पाया जाता है और इस स्तर पर कथा का तत्त्व प्रमुख होता है। उसकी अन्य विशेषतायें इसी तत्त्व की सहायक होती हैं। गाथागीत के दो रूप मिलते हैं, (१) अज्ञात लेखकों द्वारा प्रस्तुत परंपरित गीत और (२) ज्ञात लेखकों द्वारा रचित परंपरावादी गीत।

1. "In the ballad-making age" as Ten Brink puts it, "there was no production, there was only reproduction by which he means that there was "a common stock of traditions, memories, experiences, held in common by large population in constant use, on the lips of countless persons told and re-told in many forms, with countless changes, variations and modifications without conscious artistic purpose, with no sense of personal control or possession, with no constructive aim either in plot or treatment, no composition in modern sense of word. Such a moss of poetic material in the possession of a large community was in a sense fluid and ran into thous and forms almost without directions or premeditation, Dixon—*Epic and Heroic Poetry*, p.33.

2. All was in flux, out of the common stock of tradition by spontaneous and universal treatment, song rose and fell according to the needs of community.

गाथागीत आज भी पर्याप्त लोकप्रिय हैं। इसमें प्राय: ऐसे विषय को प्रस्तुत किया जाता है जो मनोरंजक और जनप्रिय होता है। समुदाय की रुचि और मान्यता के अनुसार इनका रूप बदलता रहता है। लेखक अपनी कहानी को वस्तुगत रूप में प्रस्तुत करता है और तकनीकी दृष्टि से चुनाव को महत्त्व देता है। इसीलिये वह जटिल से जटिल गाथा-चक्र को सहजता से प्रस्तुत कर देता है। कहीं-कहीं कथोपकथन के प्रयोग द्वारा नाटकीय प्रभाव भी उत्पन्न किया जाता है। लेखक का कहानी के साथ सीधा संबंध होता है और वह चरित्रों तथा कथानक रूढ़ियों के द्वारा इसे सरलता से व्यक्त भी करता है। भाषा का प्रयोग कथ्य के अनुरूप होता है। विवरणात्मक निरूपण, सहजता और निर्वैयक्तिकता इसकी प्रमुख विशेषता है।[1] इन बातों को ध्यान में रखते हुए गाथा-काव्य को परंपरित कविता का वह रूप माना जा सकता है जो गाने के लिये लिखा जाता है। इसमें सहज और सरल भाषा तथा नाटकीय कथोपकथन के द्वारा कथा के ऐसे रूप को उपस्थित किया जाता है जो तत्कालीन समाज के रीति-रिवाज और मान्यताओं में जड़ीभूत होता है।

महाकाव्य गाथा-काव्य का उत्तराधिकारी है और उसने वसीयत में बहुत कुछ प्राप्त भी किया है। आज यह बात सोलहो आने सही और खरी सिद्ध हो चुकी है कि महाकाव्य गाथा-काव्य से ही उत्पन्न भी हुआ है। इसलिये यह उत्तराधिकार अधिक संवैधानिक और उपयुक्त भी है। हर साहित्य-विधा के उद्गम और विकास के कुछ कारण होते हैं। महाकाव्य के उद्गम और विकास का कारण गाथा-काव्य है। कथानक-रूढ़ि, विवरणात्मकता, नाटकीयता और तकनीकी कौशल की दृष्टि से वह इसका ऋणी है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि गाथा-काव्य की विशेषतायें बाद में महाकाव्य की रचना की जनक सिद्ध हुई हैं।

महाकाव्य और रोमांस

समीक्षकों ने महाकाव्य के विवेचन के सन्दर्भ में उस बिन्दु को खोजने की कोशिश की है जहाँ से वीराख्यान के स्थान पर शृङ्गार को महत्त्व दिया जाने लगा है। 'ऐतिहासिक दृष्टि से इनका जो भी महत्त्व हो, पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ये प्रयत्न तर्कहीन और अर्थहीन सिद्ध होते हैं। दरअसल उत्साह और प्रेम दो परम सशक्त भावनायें हैं, जिनका केन्द्र-बिन्दु तो एक है, पर वे परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट होती रहती हैं। युद्ध, अदम्य साहस, और राष्ट्र-प्रेम में उत्साह क्रियाशील पाया जाता है और शान्ति के क्षणों में शृङ्गार। कर्मकाल का स्थायी भाव उत्साह है और भोगकाल का शृङ्गार। अतएव इन्हें भिन्न मानकर दूर की कौड़ी लाने का प्रयत्न करना गलत है।

1, Its essential characters are narrative presentation, simplicity and lack of self-consciousness,

महाकाव्य में ये दोनों प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं, पर परिस्थिति-भेद से कभी कोई एक प्रवृत्ति प्रमुख हो जाती है तो कभी कोई दूसरी। शृङ्गार में विलक्षणता, विस्मय और रहस्य के साथ ही, रोमांचक प्रवृत्ति विशेष महत्त्वपूर्ण होती है। महाकाव्य जीवन-चित्र होता है, अतएव उसमें भी ये बातें पाई जाती हैं। इस प्रकार महाकाव्य, शृङ्गार और रोमांचक प्रवृत्ति में एक संबंध-सूत्र खोजा जा सकता है। वीरगाथा-काल में युद्ध और प्रेम की प्रधानता होती है। युद्ध का ताण्डव होने पर वह अपना शौर्य प्रदर्शित करता है, पर शान्ति के क्षणों में सौन्दर्य का उपभोग करता है। कभी-कभी ऐसा देखने में आता है कि स्त्री-सौन्दर्य को लेकर युद्ध हुए हैं, पर इस स्थिति में युयुत्सा गौण हो जाती है। वीराख्यानक काव्य में युद्ध की प्रमुखता होती है और शृङ्गार गौण होता है, पर रूमानी काव्यों में शृङ्गार की प्रमुखता हो जाती है और युद्ध गौण हो जाता है। ११वीं शताब्दी के पूर्व के महाकाव्यों में युद्ध की प्रमुखता मिलती है, पर उसके बाद के महाकाव्यों में शृङ्गार की। मध्यकाल में आकर वीरता की प्रवृत्ति नारी-सेवा-परायणता में बदल गई है। 'प्रो० हार्डी' (Prof. Hardie) ने ठीक ही कहा है कि रूमानी प्रवृत्ति का संबंध स्त्री और उससे संबद्ध भाव से होता है। मध्यकाल की 'शिवैलरी' में यह विशेषता प्रमुख रूप से विद्यमान है। उस समय प्रेम और शृङ्गार के लिये युद्ध भी हुए हैं। राजदरबारी या सामंती व्यवस्था में भी यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखाई देती है। इसके परिणामस्वरूप नख-शिख-वर्णन, नायिका का सौन्दर्य-निरूपण, नायक के पास नायिका के सौन्दर्य की प्रशस्ति भेजने का उपक्रम तथा नायक का नायिका को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न आदि से महाकाव्य भरे हुए हैं। आधुनिक काल में यह मध्यकालीन प्रवृत्ति कुछ कम हो गई है और रोमांस को मनोवैज्ञानिक परिवेश प्रदान किया गया है। इसके परिणामस्वरूप वह मध्यकालीन स्थूलता से कुछ मुक्त हो गया है।

महाकाव्य और इतिहास

महाकाव्य इतिहास नहीं, ऐतिहासिक घटनाक्रम को कलात्मक ढंग से निरूपित करने का साधन अवश्य है। 'न्यू मैन'[1] ने इसे कविता और इतिहास के संधि की संज्ञा दी है। असल में इतिहासकार और महाकाव्यकार की पद्धति में वही भेद होता है जो इतिहास और साहित्य में होता है। इतिहास घटित घटनाओं को चित्रित करने का हिमायती होता है, जबकि महाकाव्य उसके संभावित रूप को। कविता हर दृष्टि से इतिहास से अधिक दार्शनिक और उत्कृष्ट सिद्ध होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि काव्य विश्वजनीन सत्य को व्यक्त करता है, जबकि कविता विशिष्ट सत्य को।[2] इस बात का संकेत किया जा चुका है कि महाकाव्य में तथ्य और

1. Epic is a compromise between poetry and history.

2. The poet and historian differ not by writing in verse and in prose. The work of Herodotus might be put in verse and it

कल्पना का संयोग होता है, अतएव महाकाव्यकार इतिहास के उसी अंश को स्वीकार कर सकता है जो कल्पना के कलेवर में बँध पाता है। महाकाव्य ऐतिहासिक होने पर भी घटना और तिथि का सिलसिलेवार वर्णन करने से बचता है। पर इसे लेकर उस पर दोषारोपण भी नहीं किया जा सकता है। हमें यहाँ केवल इतना देखना आवश्यक हो जाता है कि अपने निर्माण के ढाँचे में कवि ने निरूपित तथ्य को गलत तरीके से तो नहीं प्रस्तुत किया है। उसकी यह सतर्कता सचमुच महाकाव्य को विश्वसनीय बनाती है। इस माने में कवि की आंशिक लापरवाही उसके समूचे प्रभाव पर पानी फेर देती है और उसकी कृति लोकप्रिय नहीं हो पाती।

वीररसाभासी व्यंग्य-काव्य (Mock-Epic)

महाकाव्य में एक औदात्य पाया जाता है। उसका उद्देश्य महान् और स्वरूप उद्देश्य के अनुरूप होता है। वीररसाभासी-व्यंग्य-काव्य इसके विपरीत तुच्छ विषय को अपनाता है। इसका उद्देश्य व्यक्ति को प्रबुद्ध करना नहीं, अपितु उसे उपहास की स्थिति में डालकर जीवन का सही ज्ञान कराना है। जीवन में व्यंग्य का अपना महत्त्व होता है। ऐसा देखने में आता है कि कभी-कभी बहुत शिक्षाप्रद सिद्धान्त और सर्वोच्च आदर्श व्यक्ति को जीवन का सही ज्ञान नहीं करा पाते, पर एक व्यंग्य-बाण उसकी दृष्टि को सदैव के लिये ठीक कर देता है। काव्य के माध्यम से प्रयुक्त व्यंग्य और भी प्रभावोत्पादक सिद्ध होता है। व्यंग्य-काव्य का लेखक जीवन के मर्म पर प्रहार करता है, वह उसे उसकी संपूर्ण त्रुटियों और परवशताओं में चित्रित करना चाहता है। उसकी दृष्टि सुधारवादी होती है। वीररसाभासी व्यंग्य-काव्य किसी तुच्छ विषय को उदात्त शैली में प्रस्तुत करता है। नायक का प्रयोग भी अन्तर्निहित क्षमता के प्रदर्शन के लिये नहीं, अपितु असंगति और मूर्खता के दिग्दर्शन के लिये किया जाता है। संपूर्ण काव्य हास्य-प्रधान होता है और उसमें महान् वस्तु को तुच्छ और तुच्छ को महान् दिखाया जाता है। यह लिखा भी महाकाव्य की शैली पर जाता है, पर इसकी शान केवल दिखावटी, कृत्रिम और अनुकरणात्मक होती है। तुच्छ विषय को जब महान् शैली में निरूपित करने की कोशिश की जाती है तो विषय और भी हास्यास्पद बन जाता है। इस तरह के काव्य को लिखने के लिये लेखक पहले उसकी रूपरेखा तैयार करता है और पुनः उसे महाकाव्य की संघटना में ढालता है। उसका उद्देश्य केवल हास्य पैदा करना है। 'बैटिल ऑफ द फ्रॉग्स एण्ड माइस' तथा 'रेप ऑव द लॉक' इसके उत्कृष्ट उदाहरण माने जाते हैं।

---

would still be a species of history with metre no less than without it. The true difference is that one relates what has happened, the other what may happen. Poetry therefore is more philosophical and a higher thing than history, for poetry tends to express the universal, history the particular.

महाकाव्य : एक विवेचन

महाकाव्य महत् उद्देश्य-मण्डित वृहदाकार पद्यबद्ध रचना है जो कई सर्गों में विभक्त होती है। इसे मानव-आत्मा की सृजनशीलता का कीर्तिस्तंभ माना जा सकता है। महाकाव्यकार अध्यवसाय, सूक्ष्म जोवन-दृष्टि, काव्य-कौशल और कल्पना के विधायक स्वरूप से हमें जीवन के उस आरोह-अवरोह का ज्ञान करा देता है जहाँ से हम विश्वासपूर्ण ढंग से उसके अन्य पक्षों को समझ-बूझ सकते हैं। यह वर्णन-प्रधान होता है और किसी धीरोदात्त नायक के जरिये, विषयोचित प्रतिपादन के साथ, हमारे समक्ष सभ्यता और संस्कृति की उस महत् उपलब्धि को प्रस्तुत करता है जो किसी न किसी रूप में हमारी प्रेरणा का स्रोत रही है। इसका कार्य-व्यापार, घटनाक्रम और विषय उदात्त होता है और उसमें धरती के धूल और आकाश के फूल की परिकल्पना भलीभाँति चरितार्थ होती है। इसका विषय भूतकाल की ऐतिहासिक घटना से जुड़ा होता है, पर वह वर्तमान पर भी प्रकाश डालता है। यह वर्तमान की क्रोड़ में पलती हुई आशा-निराशा का दिशा-निर्देशक तत्त्व होता है। भूत से विषय ग्रहण करने से सुविधा होती है। उससे महाकाव्यकार तथ्य और उसके निरूपण को दृष्टि से कुछ अधिक स्वतंत्र हो जाता है। कुछ विचारकों ने वर्तमान से निषय ग्रहण करने की वात उठाई है और कुछ अन्य ने मध्यकाल से। महाकाव्य का विषय किसी भी काल से ग्रहण किया जा सकता हैं, शर्त केवल उसके महाकाव्योचिन होने की है। कुछ लोग महाकाव्य के विषय को महत्त्वपूर्ण नहीं समझते हैं। मेरे मत से कविता के विषय में तो यह कहा जा सकता है, पर महाकाव्य के विषय में नहीं। यहाँ एक और बात विचारणीय है। केवल विषय के उदात्त हो जाने से महाकाव्य का उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता। विषय के साथ उसी के उपयुक्त भाषा, भाव, घटना-क्रम और अवान्तर कथा की योजना भी करनी पड़ती है, उसके अनुकूल विधायक कल्पना के उदात्त स्वरूप को अपनाना पड़ता है और सब को विश्वसनीय और प्रभावोत्पादक ढंग से व्यंजित करना पड़ता है। महाकाव्य के कथानक का अन्वित होना जरूरी है।[1] महाकवि अपनी रचना में अन्य छोटे-मोटे प्रसंगों की अवतारणा कर सकता है, पर सब कुछ के बावजूद प्रमुख प्रसंग आवश्यक होता है। यह प्रसंग नायक के चारों ओर घूमता रहता है। नायक धीरोदात्त होता है और संघटना में लोक और लोकोत्तर सत्य का समावेश मिलता है। यह बात महाकाव्य को व्यापक और आकर्षक बनाती

---

1. There must be one organic action in the epic, as in the tragedy, distinctly arising out of the apparent dead level of the common place, moving irresistibly through its curve of progress and sinking once more into placidity at the end, the beginning, the middle and the end of Aristotle theories. Uplane,—*The Typical Forms of Eng. Literature.*

है, पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि सब कुछ के बावजूद लोकोत्तर को ग्रहण करना आवश्यक है। इसकी महाकाव्य के लिये उसी हद तक आवश्यकता होती है जिस हद तक यह उसके लौकिक कलेवर को विश्वसनीय बनाये रखे। विश्वसनीयता और संभाव्यता महाकाव्य की आवश्यक विशेषतायें हैं। आप कह सकते हैं कि महाकाव्य का क्षेत्र इतना कल्पना-प्रवण और माध्यम इतना आदर्श होता है कि उसमें विश्वसनीय स्वरूप के लिये विशेष गुंजाइश नहीं रह जाती। यह बात अंशतः ठीक है। पर विचारणीय यह है कि न तो कल्पना सदैव अयथार्थ होती है और न माध्यम जटिल। यह सब 'ट्रीटमेण्ट' पर निर्भर होता है। अगर कवि का दृष्टिकोण स्पष्ट और सुलझा है तो उसका निरूपण भी स्पष्ट और सुलझा होगा। कल्पना पृथ्वी और आकाश के कुलाबे अवश्य मिलती है, पर उसके परों को बाँध कर उसे नियंत्रित कर देने से वह यथार्थ की जननी भी बन जाती है। भाषागत औदात्य भी दुरूहता, पेचीदगी और स्पष्टता से नहीं उत्पन्न होता, अतिरंजित अलंकरण में भी नहीं पाया जाता, बल्कि व्यंजना और समन्वय में पाया जाता है।

तात्पर्य यह कि महाकाव्य आत्मा की व्यापकता, चिन्तन की गहनता, अन्तर्दृष्टि की स्पष्टता और कल्पना की विधायकता का मुखापेक्षी होता है। महाकाव्य-काल में ये प्रवृत्तियाँ प्रचुर मात्रा में विद्यमान पाई जाती हैं।

खण्डकाव्य

संस्कृत काव्यशास्त्र में महाकाव्य का जितना विशद विवेचन किया गया है, उतना खण्डकाव्य का नहीं। इसका प्रमुख कारण प्रबंधकाव्य की महत्ता और उसके समक्ष इसकी न्यून सर्वप्रियता है। 'रुद्रट' ने सबसे पहले इसे विवेचित किया है। उनके प्रबंधकाव्य के विवेचन में हमें महत् और लघु उद्देश्य से प्रेरित काव्य का सूत्र मिलता है। संभवतः लघु उद्देश्य से प्रेरित यही काव्य खण्डकाव्य है। 'विश्वनाथ' ने खण्डकाव्य की परिभाषा अधोलिखित श्लोक में प्रस्तुत की है—

भाषा विभाषा नियमात्काव्यं सर्गसमुत्थितम्।
एकार्थं प्रवणैः पद्यैः सन्धि सामग्र्यवर्जितम्।
खण्डकाव्यंवेत्काव्यस्यैक देशानुसारि च।

कहना न होगा कि 'विश्वनाथ' 'रुद्रट' की परिभाषा से परिचित थे और उन्होंने उस पर विचार भी किया था। उन्होंने महाकाव्य और खण्डकाव्य के बीच एक अन्य काव्य-रूप की चर्चा भी की थी जिसे एकार्थ काव्य कहा जाता है। ऊपर के श्लोक पर विचार करने से ज्ञात होता है कि भाषा या विभाषा में रचित सर्गबद्ध तथा संधिरहित एक कथा के निरूपक पद्य काव्य को काव्य की, और उसके एक पक्ष (देश) का अनुसरण करने वाले काव्य-रूप को खण्डकाव्य की संज्ञा दी जाती है। 'विश्वनाथ' ने अपनी परिभाषा में समग्र जीवन के विशिष्ट पक्ष को चित्रित

करने वाले एकार्थ काव्य को विशेष महत्त्व दिया है और समग्र जीवन के किसी विशिष्ट पक्ष के अंश-विशेष को चित्रित करने वाले खण्डकाव्य को कम महत्त्व दिया है। यहाँ 'अंश-विशेष' को रेखांकित किया जाता है। महाकाव्य में जीवन का समग्र चित्रण पाया जाता है। एकार्थ काव्य में जीवन के किसी महत्त्वपूर्ण अंश को चित्रित किया जाता है और खण्डकाव्य में उस महत्त्वपूर्ण अंश के किसी एक पक्ष को निरूपित किया जाता है। इस विभेद को समझ लेने के वाद हम खण्ड-काव्य की अधोलिखित परिभाषा कर सकते हैं—भाषा या विभाषा में लिखे गये सर्गयुक्त या सर्गविहीन तथा संधिरहित ऐसे काव्य-रूप को खण्डकाव्य कहते हैं जिसमें जीवन के किसी एक पक्ष की एक महत्त्वपूर्ण घटना को चित्रित किया जाता है। हिन्दी में अन्य विद्वानों ने इसे परिभाषित किया है। गुलाबराय का कहना है, "खण्डकाव्य में किसी एक ही घटना को प्रधानता दी जाकर उसके माध्यम से जीवन के किसी एक पक्ष की झाँकी मिल जाती है।" इस परिभाषा में दो बुनियादी बातों का उल्लेख है, (१) घटना-विशेष की प्रधानता और (२) उसके द्वारा जीवन के पक्ष-विशेष की झाँकी। डॉ० भगीरथ मिश्र का कहना है, "खण्डकाव्य वह प्रबंधकाव्य है जिसमें किसी भी पुरुष के जीवन का कोई अंश ही वर्णित होता है, पूरी जीवन-गाथा नहीं। इसमें महाकाव्य के सभी अंग न रह कर एकाध अंग ही रहते हैं।" परिभाषा काफी सपाट है और इसमें भी वही बातें दुहराई गयी हैं। आचार्य विश्व-नाथ प्रसाद मिश्र की धारणा है, "महाकाव्य के ही ढंग पर जिस काव्य की रचना होती है, पर जिसमें पूर्ण जीवन न ग्रहण करके खण्ड जीवन ग्रहण किया जाता है जिससे वह प्रस्तुत रचना के रूप में स्वतः पूर्ण हो।" यहाँ 'खण्ड' शब्द गोलमटोल है, उससे प्रबंधकाव्य के अन्य रूप खण्डकाव्य पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। मिश्र जी की परिभाषा में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का संकेत अवश्य किया गया है। खण्डकाव्य में जीवन का जो भी चित्र ग्रहण किया जाता है, वह अपने में पूर्ण होता है। डॉ० शकुन्तला दुबे का कहना है, (१) खण्डकाव्य प्रबंध-कालाश्रयी क्षणों की अनुभूति की अभिव्यंजना है। (२) यह यद्यपि जीवन के एक अंग को लेकर चलता है, पर वह अपने में पूर्ण होता है और उसकी अनुभूति भी पूर्ण होती है। (३) खण्डकाव्य के 'खण्ड' शब्द का यह अर्थ नहीं कि वह बिखरा हुआ है या किसी महा-काव्य का एक खण्ड है। यह 'खण्ड' शब्द अनुभूति के उस स्वरूप की ओर संकेत करता है जिसमें जीवन अपने संपूर्ण रूप में कवि को प्रभावित न करके आंशिक या खण्ड-रूप में ही प्रभावित करता है। (४) खण्डकाव्य का रचयिता महाकाव्य की भाँति युग-युग को कोई महत् सन्देश नहीं देता। (५) खण्डकाव्य वर्णनात्मक प्रबंधकाव्य है। इसमें कथा का विकास धीरे-धीरे होता है। (६) इसमें निश्चित कथांश या कथासूत्र पाया जाता है। (७) यहाँ कथा को महाकाव्य की कथा की भाँति ख्यात या इतिहास-प्रसिद्ध होना अनिवार्य नहीं। (८) खण्डकाव्य का कथा-संघटन महाकाव्य

से कम व्यवस्थित होता है। (९) इसमें प्रासंगिक कथाओं का अभाव होता है। (१०) इसकी कथा सर्गबद्ध या सर्गविहीन हो सकती है।

प्रबंधकाव्य और खण्डकाव्य में वैसा ही साम्य-वैषम्य पाया जाता है जैसा कि महाकाव्यात्मक उपन्यास और उपन्यास या उपन्यास और लघु उपन्यास में पाया जाता है। एक अपने व्यापक प्रसार-वैविध्य में--असीमता में—पूर्ण होता है और दूसरा अपने संकोच--ससीमता—में पूर्ण होता है। खण्डकाव्य जीवन के किसी एक पक्ष की घटना विशेष की पूर्ण अनुभूति का निरूपण करता है। महाकाव्य उदात्त शैली, धीरोदात्त चरित्र और संश्लेषणात्मक विधायक कल्पना के माध्यम से भूत या वर्तमान की किसी ऐतिहासिक, पौराणिक अथवा वीराख्यानक घटना को इस रूप में संघटित करता है कि वह हमारे लिये अनुकरणीय और प्रेरणाप्रद बन जाती है। उसकी अभिव्यक्ति जीवन को पूर्णता में समेटने का उपक्रम करती है और विविध अवस्थाओं, दशाओं और भावकोणों के द्वारा उसके रहस्य को उद्घाटित करती है। खण्डकाव्य महाकाव्य की तरह मान्यताओं की कठोर शृंखला से बँधा नहीं होता। उसकी कथा पौराणिक, ऐतिहासिक या काल्पनिक किसी तरह की हो सकती है। लेखक जीवन की किसी महत्त्वपूर्ण घटना के किसी एक पक्ष को चित्रित करता है, अतएव इसमें भावसंवेगों का वह आरोह-अवरोह नहीं पाया जाता जो महाकाव्य में होता है। जिस तरह कहानी का आरंभ किसी महत्त्वपूर्ण सूत्र से होता है, उसमें आदि से अन्त तक एक ही घटना उपस्थित रहती है और अन्विति पर विशेष बल दिया जाता है, उसी प्रकार खंडकाव्य की अनुभूति भी अन्वित और किसी घटना विशेष से जुड़ी होती है। खण्डकाव्य का कथा-विस्तार भी अधिक नहीं होता। कथा मंथर गति से आगे बढ़ती है और अभीप्सित स्वरूपों को समेटती हुई विकसित होती है। कथावस्तु का संगठन भी शिथिल होता है और उसमें महाकाव्य के औदात्य का अभाव होता है। खंडकाव्य में केवल घटना प्रधान होती है और उसकी सहायता के लिये एक दो अवान्तर प्रसंगों की अवतारणा कर ली जाती है। इसकी अनुभूति में भी महाकाव्य की अनुभूति की सघनता का अभाव होता है। खण्डकाव्य जीवन की घटना-विशेष के पक्ष-विशेष की प्रभावान्विति होता है। इसके कथानक, घटना-क्रम और अनुभूति के स्वरूप इसकी परिधि से नियंत्रित रहते हैं। सारांश यह कि —

१. खण्डकाव्य जीवन के किसी खण्ड-चित्र की किसी एक घटना पर आधारित होता है और उसी के ताने-वाने से इसका विकास होता है। यथास्थान छोटी-मोटी प्रासंगिक कथाओं का उपयोग किया जाता है, पर इसका उद्देश्य प्रमुख घटना से संबंधित जीवन-चित्र को उद्घाटित करना होता है।

२. इसके नायक के विषय में कोई सर्वमान्य धारणा नहीं है। वह देवता, दानव, मानव, प्रख्यात या कल्पित किसी भी तरह का हो सकता है।

३. कथा की एकसूत्रता इसकी प्रमुख विशेषता है और इसका विकास निश्चित सरणि से होता है। इसमें आरंभ, विकास, चरम सीमा और उद्देश्य को स्पष्टता से देखा जा सकता है। कथा भी ऐतिहासिक, पौराणिक और कल्पित किसी भी तरह की हो सकती है और इसे सर्गबद्ध या सर्गमुक्त रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

४. इसका आकार-विन्यास और संगठन अपने में पूर्ण होता है। इसमें निरूपित अनुभूति भी पूर्ण होती है।

५. यह प्रबंध का ही एक रूप है, अतः इसमें प्रबंध की कुछ विशेषतायें पाई जाती हैं। इसका उद्देश्य स्पष्ट और निश्चित होता है।

महाकाव्य और खण्डकाव्य में साम्य-वैषम्य

महाकाव्य	खण्डकाव्य
१. प्रवंधकाव्य का एक भेद है।	१. यह भी प्रबंधकाव्य का भेद है।
२. इसमें खण्डकाव्य की सभी विशेषतायें पाई जाती हैं और उससे कोई तात्त्विक भेद नहीं होता।	२. इसमें प्रवंधकाव्य की कुछ विशेतायें पाई जाती हैं और यह उससे कई दृष्टियों से भिन्न होता है।
३. आकार बड़ा होता है।	३. आकार प्रवंधकाव्य से छोटा होता है।
४. नायक के जीवन को समग्रता के साथ अभिव्यक्त किया जाता है।	४. इसमें जीवन के खण्ड-विशेष की घटना-विशेष का चित्रण होता है, अतएव यह केवल उसी अंश को उद्घाटित करता है।
५. इसका लक्ष्य व्यक्ति के व्याज से समाज को चित्रित करना है।	५. इसका लक्ष्य अंश-विशेष को उद्भासित करना है।
६. इसका संबंध काल के अनन्त प्रवाह से होता है।	६. इसका संबंध काल के किसी बिन्दु से होता है।
७. कथानक का चित्रफलक व्यापक होता है और वह सर्गों में बँटा होता है।	७. चित्रफलक तुलनात्मक दृष्टि से छोटा होता है। यह सर्गबद्ध या सर्गरहित किसी भी तरह का हो सकता है।
८. इसमें पंचसंधियों का विधान पाया जाता है। पूरे सर्ग में किसी एक छन्द का प्रयोग किया जाता है। सर्ग के	८. संधियों का अभाव होता है। संपूर्ण काव्य एक या अनेक छन्दों में लिखा जाता है। कथा छोटी होती है, अतएव

अन्त में छन्द वदल जाता है और आगे आने वाली घटना की सूचना दे दी जाती है।	आगे की घटना की सूचना का विधान नहीं होता।
९. कथा ख्याति-प्राप्त होती है।	९. यह आवश्यक नहीं है।
१०. नायक उच्चकुलीन और धीरोदात्त होता है।	१०. नायक उदात्त, अनुदात्त, किसी भी तरह का हो सकता है।
११. रस और चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति होती है।	११. किसी एक रस और एक फल की प्राप्ति का विधान पाया जाता है।
१२. उद्देश्य जन-जीवन की समग्र अभिव्यक्ति है।	१२. इसका उद्देश्य खण्ड-जीवन की घटना विशेष की अभिव्यक्ति होता है।

प्रगीत-काव्य

प्रगीत अंग्रेजी 'लिरिक' का हिन्दी भावानुवाद और उसकी अर्थ-संगति का परिचायक है। संस्कृत और हिन्दी की सगोत्री अन्य भाषाओं में भी गेय पदों की कमी नहीं है। ये पद भिन्न-भिन्न रागों में लिखे जाते थे और मानव की विविध भाव-दशाओं के परिचायक थे। लोग इन्हें प्रेम से गाते और सुनते थे और ये गीत जन-प्रिय भी थे। आधुनिक काल में स्वच्छन्दतावादी पुनरुत्थान के साथ इन गीतों को नयी दिशा भी मिली थी। हिन्दी में हमें दो शब्द मिलते हैं गीत और संगीत। दोनों से गेयता का परिचय मिलता है। संगीत शास्त्रीय गीत का परिचायक है जो वाद्य-यंत्रों के सहयोग के साथ गाया जाता है। एक अद्भुत बात है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में गीत का अलग विवेचन नहीं मिलता नाट्यशास्त्र में भरत ने नाट्यवेद की रचना के सन्दर्भ में गीत को सामवेद से ग्रहण किया बताया है।[1] वहीं पर वे इसके सात भेदों का उल्लेख भी करते हैं जिनमें (१) मद्रक, (२) उल्लोप्यक, (३) अपरान्तक, (४) प्रकर्यक, (५) वेणक, (६) रोविन्दक और (७) उत्तर विशेष रूप से उल्लेख्य हैं।[2] लास्य के अंग के रूप में साहित्य-दर्पणकार ने गेय पद की चर्चा करते हुए उसके दस अधोलिखित प्रकारों की सूचना दी है : (१) स्थित पाठ्य, (२) आसीन पाठ्य, (३) पुष्पगण्डिका, (४) प्रच्छेदक, (५) त्रिगूढ़, (६) सैन्धव, (७) द्विगूढ़क, (८) उत्तमोत्तमक, (९) उक्त और (१०) प्रत्युक्त। इन प्रकारों का गीत के सन्दर्भ में उल्लेख नहीं मिलता। इसका एक और कारण है। भारतीय काव्यशास्त्र में

१. जग्राह पाठ्य मृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदाद् अभिननयान् रसान् थर्वणादपि। नाट्यशास्त्र १/१७

२. गीतानि सप्त मद्रकोलोप्यके चापरान्तकम्।
पकर्योविणके चैव रोविन्दकमथोत्तरम्। नाट्यशास्त्र ३१/२१९

प्रबंध और मुक्तक का उल्लेख मिलता है। प्रबंध के दो भेदों का उल्लेख किया जा चुका है। प्रगीत का विवेचन यहाँ मुक्तक के एक अंग के रूप में किया जाता था। अतएव उसके स्वतंत्र विवेचन का अभाव है। मेरी धारणा है कि आज प्रगीत-काव्य इतना समृद्ध हो गया है कि उसके स्वतंत्र विवेचन की आवश्यकता महसूस की जा रही है। मैंने इसीलिये प्रगीत को स्वतंत्र काव्य-रूप की तरह विवेचित किया है। इस शताब्दी के[1] पहले दशक में गीतिकाव्य का हिन्दी में प्रयोग किया गया। वह तीसरे और चौथे दशक तक पर्याप्त समृद्ध होकर हमारे सामने आया। इस दौरान उसका एक अलग अस्तित्व बन गया था। अतएव उसे मुक्तक के घेरे से मुक्त करके स्वतंत्र रूप से जाँचने और परखने में कोई वैज्ञानिक त्रुटि नहीं हो सकती, ऐसा मेरा विश्वास है।

ऊपर मैं छायावादी उत्थान की बात कर रहा था, जो विषयान्तर हो जाने से वहीं छूट गई थी। उसको मद्दे नजर रखने से हमारा भ्रमभंजन आसानी से हो जायगा। इस काल में प्रगीत, चतुर्दशपदी, संबोधनगीत अथवा शोकगीत की रचना हुई। ये रूप हमारे यहाँ के लिये नये थे। फिर क्या था, पृष्ठभूमि पर बिना विचार किये एक बारगी वही प्रभाव का दोषारोपण छायावादियों के सिर मढ़ दिया गया। पर यह तो विवेचन की कोई वैज्ञानिक पद्धति नहीं। जब आलोचक ऐसे आग्रहपूर्ण स्वरूप से उलझता है तो 'सिर धुनि गिरा लागि पछताना' वाली बात ही चरितार्थ होती है। प्रगीत शब्द उस 'लिरिक' का भावानुवाद है जो पाश्चात्य साहित्य में अपने विकास के कई चरणों को पार कर चुका था, पर इसका यह मतलब नहीं है कि उसकी अपनी कोई पृष्ठभूमि न थी। ध्यातव्य यह है कि हर स्वच्छन्द धारा के साहित्य में कुछ ऐसी भावदशायें एकाएक उभड़ पड़ती हैं जिनका आनयन प्रगीत द्वारा ही संभव होता है। इसीलिये ये प्रगीत भावों के सहज उच्छलन होते हैं और उनमें खालिस सघनता, ताजगी और भावसबलता पाई जाती है। भाषा और भाव का युद्ध किसी भी हिन्दुस्तान अथवा पाकिस्तान की लड़ाई से कम पेचीदा नहीं होता। इस रणनीति में किसी पुरातन या नवीन आदर्श को ग्रहण करना अनुपयुक्त नहीं होता, शर्त यह है कि भाषा अपनी और भाव पराये की बात न चरितार्थ हो। भाषा अपनी हो, भाव भी अपने हों। अगर छायावादी भाषा अपनी है, भाव अपने हैं तो फिर इतने हाय-तोबा की जरूरत क्या? अगर हमने गीतिकाव्य के विकास-क्रम को समृद्ध बनाने के लिये कुछ बाहरी गीति-साँचों को ग्रहण ही कर लिया तो उससे नुकसान क्या?

---

१. गेय पदं स्थित पाठ्यमासीनं पुष्प गण्डिका।
प्रच्छेदक त्रिगूढ़ञ्च सैन्धवाख्यं द्विगूढ़कम्।
उत्तमोत्तम कन्चान्यदुक्त प्रत्युक्त मेव च।
साहित्य दर्पण, ६/२४१

साहित्य तो आदान-प्रदान की एक क्रिया होता है, उसके धरातल पर राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता का भेद मिट जाता है। वह 'वसुधैव कुटुंबकम्' की बात को सही माने में चरितार्थ करता है। मैं पुनः इस बात को दुहरा देना चाहता हूँ कि हिन्दी साहित्य में गीति-काव्य के विवेचन पर जो भी ऊहापोह है, उसकी जिम्मेदारी इसे स्वतंत्र काव्य-विधा न मान कर मुक्तक का अंग मानने और उसी रूप में उसको विवेचित करने पर है।

पाश्चात्य साहित्य में इसकी विशद व्याख्या मिलती है। वैसे तो गीतिमयता हर काव्य की प्रमुख विशेषता है, पर गेय कविता की गेयता एक विशिष्ट प्रकार की होती है। अंग्रेजी में 'लायर' शब्द एक वाद्य-यंत्र का परिचायक है। इसकी लय-संगति में गाने के लिये समय-समय पर कुछ रचनायें की गई थीं। इन्हीं को लिरिक कहा जाता था। अधिकांश विचारकों की गीति की परिभाषा से यह सत्य ध्वनित भी होता है। इसमे एक बात जाहिर हो जाती है कि 'लिरिक' में ऐसी लयात्मकता पाई जाती है जो 'लायर' की लयात्मक संगति में होती है।[1]

इस सूत्र से कई संकेत मिलते हैं,[2] (१) इसमें लयात्मकता होती है। (२) यह इतनी संक्षिप्त होती है कि उसे सरलता से गाया जा सके। (३) यह गेय है, अतएव इसके लिये ऐसे शब्दों का चयन करना पड़ता है जो गेयता को अक्षुण्ण बनाये रखने के साथ ही श्रोता पर भी मनोवांछित प्रभाव डाल सकें। (४) गेयता के लिये गीति का संप्रेषण सक्षम होना आवश्यक है। कुछ विचारकों ने इसे वैयक्तिक भावसंवेगों की संक्षिप्त भावात्मक अभिव्यक्ति[3] कहा है। इसमें कोई शक नहीं कि गीत में वैयक्तिकता का प्रबल पुट होता है, इसीलिये गीतकार अपनी वैयक्तिक अनुभूति को लयात्मक आरोह-अवरोह में सहज ही ढाल भी देता है। इसकी अभिव्यक्ति सदैव भाव-नियंत्रित और संवेग-निर्देशित होती है, कवि के आन्तरिक बोध का समन्वित रूप ही सशक्त सहजता में ध्वनित हो उठता है। समन्वय में रवानी, ताल, गति और सम

---

1. A—Lyric poetry a general term for all poetry, which is or can be supposed to be susceptible of being sung to the accompaniment of musical instrument. See—*Encyclopaedia Brittarnnica*—Lyric.

B—A short poem intended for singing usually to the accompaniment of lyre or other instrument. Cassel's *Encyclopaedia of Literature.*

2. A—A short poem expressing personal feeling. *Ibid.*

B—lyric poem is the expression by the poet of his own feeling. (Ruskin)

3. 'Lyrical' it may be said implies a form of musical utterance in words governed by over-mastering emotion and set free by a powerfully concordant rhythm. (Ernest Rhys)

पाया जाता है जो उसकी निजी विशेषता होती है।[1] इसीलिये गीतात्मक उच्छलन जिसमें कवि की अन्तरात्मा का सहज बोध कौंधता रहता है लयात्मक बन जाता है। प्रगीत की संघटना में ऐसे तत्त्व विद्यमान रहते हैं जो प्रकृति की लयात्मकता को शब्द और अर्थ द्वारा ध्वनित करते रहते हैं और उस लालित्य-बोधीय तदनुरूपता की व्यंजना करते हैं जो संगीतमय विचार की ध्वन्यात्मक लहरों और उसके सरल तथा वक्र आरोह-अवरोहों में भावात्मक सौन्दर्य-बोध के कारण स्पन्दित होती रहती हैं। 'हीगेल' ने इसी सत्य को आदर्शवादी शब्दावली में प्रस्तुत किया है। उनकी धारणा है कि कवि जब व्यष्टि को अतिक्रमित करके समष्टि भावात्मकता के साथ तादात्म्य स्थापित करता है और उसकी आत्मानुभूति काव्योचित माधुर्य से मण्डित होकर प्रकट होती है तो उसे गीतिकाव्य कहते हैं। 'अर्नेस्ट रीस' ने कवि के हृदयस्थ भाव, प्रकृति के व्यंजना-सादृश्य और 'हीगेल' ने व्यष्टि को अतिक्रमित करके समष्टि के भावबोध का उल्लेख किया है। यही हृदय के लोक-हृदय में लीन होने अथवा हृदय की मुक्तावस्था का रहस्य है। इससे एक बात ध्वनित होती है कि उदात्त भावात्मक उद्वेलन प्रगीत का प्राण होता है। यह उद्वेलन अभिव्यक्ति के लिये मचलता है और अन्ततोगत्वा अभिव्यक्त भी होता है। इसे आत्माभिव्यक्ति कहा जाता है। हम बढ़ी हुई नदी में जल के चक्रिल आवर्त को देखते हैं जो भयंकर रूप से भँवर-पूर्ण हुआ करता है। आप पूछ सकते हैं कि ये भँवरें क्यों बनती हैं? इसका प्रमुख कारण जल की केन्द्रीय धारा की टकराहट होती है। जब भँवर खत्म हो जाती है तो वही धारा पुनः जल के रूप में आगे बढ़ जाती है। यही स्थिति गीतिकाव्य की भी होती है। भावात्मक उद्वेलन की स्थिति में अनेक भाव आपस में एक केन्द्रीय भाव के चारों ओर चक्कर काटने लगते हैं। केन्द्रीय भाव उनसे बहुत कुछ ग्रहण करके पुष्ट बन जाता है और अचानक शब्द और अर्थ के लयात्मक साँचे में ढलने के लिये आतुर हो उठता है। जिस तरह भँवरों का अस्तित्व अल्पकालिक होता है, उसी तरह उस भावदशा की जटिलता भी अल्पकालिक होती है। जिस तरह भँवरों में अपने को स्वतः सुलझा करके आगे बढ़ जाने की शक्ति होती है, उसी तरह भाव-जटिलता भी अपने को सुलझा करके केन्द्रीय भाव में परिणत हो जाती है। इस स्थिति में केवल प्रभावान्विति की ही बात नहीं उठती, अपितु मुहावरेदारी की निश्चितता, शब्द और अर्थ की ध्वन्यात्मक सुव्यवस्था और उसकी लयात्मक मोहकता के समन्वय से उत्पन्न अभिव्यक्ति की अन्विति की बात भी संपादित होती रहती है। यह सब 'झटिति प्रत्यय' का परिणाम होता है। इसीलिये 'पालग्रेव' ने प्रगीत को

---

1. The act by which it survives is based on structural laws, that govern the rhythm of nature echoed in our own voice and on the aesthetic correspondence between waves, sounds and crescent and decrescent movements of musical thought. *Ibid.*

एक भाव, विचार या अवस्था का अभिव्यक्तीकरण और 'ज्योफ़े' ने इसे लघु, सामंजस्यपूर्ण और उद्दीप्त भाव-लहरी का प्रकटीकरण कहा है। 'जॉन ड्रिंकवाटर' ने इसे विशुद्ध काव्यात्मक प्रेरणा से संपृक्त भावात्मक और लयात्मक साहित्यिक उपलब्धि की संज्ञा दी है। चूँकि यह विशुद्ध काव्य-शक्ति से उत्पन्न होती है, अतएव प्रगीत और काव्य समानधर्मी सिद्ध होते हैं।[1]

विलियम हेनरी 'हड्सन' ने अपनी पुस्तक 'इण्ट्रोडक्शन टु स्टडी ऑव लिटरेचर' में कुछ अन्य तथ्यों का संकेत किया है। उन्होंने प्रगीत और भावसंवेग को सम्बद्ध मानकर भावाभिव्यक्ति के संघटन पर विचार किया है। इसमें शक नहीं कि जो प्रगीत उपयुक्त अनुभूति को अभिव्यक्त करता है और अभिव्यक्ति की विश्वसनीयता से हमें प्रभावित करता है, वह अच्छा होता है। इसकी भाषा और बिंब-योजना सुन्दर, विविध और विषयोचित होती है और उसमें अनुभूति तथा अभिव्यक्ति दोनों धरातलों पर समन्वय पाया जाता है। संक्षिप्तता और केन्द्रीयता इसके प्रमुख गुण होते हैं। कभी-कभी प्रगीत के सन्दर्भ में वैयक्तिकता की बात को अनावश्यक रूप से अतिरंजित रूप में चित्रित किया जाता है। इसका प्रमुख कारण अहंकेन्द्रित वैयक्तिकता के अतिरंजित आत्मबोध का एहसास है जो अन्तर्परीक्षण, अवसाद, अशान्ति, भावात्मक अस्थिरता और प्रस्तुत यथार्थ के साथ असन्तोष के कारण स्वप्नलोक में पलायन में परिणत हो जाता है। पर यह बात न तो स्वच्छन्दतावादी कला के लिये उपयोगी है और न उसके आलोचक के लिये। इसका प्रमुख कारण यह है कि कुछ प्रगीतों में वैयक्तिकता के स्थान पर मानवीय संस्पर्श विशेष रूप से देखने को मिलता है। इससे एक बात जाहिर होती है। प्रगीत के सन्दर्भ में वैयक्तिकता के उल्लेख से हमें यह बात विशेष रूप से हृदयंगम करनी चाहिए कि भाव-विशेष यथार्थ में गीतकार के अनुभव का विषय रहा है, उसने उसे सही रूप में भोगा है। चूँकि प्रगीत से संबद्ध अनुभूति विशिष्ट प्रकार की अनुभूति होती है, अतएव उसके बोध का यह खरापन भी विशिष्ट तरह का होता है। वह केन्द्रित और समन्वित तो होता ही है, पर जल पर पड़े तैल-बिन्दु की तरह प्रसरित भी हो सकता है। मैं इसका संकेत कर चुका हूँ कि इस प्रसार में एक केन्द्रीय भाव अन्य गौण भावदशाओं से पुष्ट होकर आद्यन्त फैला रहता है। इस फैलाव में किस्म-किस्म की ध्वनि-तरंगों का उतार-चढ़ाव देखने को मिलता है। यह आरोह-अवरोह नपातुला होता है और गीत में ध्वन्यात्मक व्यंजना उत्पन्न करके उसे अन्वित करता है।

प्रगीत के इस भाव-प्रसार की क्रिया में 'ऑर्गेनिक' विकास पाया जाता है। इसे हम तीन स्तरों में विभक्त करके विश्लेषित कर सकते हैं, (१) पहली स्थिति

1. The characteristic of lyric is that it is the product of pure poetical energy unassociated with other energies and that lyric and poetry are synonymous terms.

प्रत्यक्ष भाव, प्रस्ताव, या 'सजेशन' की स्थिति होती है; (२) दूसरी स्थिति इसके प्रति बौद्धिक प्रतिक्रिया या विचारात्मक तत्त्व की होती है और (३) तीसरी स्थिति संपूर्ण विचार के निश्चित संमूर्तन, रूपायन और शान्तिपूर्ण भावदशा की होती है। प्रथम स्थिति में भाव-स्फुरण या प्रेरणा का बीजारोपण होता है। इस स्थिति में गीतकार अपने हृदय में उत्पन्न भावधारा को दूसरे तक संप्रेषित करने का उपक्रम करता है। इसके परिणामस्वरूप दूसरी स्थिति उत्पन्न होती है। इसमें भावों का विकास अथवा प्रसार होता है। इस विकास की दशा में वांछित और उपयुक्त भाव विकसित होते हैं और अवांछित तथा अनुपयुक्त भाव तिरस्कृत। यह संग्रह और त्याग की क्रिया विधायक कल्पना और बुद्धि की मुखापेक्षी होती है। विधायक कल्पना भावों को संश्लेषित करती है और बुद्धि उसे काटछाँट कर संतुलित बनाती है। तीसरी स्थिति का संबंध प्रगीत-रचना की अन्तिम दशा से होता है। इसमें बुद्धि विशेष रूप से सक्रिय रहती है और भाव शान्त हो जाते हैं। इसे हम एक उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं। दैनिक जीवन में हम प्रायः यह पाते हैं कि क्रोध, घृणा, या उत्साह की दशा में हमारे मनोभाव अचानक उद्वेलित हो उठते हैं। रह-रह कर मन में तरंगें उठने लगती हैं और थोड़ी देर के लिये संपूर्ण मानस उसी भाव-विशेष के वशीभूत हो उठता है। कुछ समय बाद इसमें स्थिरता आने लगती है। ऐसी दशा में बुद्धि कुछ सक्रिय हो उठती है और पहले की दशा पर विचार करती है। अन्त में बुद्धिवादी धरातल प्रमुख हो जाता है और वह मनोभाव को नियंत्रित कर लेता है। ये सभी अवस्थायें प्रगीत में देखने को मिलती हैं। इसके सृजन की एक वह भावभूमि होती है जहाँ कलाकार अपने भावों को व्यक्त करने के लिये विवश हो जाता है और दूसरी वह भावभूमि होती है जहाँ कलाकार विवश तो नहीं होता, फिर भी संवेग का वेग इतना सघन और तीव्र होता है कि उसका स्वरूप निर्मित हो जाता है। कुछ गीतों में साहित्य के तत्त्व प्रधान होते हैं और कुछ में गौण। कुछ ऐसे गीत भी मिलते हैं जो बाह्य विषयों से प्ररोचित होते हैं और कुछ ऐसे भी मिलते हैं जो बाह्य विषयों से आरंभ तो होते हैं, पर अपने प्रतिपाद्य द्वारा किसी अन्य सत्य को व्यंजित करने लगते हैं। कुछ प्रगीत कल्पित होते हैं और कुछ यथार्थ। पर प्रगीत का सच्चा स्वरूप वही होता है जिसमें कवि भावमय भाषा अथवा भाषामय भाव के माध्यम से अपनी अन्तरात्मा के स्पन्दन को—दिल की धड़कन को—उड़ेलने में सक्षम हो। 'सी० टी० विन्चेस्टर' ने इस दिल को उड़ेलने का विरोध किया है। उनका मत है कि प्रगीत कवि के मनोवेग की तात्कालिक अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा होने से उसमें निश्चित आदर्श का अभाव पाया जा सकता है। यह तो दरअसल उस उचित भावसंवेग से अभिव्यक्त होती है जो मानव मात्र की अनुभूति का प्रतिनिधि विषय होता है। व्यक्तित्व की संभावनायें अनन्त रूपों में अपने को अभिव्यक्त करती हैं, अतएव उसके अनुसार भाव-संवेग भी विविध प्रकार के हो सकते हैं और इसी आधार

पर प्रगीत भी तरह-तरह के हो सकते हैं। यह यथार्थ में विश्वजनीन काव्य-रूप है। विंचेस्टर महोदय का यह कहना तो अंशरूप में सही है कि प्रगीत की तात्कालिक अभिव्यक्ति नहीं होती। मैं इसे कुछ तरमीन के साथ स्वीकार करता हूँ। यह भाव की तात्कालिक अभिव्यक्ति हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। जब भावावेग या तीव्र संवेदना अभिव्यक्त होती है तो वह अपने आदर्श का स्वयं निर्माण कर लिया करती है। अनुभूति की दशा तीव्र भाव की दशा होती है, पर अभिव्यक्ति की दशा शान्ति की दशा। इसे उदाहरण द्वारा समझा जाय। जब अजस्र जलवृष्टि होती है तो अपनी सीमाओं से बँधा हुआ तालाब लबालब भर जाता है और बाँध के ऊपर से इतस्ततः बहने लगता है। जब किसी ओर बाँध काट दिया जाता है और जल को निकलने का रास्ता मिल जाता है तो वह स्थिर हो जाता है। यही स्थिति होती है तीव्र भावदशा की स्थिति में हृदय की। इससे यह साफ हो जाता है कि भाव-प्रवणता और स्वतःप्रेरित अभिव्यक्ति का प्रगीत के आरंभिक स्तर पर एक महत्त्व होता है। इसका आरंभ हृदय को प्रमथित कर देने वाले भाव-संवेग से होता है और अन्त शान्ति में। इस विवेचन पर विचार करने से हमें प्रगीत की निम्नांकित विशेषतायें मिलती हैं—

१. गेयता।
२. भावात्मक उद्वेलन, उसकी व्यापकता, शुद्धता तथा केन्द्रीयता।
३. भावान्विति।
४. संक्षिप्ता।
५. स्वाभाविकता।
६. आत्माभिव्यक्ति।
७. कोमलकान्त पदावली और उपयुक्त गेय संघटना।
८. अनुभूति और बुद्धि का युगपत संबंध।

इन विशेषताओं को ध्यान में रखकर प्रगीत को हम अधोलिखित रूप में परिभाषित कर सकते हैं :—

प्रगीत कवि के व्यापक, शुद्ध तथा केन्द्रीय भावात्मक उद्वेलन की वह अभि-व्यक्ति है जिसमें गेयता, संक्षिप्तता और स्वाभाविकता के साथ ही भावान्विति का उचित विधान पाया जाता है। इसमें अनुभूति और बुद्धि तथा भाषा और भाव का संग्रथन विशेष महत्त्वपूर्ण होता है।

वर्गीकरण

प्रगीत के विवेचन में हमने भावात्मक उद्वेलन की बात उठाई है। यह उद्वेलन चित्तवृत्ति, परिस्थिति और उद्दीपन की सामग्री के अनुसार विविध रूप में प्रकट होता है। इसीलिये हमें तरह-तरह के प्रगीतों का दर्शन होता है। हर साहित्य

में इनके वर्गीकरण के आधारों की छानबीन हुई है, पर सभी विचारक किसी एक दृष्टि से सहमत नहीं हो सके हैं। सहूलियत के लिये हम कुछ मतों का उल्लेख करते हैं। 'गभर' प्रगीत को भावशोधक मानते हैं। भावशोधन तभी संभव होता है जब उसका किसी माध्यम द्वारा उद्दीपन संभव हो। उसी भावोद्दीपन के आधार पर उन्होंने प्रगीत के अधोलिखित सात रूपों का उल्लेख किया है, (१) धार्मिक प्रगीत, (२) देशप्रेम-विषयक प्रगीत, (३) प्रेमगीति, (४) शोकगीति, (५) विचारात्मक प्रगीत, (६) प्रकृति-प्रगीत, (७) उत्सव-संबंधी गीति। उन्होंने स्फुट गीतों का उल्लेख भी किया है, वीराख्यानक गीत (Lyrical Ballad), चतुर्दशपदी (Sonnet) तथा एपिग्राम प्रमुख हैं। 'ड्रीवर' महोदय ने भावाभिव्यक्ति के आधार पर इन्हें विभाजित किया है और संबोधनगीत, चतुर्दशपदी, भक्तिगीत, शोकगीत, प्रार्थना-गीत (भजन) को उल्लेख्य माना है। उन्होने इस पर और प्रकाश डाला है। बाद में डॉ० 'आर० एम० एल्डेन' ने इस उपर्युक्त विभाजन को अपूर्ण और एकांगी मानकर इसका पुनः विभाजन किया है। उनकी दृष्टि से विभाजन के लिये हमें अन्तरंग और बहिरंग दोनों स्वरूपों पर विचार करना चाहिए। अन्तरंग को हम विषयवस्तु की संज्ञा देते हैं और बहिरंग को अभिव्यंजना की। विषयवस्तु की दृष्टि से हम प्रगीत को प्रेम, प्रकृति, राष्ट्रप्रेम, भक्ति, विनय, विचार, और दर्शन आदि से संबद्ध पाते हैं और अभिव्यंजना की दृष्टि से इसे चतुर्दशपदी, संबोधनगीत, शोकगीत, गीत, पत्रगीत, हास्य और व्यंग्य गीत (Satire), सूत्रगीत (Epigram), वीरगीत, नाट्य गीत आदि में।

चतुर्दशपदी

इतालवी में Sonnet के लिये Sonneta शब्द का प्रयोग किया जाता है, अतएव उसे हम इसी से व्युत्पन्न मानते हैं। हिन्दी में 'सोनेट' को चतुर्दशपदी कहा जाता है। इसमें चौदह पंक्तियाँ होती हैं; प्रत्येक पंक्ति में पाँच पद पाये जाते हैं और प्रत्येक पद में प्रथम शब्दांश ह्रस्व तथा दूसरा दीर्घ होता है। साहित्य में इस गीत के दो आदर्शों का उल्लेख मिलता है, (१) पेट्रार्क की चतुर्दशपदी का आदर्श; (२) सुरी, वायट तथा शेक्सपीयर की चतुर्दशपदी का आदर्श। पहला आदर्श अपनी विशेषताओं के लिये विशेष ख्याति-प्राप्त है। इस निकाय के सानेट अष्टपदी और षट्पदी में विभक्त होते हैं। अष्टपदी भी दो चतुष्पदी में बँटी होती है। पहले के चार पदों में किसी केन्द्रीय भाव की व्यंजना की जाती है और बाद की चार पंक्तियों में इसे स्पष्ट बनाया जाता है और गेयता को नया मोड़ दिया जाता है। अन्त की छः पंक्तियाँ भी दो भागों में बँटी रहती हैं। प्रथम तीन पंक्तियों में वही भाव नये रूप में व्यंजित किया जाता है और अन्तिम तीन पंक्तियों में वह पूर्ण रूप से विकसित होकर शान्त हो जाता है। प्रथम आठ पंक्तियों को 'ऑक्टेव' (Octave) और छः पंक्तियों को 'सस्टेट' (Sustet) कहा जाता है। स्पष्ट है कि 'आक्टेव' में पहली पंक्ति से आठवीं पंक्ति तक एक केन्द्रीय भाव रहता है, इसे

भावरोह की अवस्था कहा जाता है। इसमें पहली पंक्ति में बीजरूप में प्रस्तुत किये गये विचार को आठ पंक्तियों में विकसित और स्पष्ट बनाया जाता है। अन्य छः पंक्तियों में इनका अवरोह देखने को मिलता है। इसकी तुलना ज्वार-भाटे से की जा सकती है। 'ऑक्टेव' की तुकबन्दी अबबअ, अबबअ तथा 'सस्टेट' की तुकबन्दी अनिश्चित होती है। इसे सद, सद, सद या सदय, सदय द्वारा प्रकट किया जा सकता है। अंग्रेजी सॉनेट में तीन चतुष्पद और एक युग्म होता है। उसके तुक के प्रत्येक संघटक की अपनी स्वतंत्र सत्ता होती है और एक तुक का क्रम अब अव, सद सद, यफ यफ, गग के द्वारा स्पष्ट क्रिया जाता है।

चतुर्दशपदी की कुछ विशेषतायें है। यह सौन्दर्य, आकर्षण, संघटन और संवेग-निरूपण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होती है। यह स्वतः में पूर्ण होती है और किसी एक विचार, प्रत्यय या भाव-संवेग को अभिव्यक्त करने का सफल साधन मानी जाती है। आरंभ में इसका स्वरूप गेय था जो आज भी किसी न किसी रूप में सुरक्षित है। एक विचारक ने चतुर्दशपादी और गेय कविता के विभेद को स्पष्ट करते हुए कहा है, प्रथम हमें सुव्यवस्थित वाटिका की सुरभि (Fragrance) की तरह प्रभावित करती है और दूसरी हमें मार्ग के किसी पार्श्व में खिले फूल की तरह। 'डाण्टे ग्रैबियल रोजेटी' चतुर्दशपदी की विशेषता से अच्छी तरह परिचित था। उसका कहना है, "यह एक विचार-प्रवण क्षण का पुण्य प्रतीक है। यह हृदय की व्यापक शाश्वतता तथा विगत जीवन की महत्त्वपूर्ण स्मृति की अनुभूतिमय अभिव्यक्ति है।"[1] उसने इसी बात को और भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि चतुर्दशपदी अन्तर्द्वन्द्वपूर्ण क्षणों से उत्पन्न होती है। वह या तो परमानंद को व्यक्त करती है, या परम नैराश्य को। यह आत्मनियंत्रण की शक्तियों को समन्वित करती है, इसीलिये इसकी तुलना उस सिक्के से की जा सकती है जिसका मुखभाग आत्मा को प्रकट करता है और पृष्ठ भाग उस स्वरूप का परिचय कराता है जिसकी आत्मा ऋणी है।[2] इसकी संघटनात्मक पूर्णता की ओर भी संकेत किया गया है और इसे कलात्मक ढंग से गढ़े गये कीमती अलंकार अथवा कौशल के साथ उरेहे गये छोटे चित्र की संज्ञा दी गई है।[3] स्वच्छन्दतावादी

1. A sonnet is a moment's monument
   A memorial from soul's eternity
   To one dead deathless hour.
2. A sonnet is a coin, its face reveals the soul,
   Its converse to what power it is due.
3. A pearly shell
   That murmurs of the far off murmuring sea,
   A precious jewel carved most curiously.
   It is a little picture painted well.

कवि 'वड्र्सवर्थ' ने इसकी प्रशस्ति में कहा था, "हे आलोचक ! तुम चतुर्दशपदी से व्यर्थ ही चिढ़ गये हो। तुम्हें इसके गुण का पता नहीं है। इसी के माध्यम से 'शेक्सपीयर' ने अपने हृदय की भावनाओं को मुक्त किया था। इसी की छोटी बाँसुरी की मधुर ध्वनि ने 'पेट्रार्क' के घाव को ठीक किया था, इसी की मधुर ध्वनि को 'तासो' ने सहस्रों बार मुखरित किया था, इसी के द्वारा 'कैमोएन' ने अपने देश से निर्वासित होने के दरद को भुलाया था, इसी के पत्ते से 'दान्ते' ने अपनी स्वप्निल भौंहों को अलंकृत किया था, इसी की प्रभा-मण्डित ज्योति से 'स्पेंसर' को विषम परिस्थितियों में भी परी की कहानी कहने और प्रसन्न होने की क्षमता प्राप्त हुई थी और जब उसकी ज्योति मन्द हो गई तो वह 'मिल्टन' की सहयोगिनी हुई। इस हालत में भी उसने उस मंद स्वर का उद्घोष किया जिसमें सुप्त आत्मा को जगाने की क्षमता थी।[1] 'वर्ड्सवर्थ' ने कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य छोड़ दिया, अगर उसने लिख दिया होता कि स्वच्छन्द धारा के लेखकों के हाथ में पड़कर यह नये प्रयोग और नये अभिव्यंजना-कौशल का परिचायक बन गयी तो संभवतः यह विशेषता का चक्र पूरा हो गया होता।

संबोधनगीत (O. D. E.)

'ओड' ग्रीक भाषा के 'ओंडे' से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है गीत। ध्यान रखना चाहिए कि यूनानी त्रासदी में समूह-गान के रूप में प्रगीत का प्रयोग किया जाता था। ये समूह-गान संबोधनगीत के प्रमुख प्रेरणा-स्रोत रहे। 'हड्सन' ने अपनी पुस्तक 'ऐन इन्ट्रोडक्शन टु स्टडी ऑव लिटरेचर' में 'ओड' की दो परिभाषायें उद्धृत की हैं। पहली परिभाषा 'न्यू इंगलिश डिक्शनरी' से ली गई है और दूसरी परिभाषा एडमण्ड गौस की पुस्तक 'इंगलिश ओड्स' से। पहली परिभाषा के अनुसार

---

1. Scorn not the sonnet, critic, you have frowned,
Mindless of its just honours, with this key
Shakespeare unlocked his heart, the melody
Of this small flute gave ease to Petrarch's wound;
A thousand time this pipe did Tasso sound
with it camoens soothed and exiles grief;
The sonnet glittered, a gay myrth leaf
Amid the cypress with which Danted crowned
His visionary brow, a glow worm lamp
It chequered mild spenser, called from fairy land
To struggle through dark ways, and when a damp
Fell round the path of milton, in his hand
The thing became a trumpet, whence he blew
Soul animating strains—alas ! too few,

'ओड' संबोधन के रूप में लिखा गया ऐसा प्रगीत-रूप है जिसके विषय, शैली और अनुभूति उदात्त तथा वैभवपूर्ण होते हैं। यह प्रायः तुकान्त पर कभी-कभी अतुकान्त भी होता है।"[1] गौस का कहना है, ओड निश्चित उद्देश्य की ओर उन्मुख और किसी महत्त्वपूर्ण विषय का प्रगतिशील ढंग से निरूपण करने वाला ऐसा प्रगीत है जिसे उत्कृष्ट गीतिशैली में रचा जाता है।[2] स्पष्ट है कि, (१) यह संबोधन शैली में रचा जाता है। (२) इसके विषय, अनुभूति और शैली उदात्त होते हैं। (३) यह प्रायः तुकान्त पर कभी-कभी अतुकान्त भी होता है। (४) यह सदैव किसी न किसी निश्चित उद्देश्य की ओर उन्मुख रहता है। 'ओड' के दो रूप पाये जाते हैं, (१) नियमित (Regular) और (२) अनियमित (Irregular)। नियमित संबोधनगीत एक आदर्श का अनुगमन करता हैं और अनियमित नहीं। प्रथम प्रकार के संबोधन गीतों को निश्चित ढाँचे में सँवारने और उन्हें उपयुक्त साज-सज्जा अथवा बनावट और बुनावट प्रदान करने का काम पिण्डार के हाथों संपादित हुआ था, अतएव उन्हें 'पिण्डारिक ओड' भी कहते हैं। 'होरेस' ने बाद में उस आदर्श में कुछ तरमीम या काट-छाँट की। उसके अनुगमन पर लिखे गये संबोधनगीत को 'होरोशियन ओड' कहते हैं। 'पिण्डार' की 'ओडो' में एक जटिलता और पेचीदगी पाई जाती थी। 'होरेस' ने इसे समाप्त करके सरल और सुविधाजनक रूप प्रदान किया। इसकी छन्द-योजना जटिल होती है। प्रमुख आलोचक डॉ० विक्रमादित्य 'राय' का कहना है, ओड प्रशिक्षित गायक मण्डली के द्वारा देव-प्रतिमा के समक्ष गाये जाते थे। पद्य का एक खण्ड रखते हुए वे पूरब से पश्चिम की ओर घूमते थे; पुनः विपरीत दिशा में घूमते हुए दूसरा अंश गाते थे। इसके पश्चात् प्रतिमा के समक्ष खड़े होकर तीसरा अंश समाप्त करते थे। यह क्रम कई बार दुहराया जाता था। इनका पारिभाषिक नाम था, प्रथम चक्कर की मुद्रा (strophe), उसके विपरीत चक्कर की मुद्रा (antistrophe) और मूर्ति के समक्ष खड़े होकर गाये जाने वाले गीत का अन्तिम भाग (epode)।

संबोधनगीतों में भाव और भाषा का प्रवाह अन्य गीतों की तुलना में अधिक स्वच्छन्द होता है। यह प्रगीत से कुछ दृष्टियों में भिन्न होता है। प्रगीत के सृजन में पूर्व-व्यवस्था का अभाव पाया जाता है, पर संबोधनगीत में नहीं। प्रगीत किसी महत्त्वपूर्ण क्षण की प्रादुर्भूति होता है और उसमें केवल एक संवेग या विचार पाया जाता है, पर संबोधनगीत का काल-प्रसार व्यापक होता है और उसके भिन्न-भिन्न पदों में कई तरह के भाव-संवेग निरूपित होते हैं। प्रगीत की तकनीक प्रभाववादी

---

1. A rimed, (rarely unrimed lyric), often in form of an address generally dignified and exalted in subject, feeling and style.

2. Any strain of enthusiastic, or exalted lyrical verse, directed to a fixed purpose and dealing progressively with dignified theme.

होती है, पर संबोधनगीत की जटिल तुकान्त (कभी-कभी अतुकान्त) छन्द-योजना पर आधारित । प्रगीत वैयक्तिक होता है, पर संबोधन गीत निर्वैयक्तिक भी हो सकता है ।

शोकगीत (Elegy)

इस गीत-रूप के द्वारा किसी मित्र, सम्वन्धी या प्रियजन की मृत्यु पर शोक प्रकट किया जाता है । आरंभ में इसका स्वरूप कुछ भिन्न था । यह 'एलेजिअक' तुक में लिखा और बाँसुरी पर गाया जाता था । 'जेब' (Jebb) की धारणा है कि आरंभ में यूनानी शोकगीत के विषय कई तरह के थे, जिनमें कवि के शहर में लड़े जाने वाले युद्ध, नागरिकों में उपस्थित प्रवंचक राजनीतिज्ञ, कवि के द्वारा अभीप्सित और निर्देशित नियम, समकालीन व्यवस्था पर कवि की राय, जीवन को आनंदपूर्ण ढंग से भोगने के स्वरूप तथा मृतक के लिये शोक प्रमुख थे ।[1] प्राचीन शोकगीत निश्चित तुक और छन्द में लिखा जाता था । बाद में उसका स्वरूप बदला और उसमें करुणा का प्राधान्य हो गया । 'कोलरिज' ने इसीलिये इसे भावुक और चिन्तन-प्रधान मस्तिष्क के लिये अधिक उपयुक्त माना । उसकी यह मान्यता सर्वांशतः ठीक थी । पर उससे यह समझने की गलती नहीं करनी चाहिए कि इसमें संवेदना का अभाव होता है । सत्य है कि शोकगीत में भावसंवेग तथा अभिव्यक्ति-कौशल, दोनों पर ध्यान दिया जाता है । अव इसमें व्यक्ति की मृत्यु पर शोक प्रकट किया जाता है । यह व्यक्ति विशेष ख्याति-प्राप्त होता है तो उसका अभिव्यक्ति-कौशल कुछ जटिल हो जाता है । लेखक व्यक्ति-विशेष के व्याज से उन सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक आदर्शों की व्याख्या करता है जिनका व्यक्ति के जीवन से संबंध होता है । वह व्यक्ति के गुणों का जी भरकर गान करता है, पर उसी सन्दर्भ में जीवन और मरण के बुझौवल को बुझाने से भी बाज नहीं आता । संक्रान्ति-युगीन कवि की दृष्टि कभी-कभी ऐसी विषमता से उलझ जाती है जो मानसिक अन्तर्द्वन्द्व पर आधारित होती है । शोकगीत का एक प्रमुख भेद गोचारण शोकगीत होता है । इसमें कवि गड़रिये के छद्मवेष में किसी स्वजन की मृत्यु पर अपने शोक-संतप्त हृदय के उद्गार को प्रकट करता है । इसके परिवेश में ग्राम्य दृश्यों और गोचारण के क्रियाकलापों की अधिकता होती है ।

तात्पर्य यह कि शोकगीत कवि की अन्तरात्मा के करुण क्रन्दन की अभिव्यक्ति

---

1. "Greek elegy", says Gebb, "deals with greateast variety of subjects—the wars which poets city is waging, the political feuds among the citizens, the laws or principles which the poet wishes them to adopt, his own opinions on manners and morals of the day, his views as to the best way of enjoying life, festive pleasures, lamentations for the dead—everything that the poet or his friends want to talk.

होता है। मृत्यु तो एक बहाना मात्र है, उसकी ओट में कवि अपने विचारों के अन्तर्द्वन्द्व को प्रकट करता है। इसमें आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता होती है।

व्यंग्यगीत (Satire)

वीररसाभासी काव्य का जिक्र करते समय हमने व्यंग्य का उल्लेख किया है। दरअसल साहित्य में व्यंग्य का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण होता है। व्यंग्य सदैव बौद्धिक होता है। उसका उद्देश्य न तो कोरा उपदेशवादी होता है और हास्यवादी। उसका दृष्टिकोण तो परिष्कृत ढंग से समाज के ऐसे स्वरूप पर प्रहार करना है जो सड़ा-गला और कुरीति से भरा है। व्यंग्य-लेखक सिद्धहस्त कलाकार होता है। उसे सदैव यह ध्यान में रखना पड़ता है कि वह साहित्यकार है और लेखन में कम से कम इस उत्तरदायित्व को निबाहना है। डॉ० विक्रमादित्य 'राय' ने ठीक ही कहा है, सैटायर चमकती हुई तलवार के धार की तरह होता है। इससे बुराई का सिर तो अलग हो जाता है, किन्तु घाव का चिह्न भी देखने को नहीं मिलता। अनाड़ी लेखकों के हाथ में तो यह कसाई के चाकू-सदृश सिद्ध होता है जिससे शिकार का अंग तो शत-विक्षत हो जाता है, परन्तु कट कर अलग नहीं होता।[1] कबीर ने अपनी साखी में कहा था—

मार्‌या है सो मरेगा, बिन सर थोथी भाल।
पड़्‌या पुकारे बिरिछ तर आज मरे कै काल।

व्यंग्यगीत भी यही काम करता है। वह आदमी की कमजोरी मारता है, उसकी देह नहीं। पर यह तो तब संभव है जब 'शब्द की चोट लगी मेरे तन पर वेध गया तन सारा' की बात चरितार्थ हो। यह 'शब्द की चोट' तब होती है जब लेखक का दृष्टिकोण संतुलित, अन्तर्दृष्टि खरी और बुराई का बोध साफ-सुथरा और सुलझा होता है। व्यंग्य-काव्य शैली की दृष्टि से तीन तरह के होते हैं, (१) वीररसाभासी व्यंग्य-काव्य (Mock Heroic Poetry), (२) मिथक शैली में लिखा व्यंग्य-काव्य (Mythical Method) और (३) अध्यवसित रूपक की शैली का व्यंग्य-काव्य (Allegorical Satire)। वीररसाभासी व्यंग्य-काव्य का उल्लेख हो चुका है। अब हम अध्यवसित रूपक की शैली में लिखे व्यंग्य को लेते हैं। कहना न होगा कि इस प्रकार के रूपक के द्वारा हम किसी अमूर्त विचार को मूर्त और चित्रोपम रूप में व्यक्त करते हैं, इसके माध्यम से हम मूक को मुखर और अमूर्त को मूर्त बनाते हैं। रूपक अर्थ-विस्तार में सहायक और सादृश्य-गर्भित होता है। जब अध्यवसित रूपक को व्यंग्य-काव्य का माध्यम बनाया जाता है तो उस स्थिति में यह एक साधन का काम करता है। इसके द्वारा हम आधुनिक जीवन की विद्रूपता, आडंबर और कृत्रिमता पर प्रहार करने हैं। ऐसा करने के लिये लेखक किसी पौराणिक आख्यान अथवा काल्पनिक

---

१. देखिये काव्य समीक्षा।

घटना को चुनता है और उसे इस रूप में नियोजित करना है कि वह आधुनिक विषमता पर प्रहार कर सके। यही विशेषता मिथक शैली के व्यंग्य-गीत की भी होती है। मिथक का निर्माण धर्मचेतना, कर्मकाण्ड और विश्वास से होता है। इनके विविध स्तर उसमें क्रियाशील पाये जाते हैं। इसीलिये जब व्यंग्य-लेखक को इनके कृत्रिम स्वरूपों पर प्रहार करना होता है तो वह ऐसे मिथकों को चुनता है जो उसके उद्देश्य की पूर्ति में सफल हों। 'इलियट' का 'वेस्टलैण्ड' इसका जीता-जागता नमूना है।

नाट्य-गीति

इस प्रकार के प्रगीत में दो तत्त्व आपस में घुले-मिले रहते हैं : (१) नाटक के तत्त्व और (२) प्रगीत के तत्त्व। इसमें कथा, संवाद, चरित्र-योजना और अन्तर्द्वन्द्व का समावेश पाया जाता है। ये तत्त्व नाटक के तत्त्व भी हैं। इसमें आत्माभिव्यक्ति, भावसबलता और अन्विति तथा प्रभावोत्पादकता भी पाई जाती है। ये विशेषतायें प्रगीत में भी पाई जाती हैं। स्पष्ट है कि नाट्य-गीति 'यथा नाम तथा गुण' को कहावत को चरितार्थ करती है। गीत के साथ नाटक का प्रयोग विरोधाभासी है, वैसे ही विरोधाभासी, जैसे उपन्यास के साथ इतिहास का प्रयोग। पर जिस तरह दूसरा रूप आज प्रचलित है, उसी तरह पहला रूप भी चल गया है। चलती का नाम गाड़ी है तो फिर इससे चौंकने की क्या जरूरत। हाँ, तो हम कह रहे थे कि गीति-नाट्य प्रगीतों का समुच्चय है जिसमें कोई पौराणिक, ऐतिहासिक, काल्पनिक या भाव-प्रधान संक्षिप्त कथा आद्योपान्त विद्यमान रहती है, पर गीतकार उसे इस रूप में नियोजित करता है कि वह नाटक के वाह्य कार्य-व्यापार और संघर्ष से सर्वथा मुक्त हो जाय। इसमें जीवन के भाव जगत् के अमूर्त कार्य-व्यापार मूर्त रूप में प्रकट किये जाते हैं। संपूर्ण कविता में गेयता का संचार किया जाता है और केवल ऐसे पक्षों को उद्घाटित किया जाता है जो परिस्थिति के अनुकूल, मर्मस्पर्शी और व्यंजक हों। इसकी मूल चेतना भाव प्रवण होती है और वही इसे अर्थवान् भी बनाती है। लेखक अपने को पात्र विशेष की मनोदशा में रखकर लिखता है और उसे अधिक से अधिक सारगर्भित ढंग से अपनाने के लिये अन्य साधनों का उपयोग भी करता है। गीति-नाट्य पात्र-विशेष के परिस्थिति-विशेष के कारण उद्बुद्ध अन्तर्द्वन्द्व को भावात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। इसमें पात्रों की संख्या अल्प और उसकी संघटना अभिव्यंग्य-केन्द्रीय भाव के उपयुक्त होती है। गीति-नाट्य का वक्ता स्वयं कवि होता है और उसका प्रतिपाद्य आत्माभिव्यक्ति। नाट्य-तत्त्वों के समावेश के कारण इसमें अभिनेयता भी पाई जाती है।

नाट्य-गीति का एक प्रमुख प्रकार वैयक्तिक नाटकीय आत्मकथन (Dramatic monologue) होता है। अंग्रेजी साहित्य में दो शब्दों से हमारा साक्षात्कार होता

है : (१) सोलिलोकी (Soliloquy) और (२) मोनोलॉग (Monologue)।'सोलिलोकी' लातिन भाषा के सोलस (Solus) और लोकी (Loqui) से निष्पन्न हुआ है। सोलस का अर्थ होता है अकेले या एकान्त और लोकी का अर्थ होता है कथन या भाषण। इस तरह सोलिलोकी का अर्थ होता है एकान्त कथन । इसी तरह मोनोलॉग (Monologue) यूनानी भाषा के मोनोस (Monos) और लोगॉस (Logos) से निष्पन्न हुआ है और इसका अर्थ भी अकेले भाषण होता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से ये दोनों समानार्थी सिद्ध होते हैं, पर इनमें भिन्नता होती है। मोनोलॉग, सोलिलोकी से व्यापक होता है। अगर हम पहले को 'जीनस' मानें तो दूसरे को प्रजाति (race) कह सकते हैं। वैयक्तिक नाटकीय कथन एक व्यक्ति का कथन होता है। यह किसी को संबोधित किया जाता है। इसे कला की स्वतंत्र इकाई माना जा सकता है। ऐकान्तिक आत्मकथन (Soliloquy) किसी एकाकी व्यक्ति का अपने से वार्तालाप होता है। 'आर्नल्ड' ने इसे अपने मानस का अपने ही मानस से वार्तालाप की संज्ञा दी थी। इसमें व्यक्ति के भाव-जगत् और बुद्धि-जगत् के अनेक द्वन्द्व रूपायित होते रहते हैं। यह वैयक्तिक भाषण प्रतियोगिता का एक प्रकार होता है। इस प्रकार वैयक्तिक-नाटकीय कथन और ऐकान्तिक आत्मकथन का भेद स्पष्ट है। वैयक्तिक-नाटकीय कथन भी नाट्य-गीति की तरह किसी न किसी महत्त्वपूर्ण परिस्थिति से परिचालित होता है, अतएव इसके द्वारा ऐतिहासिक, पौराणिक या कल्पित चरित्र की प्रकृति का पूर्ण ज्ञान होता है। "इस प्रकार के काव्यों का ध्येय होता है मानव-आत्मा के विविध रूपों की अनेक पात्रों के द्वारा व्यंजना; और, इसकी सफलता इस बात पर आधारित रहती है कि लेखक भिन्न स्वभाव, व्यवसाय, प्रवृत्ति तथा चरित्र वाले पात्रों से पूर्ण तादात्म्य स्थापित करके परिस्थिति-विशेष को उसी की आँख से देखने में सफल है या नहीं।" वैयक्तिक-नाटकीय कथन में आत्म-विश्लेषण का कलात्मक निरूपण मिलता है।

वैयक्तिक-नाटकीय कथन की कई पद्धतियाँ देखने को मिलती हैं। नाटक में इसे Aside के रूप में प्रयोग में लाया जाता है। यह संक्षिप्त भाषण होता है जो धीरे या जोर से बोला जाता है। यह नाटक के किसी एक पात्र या पूरी दर्शक-मण्डली को सुनने के ध्येय से कहा जाता है। कभी-कभी इसका उपयोग चरित्र की विशेषता को दिग्दर्शित करने के लिये भी किया जाता है। काव्य के क्षेत्र में इस पद्धति का उपयोग करने वाले 'ब्राउनिंग' महोदय हैं। इस पद्धति में लिखा गया वैयक्तिक-नाटकीय कथन 'करैक्टर स्केच' प्रस्तुत करता है। इसे ऐसे नाट्य-गीति की संज्ञा दी जा सकती है जो निश्चित कथासूत्र के संक्षेपीकरण पर आधारित होता है और एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति या समुदाय के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। 'ब्राउनिंग' ने ही अपने 'मोनोलॉग' में सबसे पहले गेयता के साथ नाटकीयता का समावेश किया था। चेतना-प्रवाहवादी लेखकों ने इसका उपयोग भिन्न रूप में किया है।

मुक्तक

मुक्त का अर्थ होता है स्वतंत्र, अन्यनिरपेक्ष, अथवा अपने आप में स्वतः-पूर्ण । 'मुक्त' शब्द में कन प्रत्यय के योग से इसी अर्थ-संहति में 'मुक्तक' शब्द निष्पन्न होता है । अतएव इस दृष्टि से मुक्तक काव्य से उस काव्य का तात्पर्य होता है जो पूर्वापर-संबंध-निरपेक्ष भाव से रसाभिनिवेश में सहायक सिद्ध हो । संस्कृत काव्यशास्त्र में अनेक विचारकों ने इसे अपना विवेच्य बनाया है, पर काव्य में इसे प्रतिष्ठित करने का श्रेय ध्वनि के आचार्यों को है । भारतीय विचारक काव्य को दो श्रेणियों में विभक्त करते हैं : (१) बद्ध और (२) अनिबद्ध । बद्ध काव्य को प्रबंधकाव्य की संज्ञा भी दी जाती है और प्रबंधेतर काव्यों को अनिबद्ध काव्य की । 'हेमचन्द्र' ने तो 'अनिबद्ध' मुक्तकादि कहकर इसी बात का अनुमोदन किया है । दरअसल मुक्तक काव्य की चार विशेषतायें हैं, (१) वह पूर्वापर-संबंध-निरपेक्ष होता है, (२) वह कथाबंध से भी मुक्त होता है, (३) एक छन्द में लिखा जाता है, (४) रसचर्वणा में सहायक होता है, अथवा चमत्कार उत्पन्न करता है । इसे ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि मुक्तक वह अनिबद्ध या स्फुट पद्यबद्ध रचना है जो किसी एक छन्द में लिखी जाती है और पूर्वापर-संबंध-निरपेक्ष होती है । इसका प्रमुख उद्देश्य रसचर्वणा में सहायक होना या चमत्कार उत्पन्न करना होता है । मुक्तक काव्य की शैली विशिष्ट होती है और उसके प्रत्येक छन्द में स्वतःपूर्ण और स्वतंत्र भावों की योजना की जाती है । अतएव इसके लेखक के लिये विशेष कौशल की अपेक्षा होती है । यही कारण है कि मुक्तकों में दो तरह की विचारधाराओं का समावेश हो गया है । पहली विचारधारा तो वह है जो भाषा की तड़क-भड़क, शब्दालंकारों की चमक और ऊहात्मक उक्तियों के चाकचक्य से हमें थोड़े समय के लिये चमत्कृत कर देती है और हमारा दिमाग़ कुछ समय तक उसकी कलाबाजी या पेचीदगी को समझ कर उस पर वाह-वाह करता रहता है, पर दूसरी तरह के लोग वे हैं जो मुक्तकों के द्वारा 'गागर में सागर भरने' की बात को सही माने में सिद्ध कर देते हैं । पहले में आचार्यत्व अधिक होता है और दूसरे में मुक्त हृदय का मर्मस्पर्शी स्पन्दन । अगर हम मध्यम मार्ग को अपनायें और इसे दूसरे शब्दों में व्यक्त करें तो हम कह सकते हैं कि मुक्तक आचार्यत्व की क्रोड़ में पलनेवाला मुक्त हृदय का चमत्कारपूर्ण तथा भावमय जीवन-स्पन्दन है जो हमें अल्पकाल तक रसमग्न कर देने या चमत्कृत कर देने में सक्षम होता है । कहना न होगा कि मुक्तक के इस स्वरूप का उद्भव उस निश्चित देश-काल में हुआ था जब कवि की नाटकीय प्रतिभा क्षीण हो गई थी और उसके स्थान पर प्रगीत-प्रतिभा उमड़ कर सामने आने लगी थी, अथवा उसकी जीवन्त महाकाव्यीय प्रतिभा कुण्ठित हो गई थी और उसके स्थान पर जीवन की गेय भावुकता सुगबुगाने लगी थी । मुक्तक के उद्भव का काल कला के संरक्षण का काल

होता है। इस समय कवि जीवन के व्यापक स्वरूप को छोड़ कर राज-दरबार की अभीप्सित सीमाओं में बँध जाया करता है और राजा की इच्छा का दासानुदास बन जाया करता है। ऐसी स्थिति में न तो प्रबंधकाव्य के आस्वादन के लिये स्थान रह जाता है और न उसकी व्यंजना को समझने और उसे जीवन में उतारने के लिये अवकाश मिलता है। दरबारी संस्कृति शृंगार की क्रोड़ में पलती है, और चमत्कार उसका प्रमुख उपजीव्य होता है। शृंगारातिरेक से कभी-कभी निर्वेद का ज्ञान भी हो जाया करता है, पर यह ज्ञान स्थायी नहीं होता। उस काल के मुक्तकों में शृंगार और चमत्कार को भरकर उनका आकंठ उपभोग किया गया है। इन मुक्तकों के उद्भव का एक और भी कारण है। उस समय तक देश में अरबी और फारसी का प्रचलन हो गया था। उसमें रचे गये मुक्त पद आसानी से लोगों को थोड़े समय के लिये वाहवाही में डुबो देते थे। हिन्दी कवियों ने इस सस्ती वाहवाही को वहीं से ग्रहण किया और उसकी विशेषता को अपनाने की कोशिश भी की। इस परंपरा से भी मुक्तक पर्याप्त समृद्ध हुआ।

नाटक / ३

अगर हमसे यह पूछा जाय कि वह कौन-सा साहित्य-रूप है जिसमें प्रायः सभी कलाओं का उपयोग तो किया जाता है, पर उसकी निजी विशेषता बनी रहती है तो हम बिना हिचक के कह पड़ेंगे नाटक। यह उत्तर पूर्णतः सत्य भी होगा। कहना न होगा कि नाटक में स्थापत्य, चित्र, संगीत और काव्य का प्रभावोत्पादक ढंग से उपयोग किया जाता है। इसी लिये 'काव्येषुनाटकं रम्य' की बात आज भी सारगर्भित और अर्थपूर्ण बनी हुई है।

हम सबसे पहले नाटक की उत्पत्ति की बात उठाते हैं। इस संबन्ध में कई मत सामने आये हैं। आरंभ में हर बात की उत्पत्ति को दैवी सिद्धान्त से जोड़ने की प्रथा चल पड़ी थी। नाटक अपवाद न था। इस सन्दर्भ में हम एक आख्यान का उल्लेख करते हैं। जनश्रुति है कि आचार्य 'भरत' से उनके पुत्रों-प्रपौत्रों ने यह प्रश्न किया कि नाटक क्यों रचा गया? उन्होंने बताया कि नाट्यवेद के आदि रचयिता ब्रह्मा थे। इसकी रचना का एक उद्देश्य था। त्रेता युग का व्यक्ति अपने सहज स्वरूप को भूल कर माया और मोह से ग्रसित हो गया था। देवता मनुष्य के इस अधःपतन से दुःखी थे। अतः उन्होंने मिलकर ब्रह्मा से निवेदन किया कि आप प्राणियों के उद्धार के लिये किसी ऐसे पंचमवेद की रचना कीजिये जो दृश्य और श्रव्य होने के साथ ही मनोरंजक और आनंदप्रद हो। ब्रह्मा ने देवताओं की बात मान ली और चारों वेदों से इसकी रचना की सामग्री ग्रहण की। ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर नाट्यवेद की रचना की गई।

पाश्चात्य विद्वानों में भी अर्द्धदैवी सिद्धान्त प्रचलित था। वे नाटक की उत्पत्ति यूनान से मानते थे। यूनान में 'डाओजीशियन' और 'बैक्कुस' नाम के देवताओं की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। वे पहले को जीवन के वैभव और विकास का परिचायक मानते थे और दूसरे को सुरा का द्योतक। यूनानवासी इन देवताओं की पूजा के लिये नृत्य और गीत का आयोजन किया करते थे। कालान्तर में यही प्रवृत्ति नाटक की उत्पत्ति की जननी बनी। बाइबिल के 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' के अनुसार इसके प्रथम रचयिता 'मोज़ेज़' महोदय थे।

आज के वैज्ञानिक युग में हर बात की दैवी उत्पत्ति भ्रामक सिद्ध हो चुकी है और यह प्रायः प्रमाणित हो चुका है कि नाटक के निर्माता देव नहीं, मानव थे और यह लोक-जीवन की परिस्थिति या आवश्यकता-विशेष को ध्यान में रख कर रचा गया था। फिर प्रश्न उठता है, इस दैवी उत्पत्ति के आख्यान का क्या अर्थ है ? मैं मानता हूँ कि हर निजंधरी कथा की तरह इसकी भी अपनी व्यंजना और उपयोगिता है जो इसकी विशेषताओं को कुछ भिन्न रूप में हमारे सामने रखती है। सबसे प्रमुख बात यह है कि नाटक के सृजन की एक प्रेरणा होती है। आदिमानव ने इसकी रचना निरास्था से मुक्ति पाने, जीवन में आदर्श को स्थापित करने और आनंद की उपलब्धि के लिये की थी। उसे यह ज्ञात था कि जीवन की नीरसता को आनंद के द्वारा ही समाप्त किया जा सकता था। ब्रह्मा या मोज़ेज़ को सृजन का प्रगीक माना जाता था, इस दृष्टि से नाटक को मानव की ऐसी आदि सृजनशीलता का उन्मेष भी कहा जा सकता है जो परिष्कारक, उदात्त और आनंदप्रद होती है। स्पष्ट है कि नाटक का स्परूप लोकधर्मी था, वह बहुजन-हिताय और बहुजन-सुखाय रचा गया था।

कुछ अन्य विचारक नाटक की उत्पत्ति के मूल में 'ऋग्वेद' के संवाद को देखते हैं। संवाद में नाटकीयता होती है, पर नाटक के लिये संवाद के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों की ज़रूरत भी होती है। कुछ अन्य लोगों ने इसे नृत्य या कठपुतली के नृत्य से उत्पन्न माना है। वे यह मानते हैं कि 'नाटक' शब्द नट् या नृत् धातु से निष्पन्न होता है। संस्कृत साहित्य में हमें तीन धातुरूपों का उल्लेख मिलता है, जो नट्, नृत् और णट् के नाम से अभिहित की जाती हैं। नट् से नाट्य शब्द की निष्पत्ति होती है नृत् से नृत्य की और णट् से नृत्त की। इन तीनों शब्दों में भेद है। जब किसी पूरे वाक्य के अर्थ को अभिनय के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है तो उसे नाट्य कहा जाता है, जब किसी एक शब्द के अर्थ का अभिनय और उसका भाव-प्रदर्शित किया जाता है तो उसे नृत्य का नाम दिया जाता है और जब ताल और लय के साथ हाथ-पैर चलाया जाता है तो उसे नृत्त कहा जाता है। नाटक में नृत्य और नृत्त का उपयोग होता है, पर उसका यह अर्थ नहीं कि वह इन्ही से उत्पन्न हुआ है।

साफ है कि नाटक की उत्पत्ति को ऊपरी किस्सागोई या बुझौवल से नहीं समझा जा सकता। इसे समझने के लिये हमें सामाजिक संघटन और उसके विकास पर विचार करना होगा। आज प्रायः सभी लोग इस बात को स्वीकार करते हैं कि विकास की आदिम अवस्था में व्यक्ति को अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये तरह-तरह का संघर्ष करना पड़ता है। इस संघर्ष में उसे प्राकृतिक शक्तियों के वरदान और अभिशाप दोनों को झेलना पड़ता है। ये प्राकृतिक शक्तियाँ इतनी भयंकर होती हैं कि व्यक्ति बाध्य होकर उनके सामने माथा टेक देता है और उन्हें अपने से महान् मानने लगता है। इस दौर में सहायक और उपयोगी शक्तियों को

वह देवता मानने लगता है और असद् और विध्वंसक शक्तियों को दानव। भावना प्रतीक की जननी होती है। उसकी भावना निरन्तर गतिशील रहती है और वह मूलादर्शातमक आदिम प्रतीकों की सर्जना में रत पाया जाता है। उसको सद् और असद् की परख होती है और वह सद् के उद्‌बोधन द्वारा असद् की विभीषिका से मुक्त होना चाहता है। इस मुक्ति का प्रमुख साधन होता है सद् का संस्तवन। इस बात का ज़िक्र किया जा चुका है कि देववाद की परिकल्पना उसकी प्रमुख विरासत होती है। अतएव वह इसी देवता की पूजा के लिये भजन, नृत्य और गान की व्यवस्था करता है। यही व्यवस्था विकसित समाज में धार्मिक उत्सव के रूप में प्रतिष्ठित होकर नाटक की उत्पत्ति का कारण बनती है। यह देवपूजा बाद में वीरपूजा में बदल जाती है और नाटक में भी नृत्य और संगीत के साथ कथानक का उपयोग होने लगता है। इससे नाट्य-गीति (chorus) की उद्‌भावना होती है जो पर्वों और उत्सवों के अवसर पर गाया और दिखाया जाता है। यही 'कोरस' बाद में नाटक का रूप ले लेता है।

परिभाषा

'भरत' ने अपने नाट्यशास्त्र में लिखा है, "देवता, मनुष्य या महान् व्यक्ति के पूर्ववृत्त के अनुसरण को नाटक कहा जाता है।[1] यह ललित पदार्थ से संयुक्त और गूढ़ अर्थ से वियुक्त होता है, बुद्धिमान् लोगों को सुख प्रदान करता है और उनकी बुद्धि को चमत्कृत करता है तथा इसमें रस और संधि का उचित विधान पाया जाता है।[2] इसमें नाना भावों और नाना अवस्थाओं की योजना तथा लोकवृत्ति का उचित निरूपण मिलता है।[3] तात्पर्य यह है कि इस लोक में जो कुछ भी है, नाटक उसका भावानुकीर्तन होता है।[4] भरत के इस उपर्युक्त विवेचन से कई महत्त्वपूर्ण तथ्य उभड़ते हैं। उन्होंने प्रमुख रूप से लोकवृत्त के अनुकरण, मृदु-ललित पदार्थ, रसमय-संधियुक्त स्वरूप तथा नानावस्था और नाना भावों के परिग्रहण की बात उठाई है। इसी बात को ध्यान में रखकर 'अभिनवगुप्त' ने कहा था, "नाटक वह काव्य है जो प्रत्यक्ष कल्पना और अध्यवसाय का विषय बन कर, सत्य एवं असत्य से समन्वित

---

१. देवतानाम् मनुष्याणां राज्ञां लोक महात्मनाम्।
पूर्ववृत्तानुचरितम, नाटकम् नाम तद्‌भवेत्।

२. मृदु ललित पदार्थं गूढ़ शब्दार्थ हीनं, बुधजन सुख योग्यं बुद्धिमन्नृत्य योग्यम्।
बहुरस कृत मार्गं संधि संधान युक्तं, भवति जगत् योग्यं नाटकम् प्रेक्षकाणाम्।

३. नाना भावोपसंपन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्।

४. त्रैलोक्यास्य सर्वस्वं नाट्यं भावानुकीर्तनम्।

विलक्षण रूप धारण करके सर्वसाधारण को आनन्दोपलब्धि कराता है ।[1] यह उपर्युक्त विवेचन अपने में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है । इसमें नाटक की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है जो बाद में सिद्धान्त-निरूपण का प्रमुख उपजीव्य सिद्ध हुई हैं । नाटक अनुकरण-प्रधान होता है और इसमें नानावस्थाओं और नाना वृत्तों को इसी अनुकरण द्वारा प्रस्तुत किया जाता है । यह संधि और संधान युक्त होता है और आनन्द और मनोरंजन प्रदान करता है । स्पष्ट है कि इसमें अनुकरण, अनुकार्य और उद्देश्य की बात रेखांकित की गई है ।

यूरोपीय विचारकों ने भी नाटक के सिद्धान्त-पक्ष का विवेचन किया है । 'सिसेरो'[2] के शब्दों में इसे जीवन की प्रतिकृति, तौर-तरीकों का दर्पण और सत्य की प्रतिच्छाया माना जा सकता है । यह मान्यता भी 'भरत' की परिभाषा के सदृश है और इसमें नाटक और जीवन के संबंध पर विशेष रूप से बल दिया गया है । यहाँ प्रकारान्तर से नाटक को जीवन की अनुकृति कहा गया है । पर अनुकृति की अनावश्यक पुनरावृत्ति से तो कुछ हाथ नहीं लगता । नाटक के सन्दर्भ में अनुकरण की बात कुछ तथ्यपूर्ण है, इससे इन्कार भी नहीं किया जा सकता; पर हमें इसकी विशेषता और प्रकृति को समझना विशेष उपयोगी ज्ञात होता है । मेरी दृष्टि में यह अनुकरण एक विशिष्ट प्रकार का अनुकरण होता है । इसे समझने के लिये हम नाटक के सिद्धान्त-निरूपण वाले अंश में कुछ बातें कहेंगे । यहाँ केवल यही कहना चाहते हैं कि जिस बात का हम अनुकरण करते हैं, उसी की विशेषताओं को कमोवेश रूप में प्रतिच्छायित या व्यंजित भी करते हैं । इसका प्रमुख कारण यह है कि अनुकार्य हमारे संस्कार का अंग बन जाता है । इसीलिये नाटक को जीवन का दर्पण भी कहा गया है । 'ह्यूगो' ने इसे स्पष्ट करने के लिये दो दर्पणों का उदाहरण लिया है: (१) सामान्य चौकोर और पालिश किये हुए धरातल का दर्पण और (२) संकेन्द्रित करने वाला दर्पण । पहले प्रकार के शीशे की यह विशेषता होती है कि वह पदार्थ को यथातथ्य रूप में प्रतिबिम्बित कर देता है, जो विश्वसनीय होता है, पर आकर्षक नहीं । इसमें बिंब की सभी विशेषतायें नहीं पाई जातीं । दूसरे तरह का दर्पण इससे भिन्न होता है । वह रंगीन किरणों को कमजोर नहीं बनाता, अपितु उन्हें एकत्रित करके सघन बनाता है जिससे वे दीप्तिपुंज या दीप्तिशिखा में बदल जाती हैं और उनका एक उदात्त स्वरूप हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है । नाटक की तुलना इसी दूसरे तरह के

---

१. प्रत्यक्ष कल्पानुव्यवसाय विषयो लोक-प्रसिद्धः, सत्यासत्याहि विलक्षणत्वात् यत्छब्दवाच्या लोकस्य सर्वस्व साधारणतया भाव्यमानश्चर्व्यमाणोऽर्थो नाट्यम् ।

2. A copy of life, mirror of custom, a reflection of truth,

दर्पण से की जा सकती है।[1] दरअसल कुछ बुनियादी बातें इसीलिये भी उलझ जाती हैं कि हम शब्दों के 'लिटरल' अर्थ के पीछे बहुत अधिक दौड़ने लगते हैं। इससे रंग में भंग हो जाता है। हमें यह भी ख्याल नहीं रहता कि नाटक में प्रेक्षागृह, प्रेक्षक, रंगमंच, साज-सज्जा, संगीत तथा नृत्य के द्वारा हम सत्य की भ्रान्ति[2] उत्पन्न करने की कोशिश करते हैं। इसका सीधा मतलब होता है कि हम घटनाओं को इस रूप में नियोजित करते हैं कि वे देखने में सही ज्ञात होने लगती हैं, अथवा अपने सही होने का एहसास उत्पन्न करती हैं। कुछ लोग इस एहसास को दृष्टि से ओझल करके घटनाओं और क्रिया-व्यापारों की ही उपयुक्तता और अनुपयुक्तता की चर्चा करने लगते हैं। आज के विचारक खुद समझें कि साहित्य जीवन के बोध की व्यंजना है, या उसकी घटनाओं की यथार्थ प्रतिकृति। कैसे कहा और समझाया जाय इस बात को, कि नाटक में आत्मा का ऐसा भाव-संवेग निहित होता है जो इच्छाशक्ति और कार्य का परिचायक होता है और वह इसी के द्वारा पुरोचित भी किया जाता है। उसके सर्जन में एक मानसी क्रिया का हाथ होता है जो उसके विभावन को सफल बनाती है। नाटककार का बोध बाह्य संसृति के अन्वीक्षण-परीक्षण का मुखापेक्षी होता है, पर यह बोध स्वतः में भावात्मक अथवा अमूर्त उपलब्धि है। इसे मूर्त बनाने के लिये लेखक की इच्छाशक्ति अनेकविध कार्य-व्यापारों की अवतारणा करती है, उसे भाषा देती है, भाव देती है, शब्द और अर्थ का एक साँचा प्रदान करती है। नाट्य-सृजन रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है। इस दृश्य-विधान का संबंध पाठक की आन्तरिक चेतना से स्थापित होता है। इस स्थिति में वह न मालूम कितनी बार दृश्य जगत् से अपने आन्तरिक जगत् और आन्तरिक जगत् से बाह्य दृश्य जगत् की दौड़ लगाता है। इन दोनों में जिस हद तक सामंजस्य स्थापित हो पाता है, उसी हद तक नाटक दर्शक और पाठक के लिये अर्थवान्

1. I imagine that it has been said, "The drama is a mirror in which the nature is reflected." But if this mirror be an ordinary mirror, a flat and a polished surface, it will provide but a poor image of objects without relief—faithful but colourless, it is well known that the colour and light are lost in simple reflection. The drama, therefore, must be a focussing mirror, which instead of making weaker, collects and condenses the coloured rays which will make of a gleam a light, of a light a flame. Then only is the drama worthy of being counted an art.

2. I hold that reality, if presented on the stage truthfully would appear false to the monster with the thousand heads which we call public. We have defined dramatic art as the sum total, by the aid of which in the theatre we presented life and gave to the twelve hundred people assembled, the illusion of truth.—Sarcey.

बन जाता है। नाटक का बाह्य कार्य-व्यापार दर्शक के आन्तरिक मानसी रंगमंच पर भी देखा या खेला जाता है। न तो नाटक की कोई घटना अपने में नाटकीय होती है और न उसका गुरु-गंभीर भावसंवेग नाटकीय होता है। घटना और कार्य-व्यापार तो तब नाटकीय बनते हैं जब उनके द्वारा किसी कार्य-व्यापार की व्याख्या या प्रगति चित्रित की जाती है। नाटक में घटना के चित्रण के लिये उसका निरूपण नहीं किया जाता, उसका निरूपण तो मनुष्य की चेतना को प्रभावित करने के लिये किया जाता है। भावात्मक संवेग की काव्यात्मक अनुभूति गेय कविता की विशेषता होती है, उसकी आनंदमय परिणति महाकाव्य की, पर कार्य-व्यापार संघर्ष या तनाव के दिग्दर्शन द्वारा किसी बात का चित्रण नाटक की, विशेषता है। फिर इस बात को समझते हुए भी इसको हम कुछ पारिभाषिक शब्दों से बाँध कर उनको 'लिटरल मीनिंग' के संदर्भ में ही विवेचित और विश्लेषित करने की कोशिश करें तो इससे बड़ी विडंबना और क्या हो सकती है ?

हम कुछ शब्दों को तोतारटन्त ढंग से दुहराते हैं, कुछ सूत्रों को बार-बार प्रस्तुत करके अपने पाण्डित्य का रोब जमाते हैं, साहित्य और जीवन के संबंध की दुहाई देते हैं, पर खुद जीवन को देख कर अपनी बातों के वसूल की नादानी को परखते नहीं। जीवन पर विचार करने से इसका विरोधाभास स्पष्ट हो जाता है। पर अधकचरी वैचारिक हुल्लड़बाजी में इसके लिये स्थान कहाँ ? आइये, जरा जीवन को देखकर तब सिद्धान्त को देखने की बात करें। इस दृष्टि से देखने पर हमें ज्ञात होता कि असल में हमारे जीवन के दो पक्ष होते हैं। एक हमारी सचेतन इच्छाशक्ति का जगत् होता है और दूसरा दृश्य या अदृश्य जगत्। इच्छाशक्ति जगत् के इस परिवेश में क्रियाशील रहती है। वह निश्चित उद्देश्य से परिचालित होकर निश्चित गन्तव्य की ओर उन्मुख रहती है। पर उसकी यह दौड़ सपाट नहीं होती, वह चक्रिल होती है और उसमें तरह-तरह के आरोह-अवरोह आते रहते हैं, ऊँचाई-नीचाई उपस्थित होती रहती है; तात्पर्य यह है कि किस्म-किस्म के अवरोधक तत्त्व उसके विकास को रोकने का उपक्रम करते रहते हैं। मानव एक ओर अपने उद्देश्य की ओर बढ़ने के लिये लालायित रहता है, पर दूसरी ओर उसे कदम-कदम पर ठोकर का सामना करना पड़ता है। इससे द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न होती है, तनाव का वातावरण बनता है। नाटक में जीवन की इसी द्वन्द्व की जटिलता को चित्रित किया जाता है। नाटककार कहानी, चरित्र, कथोपकथन आदि के द्वारा जीवन के इसी स्वरूप को चित्रित करने के लिये उतावला रहता है। उसका यह चित्रण कई दृष्टियों से अन्य कलाओं के निरूपण से भिन्न और विशिष्ट होता है।[1] चित्रकला में दो आभासों के

1. While painting is the art of expression, through the medium of colour and line on the two dimensional plane, literature the general art of expression through the medium of words, poetry the

धरातल पर रंगों और रेखाओं के द्वारा चित्र रचा जाता है, साहित्य में शब्द और अर्थ के माध्यम से अभिव्यंजना की जाती है, कविता में लयात्मक और संवेगात्मक अभिव्यक्ति पर बल दिया जाता है, गल्प में गद्य के माध्यम से कहानी कही जाती है, पर नाटक में सहृदय समुदाय के समक्ष अभिनेयात्मक ढंग से कथासूत्र उपस्थित किया जाता है। इसमें केवल कहानी नहीं कही जाती, बल्कि कलात्मक ढंग से उसकी व्याख्या भी दी जाती है। नाटक पाठक और विशेष रूप से दर्शक के लिये लिखा जाता है और दर्शक की उपस्थिति भी उसकी तकनीक और संघटना को प्रभावित करती है। तात्पर्य यह कि नाटक बाह्य दृश्य के आन्तरिक बोध को व्याख्यायित करने का प्रमुख साधन है।

१९वीं शताब्दी में यथार्थवादी अभ्युदय से नाटक का प्रभावित होना स्वाभाविक था। इस प्रभाव से नाटक में सोद्देश्यता का आग्रह बढ़ा। 'एमाइल जोला' ने स्पष्ट शब्दों में जोर देकर इस बात को ज्ञापित किया कि नाटक अगर यथार्थवादी तकनीक को नहीं अपनायेगा तो वह मर जायगा। यथार्थवाद के परिवेश में उसके कई पक्ष नाटकों में समाविष्ट हुए। इसी को ध्यान में रख कर 'विलियम आर्चर' ने कहा था कि नाटक भाग्य या परिवेश में तीव्रगति से विकासोन्मुख संकट-बोध (crisis) का प्रतिरूप है और नाटक का दृश्य 'क्राइसिस विदिन ए क्राइसिस' है जो अन्तिम घटना को व्यापक बनाता है। इस दृष्टि से नाटक को उसी रूप में संकट-बोध की कला कहा जा सकता है जिस रूप में उपन्यास को क्रमिक विकास की कला कहा जाता है।[1]

नाटक कलात्मक सृजन है और इसमें चरित्र और अभिनय के द्वारा निश्चित भावबोध की व्याख्या की जाती है। इस दृष्टि से दृश्यकाव्य होने के कारण वह आकर्षण, मनोरंजन और प्रभावोत्पादन का प्रमुख साधन सिद्ध होता है। अतएव इस पर कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से विचार करना जरूरी है। नाटक की महत्ता केवल इस बात पर निर्भर नहीं रहती कि उसके शिल्प का क्या रूप है, अपितु इस

---

particular art of expression, in emotional usually rhythmic words and fiction the art of expression by means of story told in prose, drama is the art of expression by means of a story told to an audience assembled together in one place......A drama is never really a story told to an audience, it is a story interpreted before an audience by a body of actors.—Nicoll.

1. A play is a more or less rapidly developing crisis, in destiny or circumstances, and a dramatic scene is a crisis within a crisis, clearly furthering the ultimate event. The drama may be called the art of crises, as fiction is the art of gradual development.

बात पर भी निर्भर रहती है कि उसका कथ्य कितना रोचक, प्रभावोत्पादक, और अनुभूति-प्रवण है। अनुभूति ही नाटककार की मन:सृष्टि की जननी होती है और मन:सृष्टि संघटना को प्रभावित करती है, उसकी बनावट-बुनावट को सुनिश्चित रूप में ढालती है। 'कलेटन हैमिल्टन' ने ठीक ही कहा है, "नाटक दर्शकों के समक्ष रंगमंच पर कुछ पात्रों द्वारा प्रस्तुत वैयक्तिक इच्छाओं के संघर्ष का ऐसा निरूपण है जो बुद्धि के स्थान पर संवेग से प्ररोचित और वस्तुगत कार्य द्वारा अभिव्यंजित होता है।"[1] प्रेक्षागृह के सन्दर्भ में 'नाटक' शब्द का प्रयोग विश्वास उत्पन्न करने वाली सहयोगी क्रिया के प्रतिफल का परिचायक है। इसके माध्यम से प्रेक्षक और सामाजिक मानव-नियति को अनुशासित करने वाले भौतिक अथवा आध्यात्मिक संघर्षों से परिचित होते हैं।[2] यह अन्य काव्य-रूपों से अधिक मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक होता है और प्रकारान्तर से राष्ट्र की आन्तरिक चेतना को समन्वित करता है। यह भिन्न देश-काल के लोगों को भिन्न रूप में प्रभावित करता है। इसका उद्देश्य सामाजिक होता है। इसमें प्रहसन या भाण की विशेषतायें भी पाई जा सकती हैं, फिर भी इसमें एक सहज और स्फूर्त प्रेरणा सदैव विद्यमान रहती है। इन सभी विशेषताओं के कारण यह मानव-बुद्धि-प्रसूत साहित्य-रूपों से अधिक मनोरंजक होता है।[3] सारा बर्नहार्ट (Sarah Bernhardt) ने इसे 'फेमिनिन आर्ट' की संज्ञा दी है, क्योंकि इस में वे सभी विशेषतायें पाई जाती हैं जो स्त्री के क्षेत्र में आती हैं। इसमें आनंद प्रदान

---

1. A play is representation by actors, on stage before audience, of a struggle between individual human wills, motivated by emotions rather than intellect and expressed in terms of objetive action.

2. The word drama therefore used of theatre implies a comparative act of make believe, by which it becomes possible for an imitator and for a spectator to receive an explanatory image of those physical and spiritual conflicts which govern human conduct.

3. The drama is at once the most peculiar, the most elusive and most enthralling of all types of literatures. It is so deeply associated with and dependent upon whole material world of theatre with its thronging crowds and its universal appeal; it is so nearer to deeper consciousness of nations in which it takes its rise, it is capable of addressing itself so widely and so diversely to people of far distant ages and of varying climes, it is so social in its aim and its appreciation, it is so prone to descend to the uttermost depths of buffoonery and farce, yet ascend so easily and gloriously to the most magnificent heights of poetic inspiration, that it stands undoubtedly as the most interesting of all literary products of human intelligence. —Nicoll.

करने की इच्छा, भाव-संवेगों को अभिव्यक्त करने की अभिलाषा, त्रुटिगोपन की प्रवृत्ति और 'एसिमिलेशन' की 'फैकल्टी' उसी रूप में उपस्थित रहती है जिस रूप में यह स्त्रियों में पाई जाती है। इतनी उत्कृष्ट और पूर्ण कला का अन्य कलाओं से कुछ 'इनफीरियर' होने का रहस्य यह है कि यह विन्यास और चेहरे की सुन्दरता के अभाव में पूर्ण व्यावहारिक रूप में सफल नहीं हो सकती।[1] 'हार्ट' महोदय ने जिस कोमल और आकर्षक सीमा से नाटक को बाँधना चाहा है, वह आज प्रायः टूट चुकी है और नाटक अपने को सशक्त गद्य-विधा के रूप में प्रतिष्ठित कर चुका है। सारांश यह कि नाटक ऐसा साहित्य-रूप है जिसमें जीवन की किसी अनुभूति को निश्चित कथासूत्र में पिरोकर पात्रों के अभिनय या रंगमंचीय साज-सज्जा द्वारा सप्राण और जीवन्त-रूप में दर्शकों के समक्ष इस ढंग से प्रस्तुत किया जाता है कि वे अपना मनोरंजन करके आनंद प्राप्त कर सकें।

नाटक और अनुकरण

वैसे साहित्य के अन्य रूपों के सन्दर्भ में अब अनुकरण की कम से कम चर्चा की जाती है, पर नाटक में इसका महत्त्व किसी न किसी रूप में अक्षुण्ण है। संस्कृत और यूनानी साहित्य में इसका उल्लेख बहुत पहले शुरू हो गया था। 'नाट्यशास्त्र' में 'नानावृत्तानुकरणं', 'नानावस्थान्तरात्कम्' तथा 'त्रैलोक्यास्यस्य सर्वस्वं नाट्यम् भावानुकीर्तनम्' की बात कही गई है। 'मन्दारमन्द चंपू' में धीरोदात्ताद्यवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' और दशरूपक में 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' का उल्लेख मिलता है। प्रतापरुद्रीय में धीरोदात्तावस्था के साथ ही रसाश्रय की बात भी जोड़ दी गई है। इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में नाटक अनुकरण-प्रधान है। प्रमुख यूनानी विचारक अरस्तू ने भी नाटक को सार्वभौम प्रकृति की ओर उन्मुख महत् उद्देश्य का अनुकरण माना था।[2] उनकी दृष्टि में महाकाव्य, त्रासदी, कामदी, संगीत आदि सभी कलायें अनुकरण-प्रधान होती हैं।[3] 'अरस्तू' की यह मान्यता परवर्ती साहित्य

---

1. The dramatic art would appear to be rather a feminine art, it contains in itself all the artifices which belong to the province of women, the desire to please, facility to express emotions and hide defects and the faculty of assimilation, which is the real essence of women. The reason why the theatrical art, which is so fine and so complete, because it reflects all other arts, remains on slightly inferior plane, is that it can not be practised without beauty of form and face.

2. An imitation of the ends towards which cosmic nature strives.

3. The epic poetry and tragedy, comedy also and dithyrambic poetry and the music of the flute and lyre in most of their forms are all in their general conception modes of imitation.

में पर्याप्त विवाद का कारण बनी। इससे कई उलझनें सामने आईं। बार-बार यह प्रश्न पूछा गया कि अनुकरण किस बात से संबंधित होता है और किसी का अनुकरण क्यों किया जाता है ? भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने नानवृत्त, नानावस्था या त्रिलोक में जो कुछ है, उसके अनुकरण की बात उठाकर इसका समाधान करना चाहा था। उन्होंने धीरोदात्तावस्था के साथ ही रसाश्रय की बात उठाकर इसे पर्याप्त सबल आधार प्रदान किया था। इससे यह बात जाहिरा तौर पर स्पष्ट हुई थी कि नाटक जीवन की अनुकृति है; पर इस कथन से भी मामला सुलझता नजर न आया। यह बात उठ खड़ी हुई कि क्या नाटक जीवन की यथार्थ नकल होता है ? फिर क्या था, उत्तर-प्रत्युत्तर का स्वर मुखर हो उठा। हमें इस विवाद में नहीं पड़ना है, अपितु मध्य मार्ग को ग्रहण करके अपने विचार को आगे बढ़ाना है। हमारा कहना यह है कि नाटक भी कलात्मक सृजन होता है, अतएव इसमें जीवन का उसी रूप में अनुकरण होता है जिस रूप में अन्य कलाओं में संभव है। यह अनुकरण बाह्य क्रिया की यांत्रिक प्रतिलिपि नहीं अपितु नवीन जीवन-स्पन्दनों और मनोसृष्टियों का संभावित प्रतिरूप होता है। आज यथातथ्यवाद की धूम है। हर व्यक्ति यह कहता नजर आता है कि हम अपने जीवन के भोग को उसी रूप में व्यक्त कर देना अपना धर्म समझते हैं, जिस रूप में उसे हम भोगते हैं। पर यह बात शब्दों में जितनी सरल है, कार्य-रूप में उतनी ही कठिन। रचना की स्थिति में लेखक की मन:स्थिति किसी एक विचार, प्रत्यय या बोध तक सीमित नहीं रहती। उस स्थिति में किसी केन्द्रीय विचार के चारों ओर न मालूम कितने अन्य प्रच्छन्न भावावेग चक्कर काटते रहते हैं और यथासमय केन्द्रीय विचार को प्रभावित भी करते हैं। उसकी अनुभूति एक विषम मिश्रित अनुभूति होती है। जिस प्रकार वर्षाकाल में बादलों से अजस्र रूप में गिरने वाला जल पृथ्वी पर पहुँचते ही मटमैला हो जाता है और कुछ समय बाद वह स्वच्छ दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार मानसिक अन्तर्द्वन्द्व या तनाव भी आरंभ में विषम ज्ञात होता है, पर बाद में वह संश्लेषित और समन्वित हो उठता है। यही संश्लेषण कला का प्राण होता है। अतएव नाटक में यथातथ्य अनुकरण की बात बेसिर-पैर की, निरर्थक और फिजूल शब्द-जाल मात्र है। हर अनुकरण आन्तरिक और बाह्य अवस्था का एक मिलाजुला रूप होता है। 'मेटरलिंक' और 'चेखव' के मानसिक रंगमंच की बात भी प्रकारान्तर से उसी को सिद्ध करती है। रंगमंच बाह्य स्वरूप का प्रतीक है और मानसिक शब्द आन्तरिक स्वरूप का। संस्कृत साहित्य में 'अभिनवगुप्त' ने भी अनुकरण की बात उठाते हुए एक त्रुटिपूर्ण दृष्टिकोण में अपने को फँसा दिया था। उन्होंने कहा था कि विभाव और चित्तवृत्तियों का अनुकरण संभव नहीं। उन्होंने भी वही गलती की थी जो आज के लोग प्राय: किया करते हैं। गलती यह थी कि अनुकरण उनके लिये स्वांग या नकल का पर्याय बन गया था। 'भरत' के सूत्र में हमें अनुभावन और अनुकीर्तन का

प्रयोग मिलता है। 'अनुभाव' शब्द अनुभव से बना है जिसका अर्थ होता है 'प्रभाव के प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले विशेष रूप को ग्रहण करना।' अनुकीर्तन का अर्थ होता है, "साधारणीकरण रूप—अलौकिक कार्य-व्यापार द्वारा नायक-नायिका के विशेष स्वरूप को हटाकर उनके साधारणीकृत रूप को गृहण करना।" इस विवेचन के आधार पर हम अनुकीतन को अनुभावन से महत्त्वपूर्ण मान सकते हैं।

नाटक, नाटककार की अनुभूति को दर्शक तक पहुँचाने का प्रमुख साधन है। नाटककार अपने हृदयस्थ भावों को उपयुक्त ढंग से दर्शन तक प्रेषित करता है। उसके इस कार्य से दर्शक में भावातमक एकता उत्पन्न होती है। इसे दूसरे रूप में यों भी कहा जा सकता है कि वह दर्शक में अपनी मनोदशा से मिलती-जुलती मनोदशा पैदा करना चाहता है। उदाहरण के लिये, 'भरत' के निम्नलिखित श्लोक को लिया जा सकता है—

यथाबीजाद्भवेद्वृक्षो, वृक्षा पुष्पफलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्योभावा व्यवस्थिता।

'अभिनवगुप्त' ने अभिनवभारती में इसकी व्याख्या करते हुए कहा है, "जिस प्रकार बीज अंकुरित होकर के वृक्ष का रूप ग्रहण करता है और पुनः फल-फूल से अलंकृत हो जाता है, उसी प्रकार कविगत रस (वीज) काव्य के रूप में विकसित होकर अभिनय-संबंधी रस-व्यापार (पुष्प) के द्वारा सामाजिक को रसास्वाद (फल की प्राप्ति) कराता है। यह विचार जर्मनी के वेजीटेबुल ग्रोथ ऑव जीनियस के सदृश है। भरत ने पुनः कहा है—

योऽयं स्वभावः लोकस्य सुख दुःख समन्वितः।
अंगाद्याभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते।
त्रैलोक्याहि सर्वस्वं नाट्यं भावानुकीर्तनम्।

इस श्लोक में लोक-स्वभाव-संयुक्त विविध भावों के अनुकीर्तन को नाटक की संज्ञा दी गई है। इसे और स्पष्टतापूर्वक समझने के लिये हम उन्हीं की लोकधर्मी और नाट्यधर्मी की बात ले सकते हैं। कहना न होगा कि यथार्थ जीवन में व्यक्ति आत्मकेन्द्रित होता है। उसकी क्रियायें देशकाल और वातावरण से संबंधित होती हैं। उसका संपूर्ण जीवन निश्चित आदर्शों के कठघरे में बन्द होता है और उसकी दृष्टि पर लोकादर्शवाद की छाप लगी होती है। सारांश यह कि उसका यह स्वरूप लोकधर्मी होता है। नाटककार इस लोकधर्मी को नाट्यधर्मी में बदलता है। ऐसा करने के लिये वह सब से पहले इन्हें स्थूल मान्यताओं के बोझिल स्वरूप से मुक्त करता है और पुनः उसे इस रूप में अभिव्यक्त करता है कि वह प्रेक्षक में रस की उद्भावना कर सके। इससे साफ प्रकट हो जाता है कि लोकधर्मी नाट्यधर्मी का उपजीव्य है और नाट्यधर्मी लोकधर्मी को कलात्मक स्वरूप प्रदान करने का साधन। लोकधर्मी

व्यष्टिगत है और नाट्यधर्मी समष्टिगत। नाटक के अनुकरण की बात भी इसी लोक-धर्मी से नाट्यधर्मी में परिणति की परिचायिका है। नाटककार लोक को देखकर उससे प्रभाव अवश्य ग्रहण करता है, पर जब वह नाटक के द्वारा उसे प्रस्तुत करना चाहता है तो यह नाट्यधर्मी हो जाता है, कुछ बदल जाता है।

नाट्य-भ्रांति

स्पष्ट है कि नाटक यथार्थ जीवन की यथातथ्य अनुकृति नहीं, अपितु वास्तविकता की भ्रान्ति है। इसे समझने के लिये सबसे पहले 'भ्रान्ति' शब्द की व्याख्या जरूरी है। इसके लिये दूर जाने या अँधेरे में ढेलेबाजी करने की जरूरत नही। हम अपने जीवन में इसके उदाहरण नित्य देखते हैं। आइये, एक उदाहरण लें : अगर हम किसी दर्पण को खुला छोड़ देते हैं तो कोई पक्षी उसके सामने आकर बैठ जाता है। वह अपनी छाया दर्पण में देखता है और फिर उसे दूसरा पक्षी समझ कर उस पर चोंच से प्रहार करने लगता है। उसे इस बात का आभास नहीं होता कि वह जिस पक्षी को दर्पण में देख रहा है, वह उसी की छाया है। नाट्य-अभिनय भी इसी तरह छाया मात्र होता है, पर हम उस पर कुछ समय के लिये वास्तविकता का आरोप कर लेते हैं। यह आरोप जितना ही प्रबल और तीव्र होता है, दर्शक उसी अनुपात में आनन्द-लाभ करता है। नाट्य-भ्रान्ति से संबंधित कुछ उदाहरण साहित्य में भी मिलते हैं। ऐसा कहा जाता है कि 'रिचर्ड्स थर्ड' का नायक विषम स्थिति में युद्ध कर रहा था। उसी समय उसका अश्व मार डाला गया। अश्वविहीन होने पर वह अचानक चिल्ला उठा, "मेरे पूरे राज्य के बदले कोई मुझे एक अश्व दे।" दर्शक-दीर्घा में बैठा हुआ एक व्यक्ति उठ खड़ा हुआ और उसे घोड़ा देने के लिये तत्पर हो गया। मैंने इसका उदाहरण खुद अपने जीवन में देखा है। संभवतः मुगले आजम फिल्म चल रही थी। बड़ी ख्याति थी उसकी। भीड़ क्या, उसे देखने के लिये पूरा मजमा इकट्ठा होता था। ऊपर का टिकट न मिल सकने के कारण हम लोग तीसरे दर्जे का टिकट लेकर आगे की सीट पर बैठे थे। नाटक शुरू हुआ। युद्ध का दृश्य आया। भाला, बरछा या बन्दूक लेकर सिपाही लड़ाई में पिल पड़े। इसी बीच आगे की सीट पर बैठा एक व्यक्ति घबड़ा कर भाग खड़ा हुआ। हल-चल मच गई। उससे पूछने पर पता चला कि अगर वह भागा न होता तो घोड़ा उसे कुचल देता। आप पूछ सकते हैं, ऐसा क्यों होता है? इसका सही उत्तर हमें कला और प्रकृति के अन्तःसंबंध पर विचार करने को बाध्य करता है। इसके कुछ पहलुओं को हमने नाटक और अनुकृति के संबंध में विश्लेषित किया है और इस बात को निरूपित किया है कि कला में भौतिक और मानसिक स्वरूपों का संश्लेषण मिलता है। 'चार्ल्स मार्गन' ने भ्रांति पर विचार करते हुए इन दोनों स्वरूपों का उचित उल्लेख किया है। वे कहते हैं, "मेरी दृष्टि में भ्रांति के मूल में नाटक के विषय-विन्यास के प्रति

कुतूहल (form in suspense) का भाव पाया जाता है । नाटक का विषय-विन्यास स्वतः में महत्त्वपूर्ण नहीं होता, वह तो तब महत्त्वपूर्ण होता है जब दर्शक की कुतूहल-भावना उस पर आरोपित हो जाती है और वह साँस रोक कर एक के बाद दूसरी घटना देखता रहता है । यह क्रिया तब तक चलती रहती है जब तक नाटक समाप्त नहीं हो जाता । नाटक की समाप्ति के बाद ही उसका रूप या आकार अर्थवान् ज्ञात होता है, उसके पहले तो यह अपूर्ण होता है । विन्यास या आकारगत कुतूहल किसी ज्ञात पूर्णता की अपूर्णता का परिचायक होता है । इसे कथानक के उस सामान्य कुतूहल से भिन्न माना जाता है जो इस बात पर आधारित रहता है कि आगे देखें क्या होता है ? सामान्य कुतूहल-वृत्ति संघटना से संबंधित घटना का विषय होती है, पर विन्यासाश्रित कुतूहल नाटक का आवश्यक विषय होता है । हम किस स्वरूप को चुनते हैं, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है । नाटक अपने विकास-क्रम में किस स्वरूप की आवश्यक शर्त पूरा करके उसे हमारे सामने रखता है, यह बात विशेष महत्त्वपूर्ण होती है ।[1] इस उपर्युक्त मान्यता को थोड़ा और स्पष्ट करने की जरूरत है । संपूर्ण कथानक के प्रति कुतूहल एक बात है और नाटक की किसी घटना के प्रति कुतुहल दूसरी बात । यह जिज्ञासा दोनों स्वरूपों में पाई जाती है, पर इनमें भिन्नता होती है । नाटक की घटना-विशेष से जुड़ा कुतूहल उस घटना के स्वरूप से सम्बद्ध होता है और संपूर्ण कथानक से जुड़ा कुतूहल आदि से शुरू होकर अन्त तक चलता है । नाटक में एक कथा पाई जाती है, पर वह नाटक के समाप्त होने पर ही स्पष्ट होती है । इस अस्पष्टता से जुड़ी जिज्ञासा को ''फार्म इन सस्पेंस' कहा जाता है । यथार्थ में पात्रों का चयन जीवन से किया जाता है, पर नाटक में वे निश्चित परिस्थिति में निश्चित उद्देश्य के वाहक बन जाते हैं । लेखक स्वाभाविकता बनाये रखना चाहता है, फिर भी वे कुछ बदल जाते हैं । नाटककार भी कुतूहल को अन्त तक बनाये रखना चाहता है, अतएव वह परिस्थितियों को इस रूप में नियोजित करता है कि नायक के भाग्य के विषय में नाटक के समाप्त होने के पहले कोई निश्चित धारणा न बन पाये । विन्यास में

---

1. Illusion, as I conceived it, is a form in suspense......In a play form is not valuable itself, only the suspense of form has its value. In a play form is not and cannot be valuable in itself, because until the play is over form does not exist. A suspense of form by which is known incompleteness of a known completion is to be clearly distinguished from common suspense—suspense of plot - the ignorance of what will happen. For suspense of plot is structural accident and a suspense of form is as I understand it essential to dramatic form. ......what form is chosen......matters less than that while a drama moves a form is being fulfilled. Morgan—*Nature of Dramatic Illusion-Transaction of Royal Society of England.*

५

निहित कुतूहल इसी प्रकार की संघटना पर आधारित होता है। "यथार्थ में दुनियाँ में जब हम कोई महत्त्वपूर्ण बात देखते हैं तो उसके कार्य-कारण-संबंध तक पहुँचने का यत्न करते हैं, पर जब हम नाटक में अशुभ कार्य देखते हैं तो यह मान बैठते हैं कि इसका दूरगामी परिणाम होगा। नाटक में परिस्थिति के सावयव विकास का महत्त्व अधिक होता है। यह परिस्थिति कार्य-व्यापार से गुँथी रहती है। नाटक की 'सेटिंग' से हमें वातावरण का अभिज्ञान होता है। कथोपकथन, साज-सज्जा, वेषभूषा और संगीत का प्रभाव भी दर्शक पर पड़ता है। वह कुछ समय में मंत्रमुग्ध होकर नाटक देखने में तल्लीन हो जाता है।" 'कोलरिज' ने भी विश्वास के स्वेच्छया निरसन के द्वारा इसी तथ्य का संकेत दिया है। यह सत्य है कि जब तक दर्शक अपने पूर्वग्रहों से मुक्त नहीं होता, वह नाटक का आनन्द नहीं ले सकता। 'मार्गन' की धारणा है कि प्रेक्षागृह में जाने के समय यथार्थ और अयथार्थ की भेदक रेखा हमारे में पाई जाती है, पर उसमें बैठ जाने के बाद उसके परिवेश, साज-सज्जा, संगीत और अभिनय से—उसके माहौल से—हम इस प्रकार अभिभूत हो उठते हैं कि हमारे तर्क-वितर्क की क्षमता तिरोहित हो जाती है और हम पर नाट्य-भ्रान्ति पुरजोर प्रभाव डालने लगती है। 'अभिनवगुप्त' मार्गन से भी सूक्ष्म रूप में इस बात पर प्रकाश डालते हैं। उनका मत है कि नाटक देख कर आनन्द प्राप्त करने की क्रिया छः स्तरों में पूरी होती है: (१) ऐन्द्रिय धरातल, (२) स्वतन्त्र कल्पना का धरातल, (३) भावोन्मेष का धरातल, (४) भावशुद्धि का धरातल, (५) रसोपलब्धि का धरातल और (६) आनन्द का धरातल। हम प्रेक्षागृह में सब पूर्वग्रहों से मुक्त होकर जाते हैं। हम ऐसा महसूस करके जाते हैं कि हमें नाटक देखना है। इस विचार से मन में भावों को केन्द्रित करने की पूर्वतत्परता का आविर्भाव हो जाता है और यह संकल्प बाद में हमारी सहायता करता है। अभिनय के विकास के साथ मन उससे तद्वत संबंध स्थापित करने लगता हैं। इस अवस्था में वह आन्तरिक दृष्टि से पूर्ण सचेतन रहता है और कल्पना के द्वारा आनन्दोपलब्धि करता है।

'लैंजर' की नाट्य-भ्रान्ति से संबद्ध मान्यता भी महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार कलाकृति में सामान्य भौतिक तथ्यों का अनुकरण किया जाता है, पर वह अभिव्यक्त होने के बाद कुछ बदल-सी जाती है। अतएव उसे हम यथार्थ से भिन्न यथार्थ (otherness from reality) की संज्ञा दे सकते हैं।[1] 'शिल्लर' ने भी इसी बात को Scheim या प्रतिभास द्वारा व्यक्त किया है। वे कला को संसार के निरास्था-मूलक परिवेश के मध्य अतिथि की संज्ञा देते हैं।[2] 'सैमुएल एलेक्जेण्डर' के शब्दों

1. This detachment from actuality, the otherness, that gives even bonafide product like building or vase some aura of illumination. It is a crucial factor indicative of very nature of Art.

2. Schiller was the first thinker, who saw what really makes schein or semblance important for art, the fact that it liberates

में, भ्रान्ति मूल्यरहित यथार्थ और मूल्यसहित यथार्थ के मध्य की संक्रमणकालीन स्थिति है। भ्रान्तिमय वस्तु यथार्थ से जुड़ी होने पर भी अपने स्वरूप में भ्रान्ति को उत्पन्न करने वाली होती है। अतएव उसके भ्रान्तिमय स्वरूप में हमें यथार्थ के उसी पक्ष का दर्शन होता है जिस पर मानस का कोई रंग चढ़ा होता है। भ्रान्ति में अर्द्ध-कला और अर्द्धसत्य पाया जाता है।…सौन्दर्य भी इसी का जनक होता है।[1]

वास्तव में नाटक में जीवन से संबद्ध विचार अभिनेताओं द्वारा व्याख्यायित होकर दर्शक के सामने उपस्थित होते हैं। इस स्थिति में अगर नाटककार दर्शकों को प्रभावित नहीं कर पाता तो वह अपने उद्देश्य में असफल हो जाता है। नाटककार हर स्थिति में कलापूर्ण ढंग से जीवन के यथार्थ की भ्रान्ति प्रस्तुत करता है। यह भावना जितनी ही विश्वसनीय बन पाती है, उसी अनुपात में नाटक दृश्यकाव्य के रूप में सफल माना जाता है।

कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण नाट्य-सिद्धान्त

यहाँ मैं केवल ऐसे सिद्धान्तों का उल्लेख करना चाहूँगा जिनकी बहुत अधिक चर्चा रही है। १९वीं शताब्दी के पहले तक नाटक में अनुकरण सिद्धान्त का बोलबाला था। अचानक 'हीगेल' का आविर्भाव हुआ और उनके द्वारा प्रतिपादित एक नया मत सामने आया। उनकी धारणा थी कि उपादानों के 'मूवमेण्ट' (movement) में मोशन (motion) निहित रहते हैं जो मानस को अनुशासित करते हैं। संसृति की घटनायें निरन्तर परिवर्तित होती रहती हैं, अतएव उनमें अस्थायी सामंजस्य पाया जाता है। जिस समय सामंजस्य विघटित होता है, उस समय विकास की गति आरंभ होकर वह नये 'बैलंस' में परिणत हो जाती है। द्वन्द्व उपादानों को आन्दोलित करता रहता है और हर उपादान अस्तित्व और अनस्तित्व की मध्यवर्ती स्थिति में बना रहता है। 'हीगेल' ने इसे प्रत्यय की गति पर लागू करके अपना नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उनके अनुसार लॉजिक, वाद (thesis), प्रतिवाद

---

perception—and with it the power of conception from all practical purposes, and lets the mind dwell on sheer appearance of things. The function of artistic illusion is not make believe, as many philosophers and psychologists assume, but very opposite disengagement from belief—the contemplation of sensory qualities with their usual meaning.

1. Cognitive illusion is in fact the transitional stage, between reality without value and the reality with aesthetic value……The illusory thing in its illusory form though founded in reality has as such in its illusory no reality at all, but only as possessed by mind. Illusion is half art half truth……the beauitiful is illusory.

(antithesis) और संवाद (synthesis) के रूप में विकसित होता है। वाद सामंजस्य की मौलिक प्रवृत्ति या अवस्था होता है और प्रतिवाद विरोधी शक्तियों के कारण सामंजस्य के विघटन की अवस्था। संवाद की स्थिति में पुनः नया सामंजस्य स्थापित होता है। 'डाइलेक्टिक' की यह व्यंजना है कि पदार्थ ही गति है। इस गति के कारण परिवर्तन और निर्माण का चक्र चलता रहता है।[1] 'हीगेल' से पहले 'लेसिंग' ने इसी तरह का विचार व्यक्त किया था। उनका विचार था कि प्रकृति की हर वस्तु आपस में जुड़ी हुई और संग्रथित है। यह परिवर्तित भी होती रहती है। इसलिये उपादानों का नये रूप में अवतरण और तिरोभाव चलता रहता है।[2] 'हीगेल' की द्वन्द्वात्मक पद्धति बौद्धिक और तथ्यात्मक धरातल पर सातत्य की भावना को प्रस्तुत करती है।[3]

'हीगेल' ने अपनी इस निष्पत्ति का प्रयोग, साहित्य के क्षत्र पर भी किया, इसके परिणामस्वरूप नाटक के कार्य-व्यापार के सन्दर्भ में 'ट्रैजिक कॉन्फ्लिक्ट' की मान्यता का अवतरण हुआ और मानव की इच्छाशक्ति और परिवेश में द्वन्द्व की स्थिति सामने आई। 'हीगेल' के पूर्व कुछेक महत्त्वपूर्ण नाट्य-सिद्धान्त सामने आये थे। 'अरस्तू' ने कार्य-व्यापार और अन्विति के सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए कहा था कि कार्य-व्यापार में उन घटनाओं को व्यवस्थित किया जाता है जिनके 'पार्टिसिपेंन्ट' निश्चित विशेषता से अलंकृत रहते हैं। उनके बाद 'लेसिंग' ने कार्य-व्यापार और अन्विति के सावयव विकास की बात उठाई थी और घटनाओं को एक-दूसरे से संबद्ध माना था, पर वह इस सावयव विकास की दिशा का संकेत न कर सका था। 'हीगेल' ने अपने 'ट्रैजिक कॉन्फ्लिक्ट' द्वारा सबसे पहले इस पर प्रकाश डाला। 'अरस्तू' ने इसके पूर्व कहा था कि नाटक का कार्य-व्यापार प्रमुख है और चरित्र गौण, पर उन्होंने 'हीगेल' की तरह इस बात को नहीं उद्घाटित किया था कि कार्य-व्यापार ऐसे जटिल विकास का सूचक है जिसमें व्यक्ति की इच्छाशक्ति और सामाजिक इच्छाशक्ति के परिणामस्वरूप नयी शक्ति का सामंजस्य उत्पन्न होता रहता है। यह सामंजस्य वैयक्तिक इच्छाशक्ति को परिष्कृत करता है। इसके परिणामस्वरूप चरित्र निश्चित गुणों के समुच्चय न होकर ऐसे सजीव व्यक्ति बन

---

1. The fact that matter is motion, that there is continuity of moving and becoming, has been very generally accepted.

2. Everything in nature is connected, everything is interwoven, everything changes with everything, everything merges from one to another.

3. The Hegelian dialectic established the principle of continuity both factually and rationally.

जाते हैं जो संपूर्ण क्रिया के परिवर्तन और विकास के साथ विकसित होते रहते हैं ।[1] परवर्ती नाट्य-साहित्य पर इस सिद्धान्त का प्रभाव पड़ा और 'शापेनआवर', 'ब्रुनेटियर', 'सार्त्री' और 'नीत्शे' ने इसका अपनी दृष्टि से उपयोग भी किया । 'हीगेल' ने इच्छाशक्ति के सन्दर्भ में स्वतंत्र इच्छा और आवश्यकता का ज़िक्र भी किया था । उनका यह प्रतिपादन ऐतिहासिक विकास का मुखापेक्षी था । वे मानते थे कि जब व्यक्ति अपने और अपने परिवेश के विषय में अपने ज्ञान को बढ़ाता है तो आवश्यकता का ज्ञान होने के कारण अपनी स्वतंत्रता को ही समृद्ध करता है । स्वतंत्र इच्छा और आवश्यकता एक-दूसरे की विरोधिनी नहीं, अपितु अस्थायी सामंजस्य की परिचायिका हैं । इच्छा का प्रसार अनन्त है, अतएव उसकी तृप्ति संभव नहीं । कभी-कभी मनुष्य को इस बात का एहसास अवश्य होता है कि उसकी इच्छा तृप्त हो गई है, पर यह बोध की दशा अस्थायी होती है । मनुष्य की इच्छायें भी स्थायी नहीं होतीं, अतएव इच्छाशक्ति और आवश्यकता का सामंजस्य निरन्तर बदलता रहता है ।

'हीगेल' के बाद 'शापेन वर' ने इच्छाशक्ति पर उनसे कुछ भिन्न रूप में विचार किया है । उनके अनुसार संसृति का कारण और सार एक अंधशक्ति में निहित है जो चेतनता और जड़ता से पूर्व किसी न किसी रूप में उपस्थित रहती है । यही अन्धशक्ति जिजीविषा के नाम से अभिहित की जाती है । यह आत्म-प्रसार का प्रमुख कारण है । यह इच्छाशक्ति दुष्कृति से संबंधित होती है, अतएव इसे परिष्कृत करना पड़ता है । कला इसके परिष्कार का प्रमुख साधन है । उनकी धारणा

---

1. The conception of tragic conflict stands with Aristotle's laws of action and unity as basic contribution to the theory of theatre. Aristotle's laws had been based on the view that an action is simply an arrangement of events in which participants have certain fixed qualities of character. Lessing realised that action and unity are organic that "events are rooted in one another," but Lessing offered no indication of the manner in which this organic process takes place. The law of conflict points the way to an understanding of the process. We can agree with Aristotle that action is basic, that character is subsidiary to acion, but we can see that actions are the complex movements in wihch the wills of individual and social wills (the environment) are continually creating a new balance of forces, this in turn reacts upon and modifies the wills of individuals; the characters cease to be embodiments of fixed qualities and become living beings who shift and grow with the shifting and growing of whole-process.

है कि संसार में अपने अस्तित्व को बनाये रखने की इच्छा ही संघर्ष का मूल कारण है। 'ब्रुनेटियर' ने बाद में इस मान्यता को नाट्य-सिद्धान्त के रूप में परिणत किया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि नाटक या प्रहसन में हम प्रेक्षागृह से केवल इस बात की अपेक्षा रखते हैं कि वह निश्चित उद्देश्य की ओर उन्मुख इच्छाशक्ति के दृश्य के साथ ही प्रयुक्त माध्यम की चेतना को प्रस्तुत करे।[1] यह उद्देश्य की ओर उन्मुख इच्छाशक्ति क्या है ? आप कह सकते हैं कि हमारी इच्छा की जो शक्ति है, वही इच्छाशक्ति है, पर यह तो कोई उत्तर नहीं हुआ। गंभीरता से विचार करने पर ज्ञात होता है कि इच्छाशक्ति मानव की सक्रियता का प्रमुख साधन है। व्यक्ति जिस परिवेश में रहता है, उससे बहुत कुछ पाना और खोना चाहता है। जो वस्तु उसे प्रिय होती है, उसकी ओर अपनी पूरी शक्ति लगाकर उन्मुख होता है। उसकी प्राप्ति का लक्ष्य उसके सामने होता है और वह अपने प्रयत्नों के प्रति भी काफ़ी सतर्क रहता है। उद्देश्य की ओर बढ़ते समय उसके सामने तरह-तरह की परेशानियाँ आती हैं। वह इच्छाशक्ति और आत्मबल के द्वारा उनसे लड़ता है, उनका सामना करता है। नाटक इसी इच्छाशक्ति तथा प्राकृतिक और अप्राकृतिक कठिनाइयों के द्वन्द्व का निरूपण है। 'हेनरी जोन्स' ने 'ब्रुनेटियर' की इसी बात का समर्थन किया है। उनका कहना है, "नाटक का उद्भव उस समय होता है जब व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थिति या भाग्य से संघर्ष के लिये कमर कसता है। यह संघर्ष उस स्थिति में और भी घनीभूत हो उठता है जब दर्शक तो नायक के सामने उपस्थित कठिनाई से परिचित है, पर नायक स्वयं उससे अपरिचित है। नाटक इसी अभिज्ञान के बिन्दु से आरंभ होता है और तब तक बना रहता है जब तक यह अभिज्ञान बना रहता है। जब हम भौतिक, शारीरिक अथवा मानसिक स्वरूपों और उसके बाधक तत्त्वों के संघर्ष को देखते रहते हैं तब तक वह बना रहता है। इस द्वन्द्व के ख़त्म होते ही नाटक भी समाप्त हो जाता है। कभी-कभी हम देखते हैं कि अवरोधक शक्ति भौतिक उपादान नहीं, अपितु एक दूसरी तरह की इच्छाशक्ति है। इस स्थिति में इन दो इच्छाशक्तियों का अन्तर्द्वन्द्व बड़ा आकर्षक और प्रभावोत्पादक बन जाता है।[2]

---

1. (A) In drama or farce what we ask of the theater is the spectacle of the will striving towards a goal, and conscious of the means which it employs.

(b) The general law of the theater is defined by action of a will conscious of itself and dramatic species are distinguished by nature of the obstacles encountered by this will.

2. Drama arises when any person or persons in the play are consciously 'up against' some antagonistic person or circumstance, or fortune, It is often more intense, when as in

'ब्रुनेटियर' ने एक और महत्त्वपूर्ण बात का उल्लेख किया है। उन्होंने इच्छाशक्ति की सचेतनता को नाटक के कार्य-व्यापार की जननी सिद्ध किया है। सचेनता का यहाँ निश्चित अर्थ है। उद्देश्य की ओर बढ़ते समय हम जिन साधनों को अपनाते हैं, उनके प्रति सतर्कता ही इच्छाशक्ति की सचेतनता है। उन्होंने इसी आधार पर नाटक की उत्कृष्टता और निकृष्टता का वर्णन किया है। जिस नाटक में प्रयुक्त इच्छाशक्ति की मात्रा अधिक होती है वह अच्छा होता है और जिस नाटक में यह कम होती है, वह बुरा होता है। ऐसा लगता है कि 'ब्रुनेटियर' ने इच्छाशक्ति को पूरे व्यक्तित्व का पर्याय मान लिया है जो ठीक नहीं है। आज नाटक में सचेतन इच्छा के स्थान पर भावात्मक संवेदना, अवचेतनीय तत्त्व और प्रच्छन्न मानसिक प्रभाव की बात विशेष रूप से ग्राह्य है।

सार्सी ने अपने विवेचन में तीन प्रमुख बातों पर विचार किया है : (१) नाटक का प्रमुख उद्देश्य प्रेक्षागृह में उपस्थित एक निश्चित जन-समुदाय को आनंद प्रदान करना अथवा उनका मनोरंजन करना है। (२) इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये नाटककार कुछ मान्य नियमों अथवा परंपराओं का अनुगमन करता है। (३) इन नियमों और परंपराओं में कुछ तो समयानुसार बदलती रहती हैं, पर कुछ सामान्य परिवर्तन के साथ बनी रहती हैं; कुछ स्थायी होती हैं और कुछ परिवर्तनशील। परंपराओं के माध्यम से नाटककार प्रेक्षागृह में ऐसे चित्र को प्रस्तुत करता है जो दर्शकों में सत्य की भ्रान्ति उत्पन्न करता है।[1] मि० वाल्कली (Walkley) ने उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में उसी आधार पर नाटक से उत्पन्न होने वाले लालित्य-बोधीय आनंद का उल्लेख किया था।

बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशक में यूरोपीय चिन्तन में एक महत्त्वपूर्ण घटना घटी। १९०४ में विलियम जेम्स ने एक लेख लिखा, "क्या चेतना का

Aedipus, the audience is aware of the obstacles, and the person himself and the persons on the stage are unaware of it. Drama arises thus and continues when or till the persons are the persons aware of the obstacle, it is sustained so long as we watch the reaction, physical, mental or spiritual of a person or persons, to the opposing persons or circumstance or future. It relaxes as this reaction subsides, and ceases when the reaction is complete. This reaction of a person to an obstacle is most arresting.

1. Dramatic art is the ensemble of conventions universal or local, eternal or temporary, by the aid of which the playwright representing human life in the theatre gives to the audience an illusion of truth.

अस्तित्व है ?" इस लेख से यूरोपीय चिन्तन को नयी दिशा मिली। उनका कहना था, "मेरा विश्वास है कि एक बार चेतनता अदृश्य होकर पारदृश्यता या विशदता में बदलती है तो वह लुप्तप्राय स्थिति अथवा अनस्तित्व में होती है, अतएव प्रमुख सिद्धान्त में इसे स्थान नहीं दिया जा सकता।"[1] वे पुनः कहते हैं कि चेतनता स्थिति या अस्तित्व नहीं, अपितु एक वृत्ति या व्यवसाय है (consciousness is not an entity, but a function)। प्रश्न उठ सकता है कि यह वृत्ति या व्यवसाय क्या है ? वे इसे समझाते हुए कहते हैं कि जागृत अवस्था की चेतना एक विशेष तरह की चेतना होती है। इसके अतिरिक्त एक सशक्त चेतना का क्षेत्र पाया जाता है। चेतना के अतिरिक्त मन, प्रवृत्ति, व्यवहार, आदि की भी आज मनोवैज्ञानिक व्याख्यायें हो रही हैं। इन व्याख्याओं से कई वाद भी प्रभावित हुए हैं। उदाहरण के लिये, हम यथार्थवाद, दादावाद, अतियथार्थवाद को ले सकते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व नाटक में इन सिद्धान्तों का बोलबाला रहा है। दादावादी शैली के लेखक अपने नाटकों के माध्यम से विसंगतिसूचक, विस्फोटक और बेतुके विषयों को रंगमंच के माध्यम से हमारे सामने रखने में समर्थ हुए थे। इन नाटकों में पूर्वप्रचलित परंपरा का घोर विरोध किया गया था। परिणामस्वरूप संवाद का स्थान निरर्थक कविताओं ने लिया और वेषभूषा, पहनावा तथा अभिनय विचित्र शैली में प्रस्तुत किया गया था। यथास्थान चरित्रों के स्थान पर शरीर के विविध अंगों का पात्र के रूप में उपयोग किया गया था। इनसे लैंगिक संबंध, बर्बरता और हिंसा का वातावरण अपनी पूर्ण विसंगतियों के साथ चित्रित किया गया था। अतियथार्थवादी आन्दोलन दादावाद की चरम परिणति माना जा सकता है। उस समय तक यूरोप में मनोविश्लेषणवाद की मान्यतायें स्पष्ट हो चुकी थीं। इसके परिणामस्वरूप साहित्य में आत्मगत या वैयक्तिक चरित्र-चित्रण की बाढ़-सी आ गई थी। १९१७ में 'अपोलोनेयर' ने अपना 'ब्रेस्ट ऑव टाइरेसियस' नामक नाटक प्रकाशित किया था और इसे 'ड्रेम सुर्रियलिस्ट' की संज्ञा दी थी। इसके आठ साल बाद 'आन्द्रेब्रेतों' ने अपना घोषणापत्र प्रकाशित किया। इस आन्दोलन में मूल्य की अस्वीकृति, जीवन में हर वस्तु का अराजक ढंग से उपहास तथा शंका की प्रधानता थी। यह इसकी 'डेस्ट्रक्टिव साइड' थी। पर, इसके अलावा ये नाटककार निर्माणक पक्षों पर भी बल देते थे। इस दृष्टि से ये विद्रोह के स्थान पर विज्ञान-सम्मत निष्पत्ति प्रस्तुत करना चाहते थे। मनोविज्ञान में एव्रेनोव (Evreinov) ने मनुष्य के 'रेशनल' और इर्रेशनल' व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला था। अतियथार्थवादियों ने दूसरे पक्ष को ग्रहण

---

1. I believe that consciousness, when once it has evaporated to this state of pure diaphaneity, is on the point of disappearing altogether. It is the name of a non-entity, and has no right to place among first principles.

किया और कला तथा 'इर्रेशनल सेल्फ' के संबंध पर प्रकाश डालते हुए इस दूसरे पक्ष की महत्ता को प्रतिपादित किया। यथार्थवादी चिन्तन की दो प्रमुख निष्पत्तियाँ थीं, (१) स्वयंचालित लेखन और (२) स्वप्न के विश्वसनीय निरूपण की पद्धति। इन मान्यताओं से नाटक विशेष रूप से प्रभावित हुआ।

अतियथार्थवाद के पूर्व नाटक के क्षेत्र में अभिव्यंजनावादी सिद्धान्त भी अपना करिश्मा दिखा चुका था, और कुछ कमाल हासिल कर चुका था। यथार्थ में प्रभाववाद और अभिव्यंजनावाद दो प्रवृत्तियाँ हैं। प्रभाववाद का उत्स फ्रांस था और अभिव्यंजनावाद का जर्मनी। प्रभाववाद चित्तवृत्ति या लालित्यबोधीय प्रयत्न का परिचायक था, इसका नाटक से कोई संबंध न था, पर अभिव्यंजनावाद की नाटक-संबंधी सुनिश्चित मान्यता थी और वह कथावस्तु के अभिनव उपयोग पर भी बल देता था। १९१०-२० तक के बीच इस शैली में कई नाटक लिखे गये थे। इस काल में यह यथार्थवाद की विरोधिनी होने के कारण कुछ लोकप्रिय भी हुई थी। 'निकल' ने इसकी विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कहा है कि अभिव्यंजनावादी शैली में प्रमुख रूप से बड़े दृश्यों के स्थान पर छोटे दृश्यों, और यथार्थ चरित्रों के स्थान पर प्रतीक चरित्रों का उपयोग किया जाता था। इसमें यथार्थ के प्रति कम आग्रह होता था और जनप्रभाव को विशेष महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। सामान्य व्यक्ति को भी इस रूप में चित्रित किया जाता था कि वह अपनी सीमा को त्याग कर किसी लोकसत्य का परिचायक बन जाय। इसमें वैयक्तिकता के लिये कोई विशेष स्थान न था। ये नाटककार व्यक्ति के व्याज से समाज की चेतना को प्रस्तुत करना अपना धर्म समझते थे। ये मनुष्य के आत्मगत स्वरूप का विश्लेषण करते थे, पर इनकी पद्धति मनोविश्लेषणवादियों से भिन्न थी। ये तो मानस के केवल उस सार्वजनीन पक्ष को ग्रहण करना चाहते थे जो मानवता के विशिष्ट प्रतिनिधियों को स्पष्ट रूप में हमारे सामने रखने में समर्थ हो सके। इनका संबंध घनवाद (cubism) और भविष्यवाद (futurism) से था। घनवादी विचारक यथार्थ की परतों से छिपे हुए मौलिक समतल धरातल की खोज करना चाहते थे और भविष्यवादी विचारक स्पष्ट रूप में तथ्य को ग्रहण करना चाहते थे। अभिव्यंजनावादी नाट्य-शैली में ये दोनों विशेषतायें पाई जाती थी।

अभिव्यंजनावाद के बाद कुछ और नाट्य-सिद्धान्त हमारे सामने आये। इनमें 'एपिक थिएटर' और 'थिएटर ऑव क्रुएल्टी' का उल्लेख विशेष समीचीन है। 'एरविन पिस्केटर' पहले व्यक्ति थे जिन्होंने 'एपिक थिएटर' का नामकरण किया, पर लोग गलती से यह श्रेय 'ब्रेख्त' को देते हैं। ब्रेख्त ने इस आदर्श पर नाटक लिखा और इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप दिया। असल में 'एपिक' नाटक में एक ही विषय से संबंधित घटनाओं की शृङ्खला प्रस्तुत की जाती है। इन घटनाओं को इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है कि वे भाव-संवेग से सर्वथा मुक्त हों। इसका प्रमुख उद्देश्य दर्शक को अनुभव कराना नहीं, अपितु उन्हें सोचने को बाध्य करना होता

है। 'पिस्केटर' कुछ अंशों में राजनीति से उलझे हुए नाटककार थे। उनकी धारणा थी कि आम जनता का भाग्य नये नाटक का प्रमुख दिशा-निर्देशक तत्त्व है। अतएव क्रान्तिकारी प्रेक्षागृह को समाज के अन्तर्विरोध को चित्रित करके क्रान्ति का अग्रदूत बनना चाहिए। संभवतः समाजवादी यथार्थवाद की भी यही मान्यता थी। 'पिस्केटर' और 'ब्रेख्त' साम्यवाद से प्रभावित भी थे। अतएव रंगमंच के माध्यम से इस विचार-धारा को प्रचारित अथवा प्रसारित करना अपना धर्म समझते थे। 'ब्रेख्त' ने इसी लिये नाटक के सन्दर्भ में अपने पृथक् भाव के सिद्धान्त (theory of estrangement) को प्रस्तुत किया था। उनका कहना था कि हमें आज बेगानेपन की आवश्यकता है। यह बेगानापन ऐसा है जिसका उपयोग हम नाटक देखने की स्थिति में करते हैं। प्रेक्षागृह में जाने के बाद हमें नाटक के मनोभाव के साथ समरस हो जाने की आवश्यकता नहीं है, अपितु थोड़ा बेगानापन अपनाकर, अपने को मनोभाव के प्रवाह से काटकर कुछ सोचने की जरूरत भी है। बाद में ब्रेख्त ने 'एपिक थिएटर' को ठुकरा दिया था और इसे 'डाइलेक्टिकल थिएटर' कहना अधिक उपयुक्त समझा था।

'थिएटर ऑव क्रुएल्टी' की भी इधर कुछ चर्चा रही है। एण्टोनिन आर्ताद (Antonin Artaud) ने सबसे पहले इस शब्द का प्रयोग किया था। नाम से कुछ विचित्र ध्वनि निकलती है। इससे शाब्दिक झगड़ा या गंभीर संवेदना व्यंजित होती है, पर ऐसा समझना त्रुटिपूर्ण होगा। इसमें एक जोड़े पात्रों के माध्यम से ऐसा निर्दय वार्तालाप कराया जाता है जो जीवन के एक महत्त्वपूर्ण अंश पर प्रकाश डालता है। इसका प्रमुख उद्देश्य मियाँ-बीवी या प्रेमी-युगल के संघर्ष का चित्रण होता है।

यूरोप में 'एण्टीथिएटर आन्दोलन' के कर्णधार 'आइनेस्को', 'जेनेट' और 'आदमोव' माने जाते हैं। वे अपने जीवन और नाटक की अतिरंजित दुनियाँ के बीच कोई साम्य नहीं पाते हैं। इसका कारण है। ये नाटककार मानते हैं कि नाटक में सामान्य जीवन से अतिरंजित चित्रों को कुछ युक्तियों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। ये चित्र नाटक के चि तो बन जाते हैं, पर इनमें जीवन की स्वाभाविकता का अभाव हो जाता है। 'आइनेस्को' ने आरंभ में पहले से प्रचलित नाट्य-पद्धति के विरोध में कुछ "पैरोडीज" की रचना की। बाद में उन्हें अपनी त्रुटि का एहसास हुआ। उन्होंने महसूस किया कि रंगमंच के लिये अतिरंजना, स्वरों का आरोह-अवरोह और उनका संभव बलाघात आवश्यक है, क्योंकि इसी के माध्यम से उसे उस मध्यस्थ क्षेत्र से मुक्त किया जा सकता है जो न नाटक का क्षेत्र है और न साहित्य का। इसके पूर्व 'आइनेस्को' के समक्ष कुछ समस्यायें थीं। वे यह नहीं निश्चित कर पा रहे थे कि उन्हें प्रकृतवादी शैली में लिखना चाहिए या प्रकृतविरोधी शैली में। इस अभिज्ञान से उनकी यह समस्या सुलझ गई। उन्होंने निश्चित किया कि उन्हें शुद्ध रंगमंच के लिये ऐसी रचनायें प्रस्तुत करना है जो अब तक के असंप्रेषित यथार्थ को इस रूप

में निरूपित करें कि उनका विरोधाभास स्वतः स्पष्ट हो उठे। इस स्थिति में रंगमंच उनके आन्तरिक-मानसिक स्वरूप की स्वीकृति बन गया। उन्होंने निश्चित किया कि मैं "नाटकों के द्वारा इस बात को प्रकट करूँगा कि दुनियाँ का यथार्थ स्वरूप मेरे लिये क्या है ? इस अभिव्यक्तीकरण के लिये त्रासदी-कामदी की पद्धति को अपनाऊँगा।" उनकी धारणा थीं कि नाटककार का उद्देश्य किसी 'मेसेज' को देना नहीं है। उसे तो केवल गवाह या साक्षी होना है और अपने या अन्य लोगों के दुखों के आधार पर उनके सुख को चित्रित करना है। अपनी इस मान्यता के आधार पर 'आइनेस्को' ने ऐसी नाट्य-शैली को जन्म दिया जो कुछ हद तक जीवन की तैर्यक्तिक व्याख्या पर आधारित थी। उसकी सब से बड़ी कमजोरी यह थी कि उसके नाटकों में व्यक्तियों के स्थान पर अमूर्त चरित्रों की भरमार हो गई। इस निकाय के दूसरे लेखक 'जेनेट' ने रंगमंच का प्रयोग अपने समाज-विरोधी प्रत्याख्यान (anti-social potest) के लिये किया।

आधुनिक नाट्य-सिद्धान्तों की एक विशेषता थी। ये सभी सिद्धान्त नाटक को साध्य नहीं, साधन मानकर निरूपित किये गये थे। इसके परिणामस्वरूप मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना की कहावत चरितार्थ हुई। ये नाटककार एक प्रमुख सत्य को आँख से ओझल कर बैठे कि साहित्य साध्य भी है और साधन भी, अथवा हम यह कह सकते हैं कि यह किसी साध्य का साधन है। अगर साध्य लोकहृदय है और उस तक पहुँचने का साधन व्यक्ति-विशिष्ट नाटक तो इससे किसी को एतराज नही हो सकता। पर यहाँ तो बात कुछ उलटी है।

अन्विति (Unity)

भारतीय साहित्य में अन्विति का उल्लेख नहीं मिलता। इधर पाश्चात्य साहित्य में पूर्ववर्ती दृष्टिकोण कुछ बदला है, पर इसके पहले नाट्य-साहित्य की दृष्टि से अन्विति को महत्त्वपूर्ण माना जाता था। नाटक को जीवन का अनुकरण माना जाता था और कलाकार जीवन की इस अनुकृति को विश्वसनीय रूप देने के लिये ललकता रहता था। इसीलिये अन्विति की कल्पना की गई थी। इसके सबसे पहले प्रतिपादक 'अरस्तू' थे। उन्होंने सावयव एकता के सन्दर्भ में कार्य और काल की एकता पर बल दिया था। बाद में यूनानी दुःखान्तकी को ध्यान मे रखकर स्थान की अन्विति की ओर ध्यान गया था। अन्वितियों को लेकर कई तरह के विचार हमारे सामने आये हैं। कुछ लोग नाटक में कार्य और काल की एकता को आवश्यक समझते हैं। काल की दृष्टि से बारह या चौबीस घण्टे का समय निर्धारित किया गया है और स्थान की दृष्टि से एक मकान, एक शहर या किसी ऐसे निश्चित स्थान का उल्लेख किया गया है जो व्यक्ति को स्पष्ट दिखाई पड़े। बाद के लेखकों ने इस अन्वितिमय के सिद्धान्त का बहिष्कार किया और इसे आडंबरपूर्ण, निरर्थक और मशीनी सिद्ध

किया। उस समय उसके स्थान पर आन्तरिक अन्विति की बात उठाई गई और उसे नाटक के केन्द्रीय भाव का आश्रित माना गया। इस काल के विचारकों में 'लेसिंग'[1], 'इलियट'[2] और जे० एल० सत्यान[3] ने पुन: इनका समर्थन किया और इनकी आवश्यकता पर बल दिया। 'सान्तायन' आज के सन्दर्भ में प्रभावान्विति का उल्लेख करते हैं। इसमें शक नहीं कि पूरा नाटक प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है, पर यह तभी संभव है जब अभीप्सित प्रभाव अन्त तक स्पष्ट हो जाय। नाटक की प्रभावान्विति का संबंध कर्मफल से होता है। भारतीय नाटकों में इसीलिये चतुर्वर्ग में से किसी एक फल को ग्रहण करना आवश्यक बताया गया है। प्रभावान्विति का मतलब यह है कि अन्त तक नाटक में एक फल की प्राप्ति द्वारा सभी प्रभाव एक निश्चित उद्देश्य की ओर उन्मुख होकर एक में मिल जायँ। नाटक की यह अन्विति उसके केन्द्रीयकरण की परिचायिका होती है। नाटक का एक प्रमुख केन्द्रीय प्रतिपाद्य होता है। नाटककार नाटक के घटना-क्रम को इस प्रकार नियोजित करता है कि अन्य सभी घटनायें और विचार मिलकर उसी केन्द्रीय भाव के साथ समरस हो उठें। प्रभावान्विति असल में नाटक का प्राण होती है, आज के नाटकों में इस पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। अन्त के विषय में भी ये नाटककार बहुत सतर्क नहीं दीख पड़ते। उनका कहना है कि जीवन का अन्त अगर व्यवस्थित और अन्वित नहीं होता तो नाटकों के विषय में इसे व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करना अप्रासंगिक और त्रुटिपूर्ण होगा। बात जो भी हो, जीवन अगर उद्देश्यहीन नहीं हो सकता तो कला भी उद्देश्यहीन नहीं हो सकती। जीवन कला का प्राण और कला जीवन की मार्गदर्शिका है। ये अन्योन्याश्रित होते

---

1. The Greeks submitted willingly to this restriction but with an adroitness with sense of understanding, such that in seven cases out of nine they gained more than they lost, for they allowed this restriction to be the motive for so simplifying the action carefully eliminating from it everything superfluous, that reduced to its absolute essentials it became simply an ideal of action, which was developed most felicitously in that form which demanded the least amplification from circumstances of time and place.

2. The unities have for me a perpetual fascination. I believe they will be highly desirable for the drama of future. The unities do make for intensities.

3. A bad play is one which fumbles in action, sacrifices clarity in its impressions, and loses control of its theme. The better play is one which efficiently manipulates its action to steer its ideas resolutely home......In drama real coherence is possible, because good dramatic impression possesses some quality of synthesis, some ties that bind one to another.

हैं और इनमें परस्पर आदान-प्रदान चलता रहता है। आज भी कलाकार को ठण्डे दिल से यह तो सोचना ही पड़ेगा कि वह जीवन को क्या दे? अगर हम जीवन को अन्वित देखना चाहते हैं तो नाटक के अन्वित होने में कोई एतराज नहीं होना चाहिए। नाटककार इन्हें अपनाने से अनावश्यक विस्तार और विखराव से बच सकता है। मैं यह नहीं चाहता कि जानबूझ कर नाटकों को नियम के बंधन में बाँधा जाय। मैं तो केवल यही कहना चाहता हूँ कि उन्हें अनावश्यक रूप से नियमहीन होने से बचाया जाय।

रंगमंच, प्रेक्षागृह और नाटक

आज के युग में रंगमंच और प्रेक्षागृह से अलग नाटक की कल्पना करना अवैज्ञानिक है। विगत पृष्ठों में हमने इस त्रयी के संबंध पर संक्षेप में विचार किया है और इस बात पर बल दिया हैं कि रंगमंच के बिना नाटक का विशेष अर्थ नहीं होता। कुछ आलोचकों ने नाटक को स्वतंत्र साहित्य-विधा के रूप में ग्रहण किया है और प्रकारान्तर से पठ्य नाटकों के महत्त्व को भी स्वीकार किया है, पर आज साहित्य का यह रूप इतना समृद्ध हो गया है कि इसमें बहस-मुबाहसे की विशेष गुंजाइश नहीं रह गई है। हमें इस तथ्य को स्वीकार करने में हिचक नहीं होनी चाहिए कि नाटक दृश्यकाव्य है और इसका अभिनेता और रंगमंच से निकट का संबंध भी होता है। नाटककार रचनाकार है और अभिनेता अपने कौशल के द्वारा उसे व्याख्यायित और प्रस्तुत करने का साधन। कुशल अभिनेता अपने अभिनय से नाटक में जान डाल देते हैं, उसे और सजीव और आकर्षक ढंग से हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। हम इस बात को पुनः दुहरा देना चाहते हैं कि कुशल अभिनेता नाटक को प्रस्तुत ही नहीं करते, अपितु अपनी अन्तर्दृष्टि और कला द्वारा उसकी व्याख्या को हम तक प्रेषित करना चाहते हैं। नाटक में पात्रों के कथोपकथन का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। जब हम रंगमंच के कलात्मक परिवेश में सज-धज कर पात्रों को अभीप्सित अंश का अभिनय करते देखते हैं तो उसकी विशेषतायें और उभड़ कर हमारे सामने आ जाती हैं और नाटक में चार-चाँद लग जाता है। इससे साफ जाहिर है कि अभिनेता और रंगमंच नाटक को प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत करने के प्रमुख साधन हैं। प्रेक्षागृह वह भवन है जिसमें रंगमंच होता है और उस पर अभिनय किया जाता है। नाटक वह साहित्यिक कृति है जो एक या एकाधिक लेखकों द्वारा इसलिये लिखी जाती है कि अभिनेता उसे रंगमंच पर प्रस्तुत करें और उसकी व्याख्या से लोगों को अवगत करायें। ये तीनों शब्द एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, फिर भी इनमें सामान्य भिन्नता पाई जाती है।

नाटक की परिभाषा में तीन बातों पर जोर दिया गया है। पहली बात यह है कि नाटक कथोपकथन के द्वारा किसी कार्य-व्यापार को निरूपित करता है। दूसरी

बात यह है कि इसमें वर्णनात्मकता का अभाव होता है। तीसरी बात यह है कि इसमें कलात्मक नाटकीयता पाई जाती है। नाटकीयता रंगमंच की मुखापेक्षी होती है। नाटक के कुछ दर्शक इस विशेषता का निर्णय नाटकों के नियम के आधार पर करते हैं और कुछ रंगमंचीय विधान के आधार पर। यह सभी लोग जानते हैं कि केवल नियम-पालन नाटक को नाटक नहीं बनाता, अपितु उसका रंगमंच पर सफलतापूर्वक प्रस्तुतीकरण उसे नाटक बनाता है। कुछ नाटक पठ्य होते हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं कि वे प्रेक्षागृह में तो सफल नहीं होते, फिर भी उन्हें कलाकृति के रूप में महत्त्व दिया जाता है। पर, सब कुछ के बावजूद 'नाटक' शब्द को प्रेक्षागृह की अपेक्षा होती है, रंगमंच अथवा अभिनेताओं की अपेक्षा होती है। अगर वह यह आवश्यकता पूरी नहीं करता तो साहित्य का रूप हो सकता है, नाटक नहीं। 'लेसिंग' ने बहुत पहले कहा था कि रंगमंच के निर्माण, मनुष्य और औरतों को छद्मवेश में प्रस्तुत करने और दर्शकों को प्रेक्षागृह में निमंत्रित करने के पीछे एक उद्देश्य होता है। प्रेक्षागृह की साज-सज्जा, बनावट-बुनावट, ध्वनि, संगीत, अभिनय तथा अभिनेताओं की वेशभूषा का दर्शक पर अद्भुत प्रभाव पड़ता है और उसके अन्दर ऐसी संवेदना उत्पन्न होती है जो नाटक के अभाव में नहीं उत्पन्न हो सकती थी। इसके अलावा नाटक में कथोपकथन या संघर्ष का उपयोग किया जाता है। नाटककार अपनी दृष्टि से इसे स्पष्ट बनाने की कोशिश अवश्य करता है, पर उसकी इस कला को जब रंगमंच पर प्रस्तुत कर दिया जाता है तो वह आवश्यकता से अधिक स्पष्ट हो जाती है। आस्ट्रियन नाटककार 'ग्रिलपरज़र' तो 'थिएट्रिकल' और 'ड्रामेटिक' को समानधर्मी मानते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि नाटक रगमंच से अलग हो जाने पर अपने महत्त्वपूर्ण पक्ष से वंचित रह जाता है,[1] क्योंकि इसमें तटस्थता और तात्कालिकता का महत्त्व अधिक होता है।

दर्शक और नाटक

ऊपर प्रेक्षागृह और नाटक की बात उठाई गई है। इससे एक बात साफ हो जाती है कि नाटक का संबंध दर्शक से होता है। ये दर्शक आशा और अभिलाषा से युक्त व्यक्ति होते हैं। व्यक्ति में बुद्धि और संवेग की प्रधानता होती है। इसी लिये वह रगमंच पर प्रस्तुत किये गये नाटक के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता

1. Leave out of account the actor, you sacrifice both his vital physical presence and countless vocal influxions, he can bring to his speaking of printed dialogue; leave out the account setting and costume you sacrifice spectacle, dimension, portion, colour; leave out of account the audience, you deprive yourself of one of distinctive satisfactions the drama offers—subtle but perhaps very real, your awareness of shared experience.

है। नाट्य-भ्रान्ति के विवेचन में हमने 'मार्गन' और 'अभिनवगुप्त' का मत दिया है और दर्शक की आनन्दोपलब्धि या मनोरंजन का उल्लेख किया है। यहाँ केवल एक बात का उल्लेख कर देना समीचीन ज्ञात होता है कि अभिनेताओं और नाटक के पात्रों में सीधा संबंध होता है और नाटक का कार्य-व्यापार भी संबंधों का मुखापेक्षी होता है। जब यह प्रेक्षागृह में प्रस्तुत किया जाता है तो इसमें विशिष्टता आ जाती है। नाटक में निरूपित कार्य-व्यापार रंगमंच पर पात्रों के द्वारा प्रस्तुत प्रत्यक्ष-दृश्य कार्य-व्यापार में बदल जाता है। इससे प्रभाव की तात्कालिकता का आविर्भाव होता है। नाटक के पढ़ने में हमें भूतकालीन अनुभूति का साक्षात्कार होता है, पर उसे देखने पर प्रभाव की तात्कालिकता के कारण वर्तमान की अनुभूति होती है। नाटक अभिनय द्वारा दर्शकों तक प्रेषित किया जाता है, अतएव उनकी रुचि का इस पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। नाटककार अपने नाटक को इस रूप में नियोजित करता है जिससे वह दर्शकों को अधिक से अधिक प्रभावित कर सके। नाटक की सभी घटनायें नाटककार की अनुभूति और विधायक कल्पना द्वारा संश्लेषित होती हैं और इसमें उसकी इच्छाशक्ति और चेतना का सहयोग रहता है। दर्शक भी चिन्तन की दृष्टि से स्वतंत्र होता है। नाटककार की ही तरह वह भी घटनाओं और कार्य-व्यापारों पर अपनी दृष्टि से विचार करता है। फिर भी कहीं न कहीं दर्शक और नाटक में तादात्म्य या समानुभूति की बात आती है। इस तादात्म्य में केवल कार्य-व्यापार के यथार्थ का अभिज्ञान ही निहित नहीं रहता, अपितु उसकी अभिव्यंजना का अभिज्ञान भी पाया जाता है। नाटक शुरू होने के पहले दर्शक के मन में तरह-तरह की कल्पनायें क्रियाशील रहती हैं, पर उसके आरंभ होते ही वह इन विचारों से मुक्त होने लगता है। वह ज्यों-ज्यों अपने पूर्वग्रहों से मुक्त होता जाता है, त्यों-त्यों नाटक से उसका तादात्म्य स्थापित होता जाता है। जिस मात्रा में दर्शक का ध्यान दृश्य पर केन्द्रित होता है, उसी मात्रा में वह तन्मय होने लगता है। अभी तक प्रेक्षागृह द्वारा प्रस्तुत इन प्रभावों की विशद छानबीन नहीं हो सकी है, अतएव इनके विषय में कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता है। अमेरिका में ध्वनि के आरोह-अवरोह के प्रभाव पर कुछ प्रयोग किये गये हैं, उनसे यह सिद्ध होता है कि दर्शक पर इसका प्रभाव पड़ता है। दरअसल नाटक सामाजिक साहित्य-रूप है और इसकी कला का विकास अभिनय को ध्यान में रखकर हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि इसके द्वारा व्यक्ति नहीं, अपितु समाज का आत्मबोध व्यंजित होता है।[1] यह सब ठीक है, पर इससे दर्शकों से जुड़ी समस्या

---

1. Dramatic art fully developed in the form of acted play is the working out in terms of make believe and no doubt, and patchily, biasedly with much over emphasis and suppression but still in the veritable human medium—not of the self-realisation of individual, but of society itself.

का क्या समाधान हो पाता है ? यथार्थ में दर्शक का उल्लेख करते समय उसकी रुचि, बौद्धिक स्तर, समझने की शक्ति और वर्गगत विशेषता को ध्यान में रखना जरूरी है। बिना इस पर विचार किये समस्या का समाधान नहीं ढूँढ़ा जा सकता।

पठ्य नाटक

रंगमंच की आवश्यकता और अनिवार्यता के बावजूद भी कुछ पठ्य नाटकों का लेखन और पठन चलता रहता है। रंगमंच पर नाटक देखने की स्थिति में उसका प्रभाव क्रियाशील रहता है, पर नाटक पढ़ने की स्थिति में यह बात नहीं पाई जाती। इस स्थिति में पाठक की कल्पना विशेष सहायक सिद्ध होती है। वह उसी के माध्यम से इसकी आंशिक क्षतिपूर्ति कर लेता है। नाटक का कार्य-व्यापार कहानी अथवा उपन्यास के कार्य-व्यापार से तीव्र होता है। इसमें गति और सातत्य पाया जाता है। इसी गति और सातत्य के कारण पठ्य नाटकों में प्रभाव की आसन्नता विद्यमान रहती है। नाटक का सम्पूर्ण कार्य-व्यापार वर्तमान में घटित होता है। इससे पाठक में विशिष्ट तल्लीनता उत्पन्न होती है। दृश्य या पठ्य नाटकों को देखते या पढ़ते समय आदि से अंत तक पाठक के दिमाग में एक तनाव बना रहता है। यह तनाव भी काल का परिणाम होता है। नाटक में काल भी द्रुत और नियंत्रित दो रूपों में चित्रित किया जाता है। इसका द्रुत स्वरूप उस समय देखने को मिलता है जब घटनाएँ तीव्र गति से आगे बढ़ती हैं और उन्हीं के साथ सम्बद्ध काल भी खिसकता जाता है। इसका नियंत्रित रूप उस समय देखने को मिलता है जब इसका संबंध किसी निश्चित निर्णायक घटना के साथ होता है।[1] पठ्य नाटकों में लेखक कुछ ऐसे निर्देश देता चलता है जिससे वे दृश्य नाटक के कुछ प्रभावों को प्राप्त कर सकें। ये निर्देश प्रमुख रूप से संघटना से संबंधित होते हैं। इन नाटकों की कहानी और घटना-क्रम में एक विशेषता होती है। उनका विकास इस रूप में होता है कि वे पाठक के अवधान को केन्द्रित करने में समर्थ हो सकें। दृश्य नाटक सामूहिक प्रयत्न या सम्मिलित प्रयत्न की एक इकाई होता है और दर्शक मंत्रमुग्ध होकर इस प्रयत्न के विविध स्वरूपों को देखता और उसमें तल्लीन होता है। कभी-कभी ये सामूहिक प्रयत्न समन्वित नहीं होते, अतएव उनसे उचित प्रभावान्विति नहीं हो पाती। पठ्य नाटक इस दोष से कुछ मुक्त होते हैं। पाठक की विधायक कल्पना कुछ महत्त्वपूर्ण अपेक्षित व अनिवार्य स्वरूपों को उसके सामने प्रस्तुत करती जाती है। यह क्रिया

---

1. In the final analysis, the tension is the result of two fold nature of time in drama. Time in drama is both accelerated in the sense that events appear to move with unusual rapidity and are controlled in such a way that time is allotted only to those action, and speeches, which point to the conclusion the author wishes to reach.

संश्लेषण और विश्लेषण प्रधान होती है। इसमें पाठक इतना दत्तचित्त हो जाता है कि नाटक के कार्य-व्यापार के अतिरिक्त संसार के अन्य वैयक्तिक स्वरूपों का उसके लिये कोई अर्थ नहीं होता। दृश्य नाटक की व्याख्या रंगमंच द्वारा प्रस्तुत की जाती है, पर पठ्य नाटक की व्याख्या नाटककार द्वारा दिये गये निर्देश तथा आन्तरिक प्रतिक्रिया द्वारा। दृश्य नाटक की व्यंजना हम रंगमंच से ग्रहण करते हैं, पर पठ्य नाटक की व्यंजना नाटक को पढ़ने से हृदय में उत्पन्न होने वाली अनुभूति की संवित् से।

नाटक और संघर्ष

मनोविज्ञान के अवतरण के पूर्व प्रायः यह निर्विवाद था कि संघर्ष नाटक का प्राण होता है। 'जॉन हावर्ड लॉसन' ने कहा भी है, "नाटक की प्रमुख विशेषता सामाजिक संघर्ष है जिसमें सचेतन इच्छाशक्ति का प्रयोग किया जाता है। इसमें व्यक्तियों का आपसी संघर्ष, व्यक्ति और समुदाय का संघर्ष, समुदाय-समुदाय का संघर्ष अथवा व्यक्ति तथा समुदाय तथा सामाजिक शक्तियों के संघर्ष को चित्रित किया जाता है।"[1] 'ब्रुनेटियर' ने इच्छाशक्ति के संघर्ष पर बल दिया था। 'विलियम आर्चर' ने उसका विरोध किया और अपनी बात को दूसरे ढंग से प्रस्तुत किया। उनकी धारणा थी कि नाटक में मनुष्य के भाव-संवेग और जीवन को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों का चित्रण किया जाता है। इनको इस रूप से नियोजित किया जाता है कि वे अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर नये विचार के वाहक बन जायँ। इस तरह नाटक को 'आर्ट ऑव क्राइसिस' कहना अधिक समीचीन है।[2] इसमें शक नहीं कि हर संघर्ष चरम बिन्दु की ओर उन्मुख रहता है, पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि नाटक केवल चरम बिन्दु की कला है। वास्तव में संघर्ष का मूल कारण उद्देश्य और परिणाम अथवा उद्देश्य और उपलब्धि की असदृशता है।[3] 'हेनरी आर्थर जोन्स' ने

1. The essential character of drama is social conflict in which conscious will is exerted, persons are pitted against other persons, or individuals against groups, or groups against groups, or individual or groups against social forces.

2. Archer is well aware that theatre must deal with situations which affect the lives and emotions of human beings. Since he disapproves of the idea of a conflict of will, he suggests that the word crisis is more universally characteristic of dramatic representations. "The drama" he says, "may be called the art of crises, as the fiction is the art of gradual development."

3. Indeed the intensity and meaning of conflict lies in the disparity between the aim and the result, between the purpose and achievement.

'ब्रुनेटियर' और 'आर्चर' की मान्यताओं के समन्वय से अपनी बात को कहने की कोशिश की है। उनकी धारणा है, "नाटक यथार्थ में निश्चित नाट्य-योजना के आरोह-अवरोह में कुतूहल या चरमोत्कर्ष की शृङ्खला या संभावित संघर्ष और क्रियाशील संघर्ष का प्रतिमान है।"[1] स्पष्ट है कि संघर्ष नाटक को जीवन्त बनाता है। त्रासदी में हमें भौतिक और मानसिक शक्तियों का संघर्ष मिलता है, पर कामदी में व्यक्तियों, लिंगों अथवा व्यक्ति और समाज का संघर्ष।[2] त्रासदी का संघर्ष कई रूपों का होता है। सबसे पहले हम बाह्य संघर्ष को लेते हैं। इस प्रकार के संघर्ष में हमें दो भौतिक शक्तियों अथवा और किसी बाह्य शक्ति का संघर्ष मिलता है। आन्तरिक संघर्ष का स्वरूप इससे भिन्न होता है। यह नायक की मनोदशा से संबद्ध होता है।

आधुनिक काल में नाटक में संघर्ष के स्थान पर तनाव का उल्लेख होने लगा है। एक साधारण-सी जिज्ञासा होती है कि आखिर संघर्ष के स्थान पर अब तनाव का क्यों वर्णन होने लगा है और तनाव तथा संघर्ष में क्या भेद है? यथार्थ में संघर्ष और तनाव में भेद है। 'संघर्ष' शब्द तनाव की तुलना में अधिक स्थूल है। इसमें आन्तरिक और बाह्य दोनों तरह के स्वरूपों का दर्शन होता है। 'तनाव' शब्द उस मानसिक दशा का परिचायक है जो कुछ समय तक बनी रहती है। अन्तर्द्वन्द्व में सातत्य नहीं पाया जाता, पर तनाव में पाया जाता है। अन्तर्द्वन्द्व सदैव दो विरोधी शक्तियों में होता है और उसका स्वरूप भावात्मक रहता है, पर तनाव मानस को प्रभावित करने वाली क्रिया और बात के कारण होता है और उसका स्वरूप बौद्धिक होने के साथ भावात्मक होता है। तनाव की स्थिति में एक ही मनोदशा अपने आरोह-अवरोह में कुछ समय तक बनी रहती है। उस समय मानस में जो भी अन्य विचार उद्भूत होते हैं, वे उसी को गतिशीलता प्रदान करके उसे घनीभूत बनाते हैं। संघर्ष कुछ माने में बहिर्मुखी होता है और तनाव अन्तर्मुखी। जब साहित्य के क्षेत्र में अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का प्राधान्य होता है और मनुष्य के प्रश्नों का हल प्रायः बाहर की परिस्थितियों में न खोजकर उसके आन्तरिक स्वरूपों में खोजा जाता है तो इससे साहित्य भी प्रभावित होता है। आज की मानसिक दशा बहुत सुलझी, सपाट और सरल

---

1. Succession of suspense and crises, or as succession of conflicts impending and conflicts raging, carried on the ascending and accelerated climax, from beginning to the end of the connected scheme.

2. All drama ultimately arise out of conflict. In tragedy there is ever a clash between forces physical, or mental or both; in comedy there is ever a conflict between personalities between the sexes or between an individual and society.

नहीं है, अपितु आवश्यकता से अधिक कुण्ठाग्रस्त, निराशामय और धूमिल है। व्यक्ति समाज में अपना स्थान पाने की कोशिश करता है, पर वह पराजित होकर पुनः पीछे लौट आता है। उसे कहीं से सहानुभूति की आशा नहीं रह जाती। पर वह इससे निष्क्रिय नहीं हो जाता। निष्क्रिय हो भी कैसे सकता है, उसे जो संवेदनशीलता और बौद्धिकता का अभिशाप ढोना है। तो फिर वह अन्तर्मुखी हो जाता है, चिन्तन की स्थिति में अपने को डाल देता है और सारी बातों का निदान मानसिक धरातल पर खोजता है। इससे उसके मन में तनाव बना रहता है। आज के नाटकों में मनुष्य के इसी तनावपूर्ण मन की खोज की जाती है। नाटककार इसीलिये मानव के द्वैताश्रित अन्तर्द्वन्द्व को छोड़कर एकाश्रित तनाव को चित्रित करने की बात करता है। संभवतः इस तनाव की खोज को वह मनुष्य की सही खोज भी मानता है। एक और बात है जिसे समझना जरूरी है। मानव जीवन और क्रिया में सदा तनाव की स्थिति बनी रहती है। यही तनाव परिवर्तन और विकास का जनक होता है। संघर्ष से सदैव एक नयी चीज उत्पन्न हो जाती है, तनाव से नहीं।

तनाव-सिद्धान्त मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त से प्रभावित है। इसके प्रमुख प्रतिपादक 'फ्रायड', 'युंग' और 'एडलर' रहे हैं। इन लोगों ने मन के विविध क्रिया-कलापों के संबंध में जो कुछ भी कहा है, उससे इसके स्वरूप-निरूपण में सहायता भी मिली है।

नाटक के तत्त्व

अन्य साहित्य-रूपों की तरह नाटक के छः तत्त्वों का उल्लेख मिलता है। इन तत्त्वों के उपयोग द्वारा नाटक एक समन्वित प्रभाव उत्पन्न करता है।

कथानक

कथानक निश्चित देश और काल में घटी घटना का सुनियोजित और सुसंघटित रूप होता है। इसके द्वारा नाटक के कार्य-व्यापार को निरूपित किया जाता है। दरअसल कहानी और कथानक में भेद होता है। कहानी घटना को कालानुक्रम के साथ प्रस्तुत करती है, पर कथानक कार्य-कारण-संबंध पर आश्रित होता है। कथावस्तु कलाकार के मानस से उद्भूत होती है, जबकि कथानक कौशल से। कथानक में केवल कालानुक्रम को ही बाँधने की कोशिश नहीं की जाती, बल्कि संसृति के कार्य-कारण-संयत-विवेकपूर्ण और बोधगम्य संघटना की कलात्मक अन्विति भी पाई जाती है। यह किसी नाटक या उपन्यास में घटित होने वाली घटनाओं का समुच्चय होता है और इसमें विश्वसनीय असंभाव्यता को विश्वसनीय संभाव्यता से अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। किन्हीं भी दो उपन्यासों या नाटकों के कथानक समान नहीं होते। इसका प्रमुख कारण यह है कि नाटककार निरन्तर परिवर्तित होने वाले जीवन-स्पन्दनों और उनके स्वरूप को भिन्न रूप में चित्रित करते हैं। इसमें देश, काल, स्थान और

मानव की भावनाओं तथा अनुभूतियों का कलात्मक निरूपण किया जाता है। इसमें विश्वास और विस्मय के दो छोरों के कारण तनाव की स्थिति बनी रहती है। प्रमुख उपन्यासकार हार्डी का कहना है, "नाटक और उपन्यास की संघटना का रहस्य असामान्य और शाश्वत तथा विश्वजनीन के समन्वय पर आधारित होता है। जो कलाकार घटनाओं के सामान्य तथा असामान्य निरूपण से परिचित है, वही इसके रहस्य का पारखी हो सकता है।"[1]

'हार्डी' से बहुत पहले 'अरस्तू' ने इसकी संघटना को ऐसे कार्य-व्यापार पर आधारित बतलाया था जो स्वत:पूर्ण हो और जिसमें आरंभ, मध्य और अन्त पाया जाय। आरंभ का पूर्व-संबंध नहीं होता है, पर-संबंध होता है, मध्य का पूर्व-पर दोनों संबंध होता है और अंत का केवल पूर्व-संबंध होता है।[2] आज 'अरस्तू' बहुत पुराने पड़ चुके हैं, अतएव उनकी यह बात भी पुराना राग सिद्ध हो रही है। बुनियादी तौर पर आज यह माना जाने लगा है कि नाटककार किसी भी कार्य-व्यापार को सही बिन्दु पर पकड़ कर उसे विकसित करता है। आवश्यकता केवल इस बात की होती है कि उसके लिये प्रयुक्त शब्द और अर्थ का साँचा उसके अनुकूल हो; वह कहानी के उतार-चढ़ाव को अभिव्यक्त कर सकता हो। हर साहित्य-रूप में भाषा के माध्यम का कथ्य की प्रकृति के अनुकूल प्रयोग किया जाता है। 'बैलेड' के वस्तु-संगठन से महाकाव्य वंचित रह जाता है और महाकाव्य के औदात्य से उपन्यास। 'अरस्तू' ने कथानक को प्रमुख और चरित्र को गौण माना था। इसमें शक नहीं कि पहले के महाकाव्य, खण्डकाव्य, कहानी, उपन्यास और नाटक पर यह बात लागू भी होती थी, पर आज वस्तुस्थिति बदल गयी है और उसके कारण इस सिद्धान्त को उसी रूप में ग्रहण करने में अड़चन खड़ी हो गई है। आधुनिक साहित्य में कथानक के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया हुई है और वह अपने महत्त्व को प्राय: खो चुका है। इस

---

1. The whole secret of fiction and drama in constructional part lies in the adjustment of the things unusual to things eternal and universal. The writer who knows exactly how exceptional and how non-exceptional his events should be made, possesses the key to the art.

2. They "should be based on single action, one that is complete whole in itself, with a beginning, a middle and an end" the later clauses being defined thus, "a beginning is that which is not itself necessarily after anything else and which has naturally something else after it, an end is that which is naturally after something itself, either as its necessary or usual consequent and with nothing else after it and a middle that which is by nature after one thing and has also another after it.

प्रतिक्रिया का कारण हम मनोविज्ञान की वैज्ञानिक पद्धति में पा सकते हैं। कथानक का विरोध करने वालों में 'आन्द्र जाइड', 'वर्जीनियाँ वुल्फ', 'मेटरलिंक' और 'स्ट्रिण्डबर्ग' आदि प्रमुख हैं। 'जाइड' ने साफ कहा है कि उपन्यास के कथानक को ऐसे बाह्य तत्त्वों से मुक्त कर देना चाहिए जो सिनेमा के विषय हैं।[1] मेरी समझ में यह शुद्धीकरण संभव नहीं। इसका प्रमुख कारण यह है कि हम सरलता से इस बात को लेकर उनके क्षेत्र के संबंध में कोई लक्ष्मण-रेखा नहीं खींच सकते। वुल्फ की धारणा है कि कथानक स्वतंत्र इच्छाशक्ति पर आधारित न होकर किसी सशक्त निर्देश द्वारा गढ़ा जाता है। इसलिये उसे देखकर हमें उसके जीवनधर्मी होने पर शक होने लगता है।[2] मेटरलिंक[3] कहते हैं कि कथानक का निर्माण करते समय हम जीवन के ऐसे विधायक तथ्यों को आँख से ओझल कर देते हैं जो लोक-हृदय को सजीव बनाते हैं, इससे हम घटना के उचित मूल्यांकन से वंचित रह जाते हैं। स्ट्रिण्डबर्ग अन्य लेखकों की तुलना में इस पर गंभीरता से विचार करते हैं। वे यह मानते हैं कि संघटना की निरंकुशता लेखक को किसी दिशा में ले जा सकती है, किसी समय किसी भी बात को घटित होते दिखा सकती है। इसकी सीमा में सब कुछ संभव है। यथार्थ की महत्त्वहीन पृष्ठभूमि में देश-काल का कोई अस्तित्व नहीं होता। कल्पना स्मृतियों, अनुभूतियों और अपने ख्याली द्वन्द्वों के द्वारा नयी संघटना का

---

1. I should like to strip the novel of every element, that does not specially belong to the novel. Outward events, accidents, traumatism belong to the cinema. The novel should leave them to it.

2. The writer seems constrained not by his own free will, but by some powerful and unscrupulous tyrant, who has him in thrall, to provide a plot, to provide comedy, tragedy, love interest and an air of probability embalming the whole so impeccably that if all his figures were to come to life, they would find themselves dressed down to the last button of their coats in the fashion of the hour...But sometimes...we suspect a momentary doubt, a spasm of rebellion. Is life like this ?

3. There is an everyday tragedy that is much more real, much more profound and much more true to our real being, than the tragedy of great events. It is easy to feel but not easy to show this, because this essential tragedy is not simply material or psychological. It is no longer a matter of definite struggle of one being with another being, one desire with another desire, or eternal conflict of passion and duty. It is more a matter of showing what is astonishing in mere act of living.

तानाबाना बुनती है। इन मान्यताओं के फलस्वरूप आज के युग में कुछ कथानक-हीन नाटक देखने को मिले हैं।

बावजूद इस विरोध के कथानक की बनावट और बुनावट का शास्त्रीय महत्त्व है। संस्कृत के आचार्य विषय-वस्तु की दृष्टि से कथानक को तीन तरह का मानते हैं, (१) प्रख्यात, (२) उत्पाद्य और (३) मिश्र। प्रख्यात कथानक का नायक ऐतिहासिक या पौराणिक पुरुष होता है, उत्पाद्य का कल्पना-प्रसूत और मिश्र वा इन दोनों का मिला-जुला रूप। कथानक को दो तरह का माना जाता है, (१) आधिकारिक और (२) प्रासंगिक। आधिकारिक कथानक का संबंध नायक के मुख्य कार्य से होता है और प्रासंगिक का गौण कार्य से। प्रथम कथानक-रूप कुछ बड़ा, उदात्त और नायक के कार्यों के सहयोग से बुना जाता है, और उसमें फल की योग्यता भी पाई जाती है, पर दूसरे तरह का कथानक गौण होता है और उसके प्रयोग का मूल-उद्देश्य मूल कथा की सौन्दर्य-वृद्धि और कार्य-व्यापार का समुचित विकास होता है। प्रासंगिक कथानक को भी दो तरह का माना जाता है, (१) पताका और (२) प्रकरी। पताका नामक प्रासंगिक कथानक बड़ा होता है और यह नाटक के किसी बिन्दु से आरंभ होकर अन्त तक चलता है। प्रकरी छोटा होता है और उसका प्रयोग निश्चित प्रसंग तक सीमित रहता है। पौरस्त्य साहित्य में कथानक-विन्यास के रचनात्मक स्वरूपों के तीन मुख्य आधारों का उल्लेख मिलता है, (१) अर्थ-प्रकृति, (२) कार्यावस्था और (३) संधि। अर्थ-प्रकृति नाटक की व्यापार-शृङ्खला को चामत्कारिक ढंग से फल की ओर उन्मुख करती है, इसीलिये इसे फलोपाय की संज्ञा दी जाती है। इसे पाँच तरह का माना जाता है, (१) बीज, (२) बिन्दु (३) पताका, (४) प्रकरी और (५) कार्य। बीज नामक अर्थ-प्रकृति से कार्य की उत्पत्ति होती है और बिन्दु से विकासोन्मुख कथानक के टूटे हुए कथासूत्र को जोड़ा जाता है। पताका और प्रकरी प्रासंगिक कथानक होते हैं। कार्य नामक अर्थ-प्रकृति नाटक का साध्य होती है। इसमें नायक को लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है। पौरस्त्य विचारकों की दृष्टि भी नाटक के कार्य-व्यापार की ओर रही है। 'ब्रुनेटियर' ने इच्छाशक्ति को नाटक का प्रमुख आधार माना था। हमारे यहाँ के विचारकों ने भी कार्य-व्यापार के विकास में इसी इच्छाशक्ति के वैज्ञानिक विकास को प्रस्तुत किया है। उन्होंने नाटक की कार्यावस्था को पाँच भागों में विभक्त किया है, (१) आरंभ, (२) प्रयत्न, (३) प्राप्त्याशा, (४) नियताप्ति और (५) फलागम। 'आरंभ' में उद्देश्य-प्राप्ति की इच्छा और जिज्ञासा पाई जाती है और प्रयत्न नामक कार्यावस्था में लक्ष्य-प्राप्ति के लिये तैयारी आरंभ हो जाती है। तीसरी अवस्था प्राप्त्याशा के नाम से अभिहित की जाती है। इसमें उद्देश्य की प्राप्ति और अप्राप्ति में भयंकर अन्तर्द्वन्द्व चलता है और अनेकानेक बाधाओं के बावजूद उद्देश्य-प्राप्ति की आशा बँधने लगती है। नियताप्ति नामक कार्यावस्था में केवल एक बाधा शेष रह जाती है और

फल की प्राप्ति की आशा पहले से कुछ प्रबल दीखने लगती है। फलागम में इष्ट-सिद्धि हो जाती है। इनके बाद संधि का नम्बर आता है। संधि का कार्य है जोड़ना या मिलाना। यह समान उद्देश्य की सिद्धि में सहायता पहुँचाने वाली अर्थ-प्रकृति और अवस्था को जोड़ती है और इसका नाटक की संघटना पर बड़ा अच्छा असर भी पड़ता है। वह आकर्षक, मोहक, सुहृद्जन, सुखदायक तथा चमत्कारपूर्ण बन जाता है और अपने आरोह-अवरोह से गुज़रता हुआ विकसित होता है। मुख संधि बीज नामक अर्थ-प्रकृति और प्रयत्न नामक कार्यावस्था को जोड़ती है और इसमें फल का आंशिक विकास देखने को मिलता है। प्रतिमुख संधि बिन्दु नामक अर्थ-प्रकृति और प्रयत्न नामक कार्यावस्था को जोड़ती है। यहाँ फल से संबद्ध स्वरूप अंशतः स्पष्ट और अंशतः अस्पष्ट होता है। गर्भ नामक संधि में पताका और प्राप्त्याशा को जोड़ा जाता है। यह स्थिति कुछ बेढंगी होती है। इसमें फल की प्राप्ति बार-बार प्रकट और अप्रकट अथवा आविर्भूत और तिरोभूत होती रहती है और उसकी खोज भी जारी रहती है। विमर्श संधि में प्रकरी तथा नियताप्ति को जोड़ा जाता है। इस स्थिति में बीज का विकास तो होता है, पर व्यवधान के कारण फल-प्राप्ति में बाधा उपस्थित हो जाती है। निर्वहण संधि फलागम तथा कार्य को जोड़ती है। इसमें इष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है। वस्तुतः कथा-विन्यास का यह स्वरूप सावयव विकास का परिचायक है। इसे हम अधोलिखित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं—

संधि

मुख	प्रतिमुख	गर्भ	विमर्श	निर्वहण
बीज + आरंभ	बिन्दु + प्रयत्न	पताका + प्राप्त्याशा	प्रकरी + नियताप्ति	फलागम + कार्य
फल का यत्किंचित् आभास	फल से संबद्ध कथानक कुछ स्पष्ट कुछ अस्पष्ट	स्पष्ट फलसिद्धि का बार-बार प्रकट-अप्रकट होना तथा उसकी खोज	बीज का विस्तार पर व्यवधान के कारण बाधा	फल-प्राप्ति

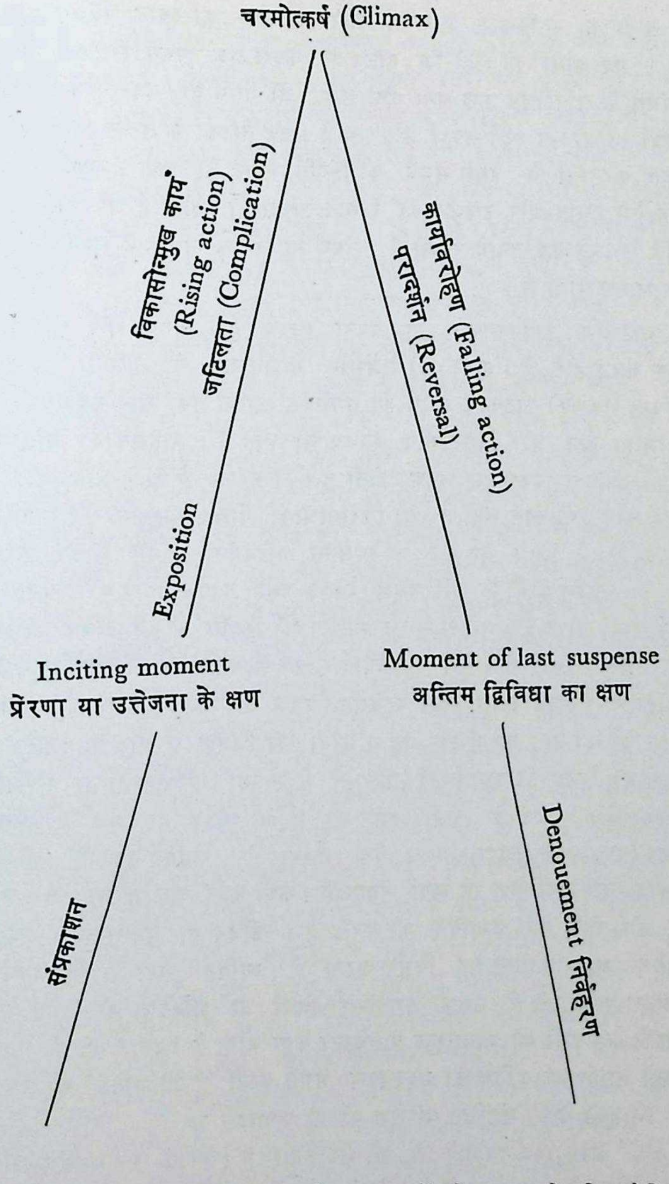
कथानक के कुछ अन्य भेद भी हैं जिन्हें हम निम्नांकित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं —

कथानक के अन्य भेद

- दृश्य
- सूच्य
  - विष्कंमक — मध्यम पात्र द्वारा सूचना
    - शुद्ध — जब एक या अनेक मध्यम पात्र इस का वर्णन करें
    - शंकर — जब एक मध्यम और एक नीच पात्र इसका वर्णन करें
  - प्रवेशक — नीच पात्र द्वारा आगत या विगत की सूचना
  - चूलिका — नैपथ्य — किसी रहस्य की सूचना
  - अंकमुख — पिछले अंक में आये पात्र जब अगले अंक में आकर अभिनय करें
  - अंकावतार — दूसरे अंक में आने वाली घटना की सूचना

पाश्चत्य विचारक 'फ्रेटॉग' ने कथानक के विकास को अगले पृष्ठ पर अंकित चित्र द्वारा प्रस्तुत किया है।

अगले पृष्ठ के चित्र से इस बात को हम स्पष्टता से समझ सकते हैं कि द्वन्द्व के कारण जहाँ से नाटक आरंभ होता हैं, उसे संप्रकाशन (expositions) कहते हैं। कथानक का आरंभ ही दो पक्षों के द्वन्द्वात्मक स्वरूप से होता है। इसमें उत्तेजना के क्षणों का विशेष सहयोग रहता है। कथानक के इस विकास को कार्यावरोहण की संज्ञा दी जाती है। यह स्थिति बड़ी ही जटिल और पेचीदी होती है। विरोध के और उग्र होने के वाद कोई पक्ष प्रवल और कोई निर्वल हो जाता है। ऐसी स्थिति में विजय सुनिश्चित हो जाती है। इसी को चरमोत्कर्ष कहा जाता है। चरमोत्कर्ष की स्थिति में नाटककार नाटकीय कथा के उस अंश पर विशेष बल देता है जिस पर आगे की कथा निर्भर रहती है। चरमोत्कर्ष के वाद परावर्तन की



स्थिति आती है। इस स्थिति में कुछ शेष बाधाओं को सुलझाने की कोशिश की जाती है। इनके सुलझ जाने के बाद निर्वहण का प्रादुर्भाव होता है। इसके बाद फल-प्राप्ति की बात पाई जाती है।

कथानक के विकास में संघर्ष और जटिलता का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण होता है। यह आवश्यक नहीं कि नाटक में केवल एक संघर्ष चित्रित हो। एक प्रमुख संघर्ष के अतिरिक्त कुछ अन्य गौण संघर्ष भी उसमें हो सकते हैं। नाटककार इन संघर्षों की योजना बड़ी सफाई से करता है। वह नाटक के तत्त्वों को इस प्रकार व्यवस्थित करता है कि इससे संघर्ष की स्थिति स्पष्ट हो जाय। संघर्ष के कारण नाटक में ऐसे तनाव और उलझन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो हमारे कुतूहल को आदि से अन्त तक बनाये रखती है। संघर्ष या तनाव नाटक के तत्त्वों का दिशा-निर्देशक स्वरूप होता है।

नाटकीय कार्य-व्यापार का अपना महत्त्व है। संघर्ष और कार्य-व्यापार आपस में संबद्ध होते हैं। इन्हीं को सुलझाने से सन्तुलन का आविर्भाव होता है। चरम बिन्दु (crisis) नाटक के संघर्ष को समन्वित करके उसे आगे बढ़ाता है। पर इसके अलावा कुछ और विचारणीय स्वरूप भी होते हैं। सन्तुलन की गतिशीलता नाटक की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण होती है। हो सकता है इससे आप कुछ चौंकें, पर इसमें कोई ऐसी बात नहीं है जो विरोधाभासी दीखे। सन्तुलन की गतिशीलता का अर्थ होता है, इसमें हेर फेर या सामान्य परिवर्तन। इसी हेरफेर से कार्य-व्यापार की उत्पत्ति होती है और संपूर्ण नाटक इसी कार्य-व्यापार की व्यवस्था का परिणाम माना जाता है। नाटक के चरमोत्कर्ष की स्थिति में हमें अधिक से अधिक द्वन्द्व की स्थिति दिखाई देती है। कार्य-व्यापार को भी सही अर्थ में नहीं ग्रहण किया जाता। इसका मतलब केवल कार्यों के वर्णन-चित्रण या निरूपण से लिया जाता है। पर ध्यान देने की बात यह है कि वह न कार्यों का चित्रण है और न भौतिक गति का परिचायक, वह तो यथार्थ में सक्रियता से उत्पन्न गतिशीलता या विकास का परिचायक है। नाटक के कार्य-व्यापार का उद्देश्य पाठक या दर्शक में भावात्मक प्रतिचेष्टा (emotional response) पैदा करना है। व्यक्ति एकाकी नहीं होता, उसके साथ उसका परिवेश भी लगा रहता है। कभी-कभी वह परिवेश से प्रभावित होता है और कभी उसे प्रभावित भी करता है। जीवन का हर सन्तुलन इन्हीं दो शक्तियों के घात-प्रतिघात पर निर्भर करता है। व्यक्ति स्वतः में महत्त्वपूर्ण नहीं होता, महत्त्वपूर्ण होती है उसकी आन्तरिक क्रिया या भावदशा जो बाह्य परिवेश से टकराती है। इसी को भावात्मक प्रतिचेष्टा कहा जाता है। ध्यान देने की बात यह है कि वही भावात्मक प्रतिचेष्टा महत्त्वपूर्ण मानी जाती है जो मानस को प्रभावित करने के साथ ही उससे संबंधित परिवेश को भी प्रभावित करे।

कार्य और कार्य-व्यापार में भी भेद होता है। कार्य मानव-सक्रियता का परिचायक होता है। हम चलते हैं, फिरते हैं, बोलते हैं, या खेत कोंड़ते हैं। यह हमारा कार्य है। जीवन के कुछ कार्य स्वतःप्रेरित और स्वतःचालित होते हैं। पर जब इन्हीं स्वरूपों को नाटक में चित्रित किया जाता है तो ये विशेष अर्थ के वाहक

वन जाते हैं । हमारे जीवन के कार्य से सक्रियता टपकती है, पर नाटकीय कार्य-व्यापार से व्यंजना मिलती है । दैनिक कार्य में हम अपनी शारीरिक चेष्टा का अधिक से अधिक उपयोग करते हैं, पर नाटकीय क्रियाकलाप में शारीरिक चेष्टाओं का नियंत्रित उपयोग होता है । नाटककार अपने नाटक के लिये ऐसे कार्यों को चुनता है जो उसके द्वन्द्व को सघन और उदात्त बनाते हैं । नाटकीय कार्य-व्यापार को सरल-सुबोध तथा व्यंजनापूर्ण भाषा के माध्यम से निरूपित किया जाता है । इसमें निश्चित गति, प्रवाह और विकास पाया जाता है; यह विकासोन्मुख होता है । नाटक की कार्य-शृङ्खला सुसंघटित होती है और यह संघटन उनके विकास का प्रमुख कारण बनता है ।

कार्य-व्यापार अन्वित होता है । यह अन्विति विषय-वस्तु की अन्विति का परिणाम होती है । कुछ विद्वानों के अनुसार ये अन्वितियाँ यांत्रिक पद्धति से उत्पन्न की जाती हैं । 'लोप डी० वीगा' का कहना है, "नाटककार प्रथम दृश्य में यह निश्चित कर लेता है कि उसे क्या करना है, और दूसरे तथा तीसरे दृश्य के मध्य तक वह घटनाओं को इस रूप में नियोजित करता है कि लोग उसके मन्तव्य को समझ न सकें ।"[1] छोटे 'ड्यूमा' कहते हैं कि हर परिस्थिति के सृजन के समय व्यक्ति को तीन प्रश्न करना चाहिए, (१) मुझे क्या करना चाहिए, (२) इस परिस्थिति में अन्य लोग क्या किये होते और (३) अब क्या किया जाना चाहिए ? अगर नाटककार इन प्रश्नों को समझकर इन्हें सही रूप नहीं दे सकता तो उसे प्रेक्षागृह छोड़ देना चाहिए । 'ड्यूमा' अपने इस विवेचन से आवश्यकता और संभावना की बात उठाते हैं । 'आर्चर' महोदय तो चरमोत्कर्षवादी हैं ही । अतएव वे नाटक की संघटना को उस तनाव और उसकी स्थिति के सन्दर्भ में निरूपित करना चाहते हैं जो उसे (तनाव को) उत्पन्न करते, बनाये रखते, निलंबित करते, उदात्त बनाते और रूपान्तरित करते हैं । जार्ज पियर्स बेकर के शब्दों में नाटक में स्थायी रुचि, स्पष्टता, उपयुक्त अनुभूति की अभिव्यक्ति और गति की अपेक्षा होती है । गति अभिरुचि के कुतूहल को बनाये रखने का प्रमुख साधन है । यह कुतूहल उस दशा में बना रहता है जब हमारी केन्द्रित भावना निरन्तर यह जानने के लिये तत्पर रहती है कि आगे देखें क्या होता है ? हमें यह न भूलना चाहिए कि नाटक एक सावयव विकास का सूचक है । इसमें सजीवता पाई जाती है जो मानव-मस्तिष्क की सहज तेजोद्दीप्तता से उत्पन्न होती है । इसकी कार्यान्विति निश्चित उद्देश्य की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न करती है । नाटक में संभाव्य और आवश्यक को कुछ लोगों ने विरोधी मान लिया है, पर यह सोचना असंगत और तर्कहीन है, बुद्धि के दिवालियेपन का परिचायक है । दरअसल ये एक-दूसरे के पूरक होते हैं । नाटक में निरूपित हर कार्य-व्यापार नाटककार की

---

1. In the first act set forth the case, in the second weave together the events in such wise that until the middle of the third act, one may hardly guess the outcome.

सतर्कता का परिचायक होता है, क्योंकि वह इस बात को जानने के लिये सदैव तत्पर रहता है कि अभिनय की स्थिति में उसका लोगों पर क्या प्रभाव पड़ सकता है ? इस रूप में संभाव्यता घटित होने की पूर्व-आवश्यकता का एक रूप सिद्ध होती है। नाटक का कार्य-व्यापार आरंभ से अंत तक नाटक में गुँथा होता है। इस सन्दर्भ में आवश्यकता को यथार्थ को अनुशासित करने वाले नियम की संज्ञा भी दी जा सकती है। यथार्थ परिवर्तनशील होता है, अतएव उसके अन्तिम स्वरूप को पहले समझ लेना कठिन होता है। नाटक के चरम उत्कर्ष की स्थिति में तनाव अपनी चरम सीमा पर होता है। इसमें किसी घटना के माध्यम से विषय-वस्तु का रूप भी विद्यमान रहता है। चरम उत्कर्ष नाटक का केन्द्र-बिन्दु होता है, अतएव नाटक की अन्विति को समझते समय इस पर गंभीरता से विचार कर लेना आवश्यक होता है। इसके बाद कार्यावरोहण और निर्वहण की स्थिति आती है।

नाटक के कथानक की चर्चा करते समय विषय-वस्तु के चुनाव की बात को आँख से ओझल नहीं किया जा सकता। नाटककार लोकधर्मी होता है। वह दुनियाँ के कार्य-व्यापार को जी भरकर देखता है और व्यक्ति की नियति के आरोह-अवरोह को परखता है। यह दृष्टि विषय के चुनाव में उसकी सहायता करती है। नाटककार विषय को चुनने में केवल अपने तात्कालिक बोध पर निर्भर नहीं रहता, अपितु समाज के उस स्वरूप पर भी विचार करता है जो परिवेश की प्रतिक्रिया के कारण उसकी आन्तरिक सामाजिकता का एक अंग बन गये होते हैं, या यों कहा जाय कि उसके अन्वीक्षण और परीक्षण के कारण उसकी चेतना में अनुस्यूत हो गये हैं। 'जान हावर्ड लॉसन' के शब्दों में, ''नाटककार उस व्यक्ति के सदृश होता है जो एक बड़े संग्रहालय में प्रवेश कर रहा है जो संभव घटनाओं से भरा हुआ है। संग्रहालय में संगृहीत तथ्य और घटनायें अनेक हैं, पर नाटककार के अनुभव और ज्ञान का प्रसार-क्षेत्र सीमित है। सर्जनात्मक दृष्टि से इन तथ्यों के चुनाव के लिये उच्चकोटि की कल्पना अपेक्षित है जो अनुभूति और ज्ञान से प्राप्त मानसिक बिंबों का उन्नयन करती है। इस संश्लेषण से बिंब नये रूप में हमारे सामने आते हैं, वे नये अर्थ-सन्दर्भ और नयी शक्ति के परिचायक बन जाते हैं। नाटक में पाया जाने वाला यह नयापन चुनाव और संघटना का विषय होता है।'' नाटककार नाट्य-सामग्री को नाटक में ढालते समय अपने अनुभूति के आभास से संबद्ध रहता है। नाटक सृजन है—कलात्मक सृजन, अतएव उसमें प्रयुक्त घटना एक कार्य-कारण-शृङ्खला में बँधी रहती है। नाटक के विषय के चयन में अन्तरात्मा की पुकार का भी हाथ होता है, उनके आन्तरिक आग्रह का भी सहयोग रहता है। इतिहास, मिथक या मिश्र कथावस्तु कलाकार के समक्ष केवल तथ्यों की बाह्य रेखाओं को प्रस्तुत करते हैं। इनमें रंग भरने का काम उसकी विधायक कल्पना, अभिरुचि या अन्तरात्मा की पुकार द्वारा संपादित होता है। नाट्य-सर्जन की क्रिया निश्चित घटनामय विचार के विस्तार अथवा संकोच की क्रिया होती है,

अतएव नाटककार केवल ऐसे विचारों को ग्रहण करता है जो अपने विस्तृत या संकुचित रूप में निश्चित परिणाम के जनक होते हैं। परिस्थिति के चित्रण में भी नाटककार प्रमुख रूप से उनकी अन्तर्निहित व्यंजना को ग्रहण करना चाहता है, यहाँ पर लोक-धर्मी दृष्टि उसकी प्रमुख सहायक होती है।

नाटक के कथानक के सन्दर्भ में सातत्य की बात भी उठाई जाती है। हमने इसके पहले नाटक के सावयव विकास, कथानक की कार्य-कारण-शृङ्खला और उसके विकास के निश्चित उद्देश्य की ओर प्रेरित होने का उल्लेख किया है। इसके साथ सातत्य की चर्चा विशेष महत्त्वपूर्ण हो सकती है। सातत्य को समझाते हुए 'लॉसन' महोदय निम्नांकित बातों का उल्लेख करते हैं—

१. नाटक के संप्रकाशन को कार्य-व्यापार की संगति में निरूपित होना चाहिए।

२. संप्रकाशन में विस्तार की ऐसी सीमाओं को पाया जाना चाहिए जो रंगमंचीय कार्य-व्यापार के बराबर हों।

३. नाटक में दो या दो से अधिक कार्य-कारण की शृङ्खला का अनुगमन किया जा सकता है, केवल शर्त यह है कि उनका सुलझाव प्रमुख कार्य-व्यापार के द्वारा प्रस्तुत किया जाय।

४. कार्यारोहण अनिश्चित चक्रों में होकर विकसित होता है।

५. हर चक्र का संबंध कार्य-व्यापार से होता है और उसमें कार्य-व्यापार के विकास की दिशा भी पाई जाती है। तात्पर्य यह कि इसमें संप्रकाशन, आरोहण, संघर्ष और चरमोत्कर्ष पाया जाता है।

६. जब हर चक्र अपने चरमोत्कर्ष की ओर बढ़ने लगता है तो उसके तनाव की घनीभूत स्थिति को भावात्मक दबाव के विकास द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस स्थिति में नाटककार घटित होने वाले कार्य-व्यापार को कुछ अतिरंजित रूप में दिखाता है।

७. गति और लय नाटक में विकासोन्मुख तनाव को स्थायी बनाने में विशेष सहायक होती हैं।

८. दृश्यों को संबद्ध करने में अप्रत्याशित व्यतिरेक और रुचियों की आंशिक व्याप्ति विशेष सहायक सिद्ध होती है।

९. जब चक्र प्रमुख कार्य से संबद्ध होने की स्थिति में आ जाता है, उस समय गति और लय बढ़ जाती हैं और सहायक चरमोत्कर्ष घनीभूत होकर एक-दूसरे के अधिक निकट आ जाते हैं। ऐसी स्थिति में इन दो बिन्दुओं के बीच का कार्य-व्यापार विच्छिन्न हो जाता है।

१०. संभाव्यता और आकस्मिक सहयोग केवल भौतिक संभावना पर निर्भर नहीं रहते। वे तो प्रमुख कार्य और घटना विशेष के मूल्यगत संबंध के मुखापेक्षी होते हैं।

११. नाटक में कार्य-कारण की बड़ी जटिल शृङ्खला पाई जाती है। इसमें जटिल शक्तियों की प्रच्छन्न क्रीड़ा भी देखने को मिलती है। नयी घटनायें नाटक की कार्य-शृंखला से तभी जोड़ी जा सकती हैं, जब उनका कार्य-व्यापार और प्रभाव स्पष्ट हो।

१२. तनाव, विस्फोट के पूर्व की स्थिति के कार्य-व्यापार द्वारा वहन किये जाने वाले भावात्मक दबाव का मुखापेक्षी होता है।

नाटक के संप्रकाशन का भी अपना अर्थ होता है। नाटक के कुछ तथ्यों को नाटककार शीघ्रातिशीघ्र दर्शकों के सामने पेश कर देना चाहता है। नाटक लोक-धर्मी कृति है, अतएव हमारे लिये यह आवश्यक हो जाता है कि पात्रों के विषय में कुछ ज्ञातव्य बातें आरंभ में ही बता दी जायँ। नाटककार इस आवश्यकता को पूरा करता है और आरंभ में ही कुछ बातों को नाटकीय ढंग से हमारे सामने रख देता है। आरंभ के दृश्य में सभी बातों का समावेश संभव नहीं होता, अतएव सर्जक कुछ ऐसे पात्रों को चुनकर पेश कर देता है जो परिस्थितिजन्य संघर्ष को झेलने के लिये तत्पर हैं। आरंभ में ही प्रमुख कार्य-व्यापार का बीज भी पड़ जाता है। संप्रकाशन का संबंध इसी कार्य-व्यापार से होता है। "नाटक के कार्य-व्यापार का पूर्ण विकसित रूप हमें चरमोत्कर्ष में दिखाई देता है, पर उसके उद्देश्य की एक झलक संप्रकाशन में भी मिल जाती है। नाटक में क्रियाशील कार्य-कारण की शृङ्खला की एकता यथार्थ में नाटक के संप्रकाशन अथवा चरम की उत्कर्ष के शृङ्खला का परिचायक होती है। चरमोत्कर्ष में हमें आवश्यकता का मूर्त स्वरूप मिलता है, पर संप्रकाशन में हमें उसके कारण का आभास मिलता है। लेखक की कार्य-कारण-शृङ्खला के मूल में उसका परिवेशजनित दृष्टिकोण होता है। चरमोत्कर्ष इस बात का परिचायक होता है कि घटना-विशेष की संभावना की सीमा मे समाज का क्या स्वरूप हो, पर संप्रकाशन इस बात को प्रस्तुत करता है कि ये सीमायें महत्त्वपूर्ण क्यों हैं? संप्रकाशन में हमें उन्हीं बातों का बीज दिखाई देता है जो अपने विकसित स्वरूप में चरमोत्कर्ष में पाया जाता है। नाटक के आरंभ में इच्छाशक्ति का संघर्ष पूर्व और पर की घटनाओं के लिये एक सेतु का काम करता है। आरंभ के कार्य-व्यापारों में अनुभूति के जो तत्त्व रहते हैं, वे ही विकसित होकर बाद में पूरे नाटक का रूप ले लेते हैं। संप्रकाशन एक वातावरण की सृष्टि भी करता है, यही वातावरण बाद में चलकर संपूर्ण वातावरण का परिचायक बनता है। कहीं-कहीं यह भी देखने में आता है कि संप्रकाशन अन्य कई सहायक कार्य-व्यापारों में बँटा होता है जिनका विकास चरमोत्कर्ष में सहायक होता है।

अब जरा हम नाटक के कार्यारोहण को लें। अभी हमने इस बात पर विचार किया है कि पात्रों और वातावरण के परिवर्तन का नाटक के विकास में बड़ा हाथ होता है और परिवर्तन का यह स्वरूप कार्यारोहण से संबद्ध होता है। संपूर्ण कार्यारोहण की स्थिति विभिन्न कार्य-व्यापारों के चक्रों से बनी होती है। ये चक्र आवश्यकतानुसार आपस में सबद्ध अथवा असंबद्ध होते रहते हैं। नाटक का विकास इन्हीं सहायक स्वरूपों पर अवलंबित होता है। जीवन एक विचित्र पहेली है, फिर भी इसके स्वरूप को विवश होकर समझना ही पड़ता है। किसी एक क्षण में व्यक्ति जीवन के उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। वह पहले संकल्प करता है और फिर उसके बाद वह उद्देश्य की ओर उन्मुख होता है। इसमें वह कठिनाइयों का सामना करता है, कभी-कभी अप्रत्याशित अवरोध भी उसके सामने आ जाता है। इन परिस्थितियों में उसकी शक्ति की आजमाइश होती है। जब कठिनाइयाँ अधिक बढ़ जाती हैं तो व्यक्ति अपनी पूरी ताकत से उनका सामना करता है। नाटक के कार्यारोहण की स्थिति में भी यही बात देखी जाती है। हम इस अन्तिम स्वरूप को चरमोत्कर्ष और उसके पूर्व के दृश्य को उपस्कारक दृश्य (Obligatory Scene) की संज्ञा दे सकते हैं। प्रायः चरमोत्कर्ष और उपस्कारक दृश्य को एक ही माना जाता है, पर यह बात गलत है। उपस्कारक दृश्य में संभावित संघर्ष देखने को मिलता है और चरमोत्कर्ष में उसका 'फाइनल' रूप। उपस्कारक दृश्य को दर्शक पसन्द करते हैं। इस दृश्य में आशा और निराशा का द्वन्द्व नाटक को पर्याप्त सजीव बनाता है। उपस्कारक दृश्य को देखने के समय दर्शक चरमोत्कर्ष के निश्चित स्वरूप की कल्पना करने में असमर्थ होता है। अतएव वह सारे कार्य-व्यापार का मूल्यांकन इसी के सन्दर्भ में करना चाहता है। इस दृष्टि से दृश्य का महत्त्व बढ़ जाता है। नाटक में कार्य-व्यापार के चार रूपों का दर्शन होता है, (१) संप्रकाशन, (२) कार्यारोहण, (३) उपस्कारक दृश्य और (४) चरमोत्कर्ष। नाटक के कार्य-व्यापार को हम कार्य की ऐसी इकाई मान सकते हैं जो इन उपर्युक्त स्वरूपों में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। आधुनिक नाटककार नाटक के विकास को अपनी दृष्टि से नियंत्रित करता है। उसमें विकास की सही और सीधी रेखा नहीं मिल पाती है। नाटक में कुतूहल का प्रयोग भी दो रूपों में किया जाता है। इसका एक स्वरूप कार्य-व्यापार को समृद्धि बनाता है और दूसरा स्वरूप उसको नकारता है।

नाटक का चरमोत्कर्ष नाटक के विकास को नियंत्रित करने का प्रमुख साधन है। फ्रेटॉग के चित्र को हम पाँच भागों में बाँट सकते हैं, (१) प्रस्तावना, (२) आरोहण, (३) चरमोत्कर्ष, (४) अवरोहण और (५) निर्वहण। आरोहण और अवरोहण का महत्त्व समान होता है और ये दोनों भाग आपस में समन्वित भी रहते हैं। आज के युग में इस बात पर प्रश्नचिह्न लग चुका है और समीक्षकों ने कार्यावरोहण को अमान्य घोषित कर दिया है। 'ब्रैण्डर मैथ्यूज' ने स्वीकार किया है कि नाटक

निरन्तर आरोह की स्थिति में होता है, अतएव अवरोह का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। नाटक के कार्य के अन्तिम स्वरूप तक तनाव बना रहता है। 'आर्चर' भी प्रकारान्तर से यही स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि कार्य-व्यापार का चरमोत्कर्ष निष्कर्ष के पास होता है। 'हेनरी आर्थर जोन्स' निश्चित योजना के आरोह तथा गति की ओर उन्मुख चरमोत्कर्ष की बात उठाते हैं। 'बैरेट एच० क्लार्क' चरमोत्कर्ष को नाटक का वह बिन्दु मानते हैं जहाँ पर कार्य-व्यापार अपने चरम को पहुँच जाता है। उनकी दृष्टि में यह ऐसा स्थल होता है जहाँ से नाटक का तनाव कुछ कम हो जाता है और वह स्पष्ट होने लगता है। इस स्थिति में दर्शक फल की प्रतीक्षा करने लगता है।[1] इन तथ्यों का आकलन आधुनिक नाटक के परिदृश्य में किया गया है। यथार्थ में कार्यावरोहण उसी स्थिति में महत्त्वपूर्ण होता है जब नाटकीय घटनाओं के स्वरूप को हम 'एब्सोल्यूट' मान लें, अर्थात् इसको जीवन से गृहीत ऐसे भाव-संवेगों का अद्भुत संघटन मान लें जो नियमों से अनुशासित और निश्चित बिन्दु से आरंभ होकर निश्चित विन्दु तक पहुँचा हुआ हो।

चरित्र-चित्रण

कुछ लोगों ने चरित्र को ध्यान में रखकर एक अद्भुत बात कही है कि नाटक का स्वतंत्र अस्तित्व होता है और उसे इसी रूप में प्रस्तुत भी किया जा सकता है। इसमें कोई शक नहीं कि कुछ नाटक चरित्र-प्रधान होते हैं, पर इसका मतलब यह नहीं होता कि नाटककार चरित्र को छोड़कर उसमें और कोई बात रखता ही नहीं। दरअसल ऐसे नाटकों में लेखक चरित्र के माध्यम से ऐसें मानसिक संघर्ष को चित्रित करते हैं जो सूक्ष्म और मानसिक होता है। चरित्र-चित्रण में लेखक तटस्थ दृष्टिकोण से काम लेता है। वह नायक या नायिका के हृदय में चलने वाले उस द्वन्द्व को पकड़ना चाहता है जो बाद में कार्य-व्यापार का अंग बनता है। चरित्र की अर्थवत्ता हर स्थिति में कार्य-व्यापार से प्रकट होती है, इससे अलग उसका कोई अस्तित्व नहीं होता। 'डब्लू० टी० प्राइस' ने कहा भी है कि चरित्र चित्रण के सफल निर्वाह के लिये हमारे लिये यह जरूरी हो जाता है कि हम चरित्रों को एक निश्चित सन्दर्भ में चित्रित करें। कार्य-व्यापार को इस उचित सन्दर्भ की संज्ञा दी जा सकती है। 'बेकर' ने व्याख्या-प्रधान कार्य-व्यापार (illustrated action) और कथावस्तु के उपस्कारक कार्य-व्यापार (plot action) का उल्लेख किया है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि इसे

1, The climax is that point in the play at which the action reaches its culmination, the most critical stage in its development, after which the tension is relaxed or unravelled. The audience has only to wait and see, 'How it all turns out'...from that point onward, we see only effects, never again does action rise to so high a point.

इन दोनों तरह के कार्य-व्यापारों की अहमियत भी है। जो कार्य-व्यापार चरित्र-चित्रण की व्याख्या की ओर उन्मुख रहता है और कथानक के विकास में सहायक नहीं होता, उसे व्याख्या-प्रधान कार्य-व्यापार कहा जाता है और जो चरित्रों के समुचित विकास के साथ कथानक के विकास में भी सहायक होता है, उसे कथावस्तु का उपस्कारक कार्य-व्यापार कहा जाता है। नाटक में एक से अधिक पात्रों का आपसी संबंध चित्रित किया जाता है। यह संबंध जितना ही यथार्थ और प्रभावोत्पादक होता है, नाटक भी उतना ही महत्त्वपूर्ण और व्यंजक बन जाता है।

संस्कृत नाट्यशास्त्र में नायक के चार भेदों का उल्लेख मिलता है, (१) धीरोदात्त, (२) धीरललित, (३) धीरप्रशान्त और (४) धीरोद्धत। धीरोदात्त नायक सदाचारी, इन्द्रिय-निग्रही, ज्ञान-संपन्न सर्वशास्त्र-निष्णात, गंभीर, उदार, धीर और त्यागी होता हैं और धीरललित शिल्पकुशल, लोक-व्यवहार-सक्षम, मानवतावादी और मृदुभाषी। धीरप्रशान्त शान्त प्रकृति का होता है और धीरोद्धत उग्र, चपल तथा मायावी। नायिका को भी स्वकीया, परकीया और गणिका आदि भेदों में बाँटा गया है। 'भरत' ने अपने नाट्यशास्त्र में पुरुष और स्त्री के स्वभाव का उल्लेख भी किया है और उनकी उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन कोटियाँ निर्धारित की हैं। नायक और नायिका के उपर्युक्त वर्गीकरण का आधार यही स्वभाव-निरूपण है।

चरित्र-चित्रण में नाटककार तटस्थ रूप से हर पात्र को सजीव और विश्वसनीय बनाने का कार्य करता है। नाटक के हर पात्र की अपनी कोई न कोई विशेषता होती है। यह विशेषता लेखक की विधायक कल्पना की उपज मानी जाती है। नाटककार कल्पना के बल पर अपने पात्रों को नया मोड़ देता है और उनकी विशेषता को इस कलात्मक ढंग से उभाड़कर हमारे सामने रखता है कि वे दर्शक से तादात्म्य स्थापित कर सकें। लेखक अपने पात्रों के सृजन में स्वतंत्र होता हैं, पर इसका यह मतलब नहीं कि वह उन्हें जिस रूप में चाहता है, चित्रित करता है। उसे चरित्र-चित्रण में देश, काल, वातावरण, परिस्थिति तथा नाटक के कार्य-व्यापार को ध्यान में रखना पड़ता है। उसकी स्वतंत्रता का केवल यह मतलब होता है कि वह उनमें आवश्यकतानुसार कुछ ऐसा हेरफेर कर सकता है, रद्दोबदल कर सकता है जो नाटक की मूल संवेदना को प्रभावित न करे। नाटक में सदैव ऐसे चरित्रों की अवतारणा की जाती है जिससे कार्य-व्यापार के विकास में सहायता मिले। नाटक में तरह-तरह के पात्रों का प्रयोग किया जाता है, और इनकी विशेषता परिस्थिति के साथ निखरती जाती है। जीवन में हम दूसरे लोगों को उनके कार्य द्वारा परखते हैं और कार्य को प्रभाव द्वारा मूल्यांकित करते हैं। यह कार्य और प्रभाव का संबंध नाटक में भी देखा जा सकता है। इसके लिये हम चरित्रों को प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। पात्रों के चयन की कई पद्धतियाँ प्रचलित हैं—

१. अतिरंजित और प्रकृतयादी शैली में पात्र को निरूपित किया जाता है।

२. सामाजिक पृष्ठभूमि को छोड़कर स्थानीय या ऐतिहासिक विशेषताओं को ध्यान में रखकर उन्हें निरूपित किया जाता है।

३. वीराख्यानक शैली में उन्हें प्रस्तुत किया जाता है।

४. प्रमुख चरित्रों को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये गौण चरित्रों की अवतारणा की जाती हैं।

५. चरित्रों को संवेगात्मक या परिवेशीय तथ्यों से मुक्त करके केवल सामाजिक दायित्व के वाहक के रूप में चित्रित किया जाता है।

६. हम व्याख्या-प्रधान घटनाओं के द्वारा दर्शकों में सहानुभूति उत्पन्न करते हैं।

चरित्र में किसी उद्देश्य के प्रति निष्ठा का भाव पाया जाता है, पर वह केवल विचार का वाहक नहीं होता। उसे नाटककार विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार से क्रियाशील दिखा करके तरह-तरह के विचारों का समुचित विकास करता है। आधुनिक युग में चरित्र-चित्रण में मनोविज्ञान का आवश्यकता से अधिक सहयोग लिया गया है। मनोविज्ञान के द्वारा हम कार्य-व्यापार के सतही धरातल के नीचे रहस्यमय और प्रच्छन्न स्वरूप का विश्लेषण करते हैं। रहस्यमय और प्रच्छन्न को यहाँ सापेक्ष अर्थ में ग्रहण करने की जरूरत है। मनोविज्ञान के अनुसार मानव-स्वभाव गंभीर, जटिल और विषमता से युक्त होता है। चरित्रों का संबंध मानव-स्वभाव से होता है, अतएव उनका अध्ययन भी उतना सरल नहीं होता जितना समझा जाता है। मनोविज्ञान की शब्दावली में संघर्ष का प्रमुख केन्द्र-बिन्दु मानव-मन होता है, अतएव पात्रों को तभी जीवन्त वनाया जा सकता है जब अन्दृर्ष्टि के द्वारा पात्र-विशेष की चित्तवृत्ति, अभिरुचि, भावदशा और संस्कार को समझने की कोशिश की जाय।

नाटककार अपनी आवश्यकता के अनुसार कई तरह के चरित्रों की अवतारणा करता है। दृढ़ और कलात्मक ढंग से निर्मित चरित्र को पूर्ण सुगठित चरित्र (Round Character) की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार के चरित्र के निर्माण में लेखक पूर्ण सतर्क रहता है और हर स्थिति में अपनी अन्तर्दृष्टि का उपयोग करके पात्रों को पूर्ण समग्रता से देखने की कोशिश करता है। सपाट चरित्र (Flat Character) इससे भिन्न होते हैं। सुगठित चरित्र तीन आयामों वाला होता है, पर सपाट चरित्र दो आयामों वाला। इसमें गहराई नहीं होती और सुगठित चरित्र की जीवन्तता का भी अभाव पाया जाता है। अतएव नाटककार इनका उपयोग 'पपेट' के रूप में करता है। यथार्थ में सुगठित और सपाट चरित्रों का अन्तर कार्य-व्यापार की उपयुक्तता और प्रेरणा की सघनता पर निर्भर रहता है। नाटक में एक तीसरे तरह के चरित्र

का भी दर्शन होता है। इन्हें हम विशिष्ट चरित्र (Stock Characters, or Type Characters) कहते हैं। इस प्रकार के चरित्र लेखक के जीवन की भूतकालीन अनुभूतियों से प्राप्त होते हैं। ये लेखक के 'स्टॉक' में सुरक्षित रहते हैं, और वह यथासमय इनका अपनी इच्छानुसार उपयोग भी करता है। कलाकार इन्हें अपनी प्रतिभा का रंग देकर सजीव ढंग से सँवारता और प्रस्तुत करता है, और बदले में ये पात्र उसकी कुछ विशेषताओं को उद्‌भासित करते हैं।

यथार्थवाद के आगमन के साथ नाटक का चरित्र-चित्रण भी प्रभावित हुआ है। इसके कुछ कारण हैं। यथार्थवादी कलाकार कल्पना की बनावट-बुनावट और रंगीनी को छोड़कर, पुराने नियमों को त्याग कर अपने चरित्र को यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करना चाहता है; उसके लिये पुराना आदर्श या रूढ़ि-परिपाटी विशेष अर्थ नहीं रखते हैं। इसी पुरातनता के त्याग और नवीनता के परिग्रहण की उपयुक्तता सिद्ध करने के लिये वह कहीं-कहीं विचारक का बाना धारण करके हमारे समक्ष उपस्थित होता है। 'पिराब्डेलो' ने ठीक ही कहा था, "पुराने नाटकों में हमें भाव-संवेग की अभिव्यक्ति मिलती है, पर नये नाटकों में बुद्धि की। आज के नाटक में कलाकार और द्वन्द्वात्मक पद्धति पर सोचने वाले विचारक का द्विविध स्वरूप विद्यमान पाया जाता है। वह अपने में ही संघर्ष करता रहता है। जब जिस तत्त्व की प्रधानता हो जाती है, वह उभड़ कर नाटक में उपस्थित हो जाता है। इससे चरित्र-चित्रण भी प्रभावित होता है।"

इधर दो दशकों से नाटक सर्वतंत्र स्वतंत्र हो गया है। उसके मान्य नियम बिखर गये हैं। अब वह जीवन के अनगढ़ स्वरूप को चित्रित करने की ओर उन्मुख है। जब नाटक के पात्र ही अनाम हो गये हैं तो उसके चरित्र-चित्रण का प्रश्न ही कहाँ उठता है? हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन अनाम पात्रों की व्यंजना प्रतीक शैली में की जाती है, अतएव वह काफी चुटीली और तीखी बन जाती है। आज का व्यक्ति अपने को 'मिसफिट' और 'आउट-साइडर' समझता है। इस 'मिसफिट' और 'आउट-साइडर' के चक्रिल आवर्त में चरित्र-चित्रण भी 'मिसफिट' और 'आउट-साइडर' बन गया है।

कथोपकथन

निकल का कहना है, "कार्य-व्यापार नाटक का शरीर है और भाषा उसकी आत्मा। नाटककार को हम प्रमुख रूप से शब्द-शिल्पी मान सकते हैं।"[1] नाटक में

1. Action is to drama, what his body is to man. In its language resides the dramas soul, A playwright essentially is or should be an artist in words.

एकसाथ कई कलाओं का उपयोग किया जाता है । कथोपकथन भी एक कला है, इसका प्रमुख माध्यम भाषा होती है । सार्थक शब्द-संघटन सदैव अर्थवाहक होता है । इसके उच्चारण और अभिव्यक्ति में अंगचेष्टा का सहयोग भी लिया जाता है । जीवन में हमें प्राय: एक बात देखने में आती है कि विविध अनुभूति, संवेग अथवा मनोवेग की स्थिति में व्यक्ति अपने को अभिव्यक्त करने के लिये उतावला हो जाता है । वह शब्द और भाव-भंगिमा के द्वारा इन्हें अभिव्यक्त करता है । नाटक की भाषा भी भाव को वहन करने और उसे चेष्टाओं द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रमुख साधन होती है । यह भाषा नाटक की गति और विकास के साथ जुड़ी होती है, अतएव उसकी आवश्यकता के अनुरूप अपने को ढालती जाती है । इसी के जरिये नाटक के बाह्य कार्य-व्यापार और आन्तरिक प्रेरणा के स्रोत स्पष्ट होते हैं । नाटक की भाषा गहन और विषम परिस्थितियों में नाटक के कथोपकथन का मूर्त रूप होती है । इसमें वार्तालाप और अभिनय के परस्परानुमोदन द्वारा जीवन के विविध स्वरूपों को प्रकट किया जाता है । इस अर्थ में भाषा स्वयं एक प्रकार का कार्य-व्यापार बन जाती है, क्योंकि यह कार्य-विशेष का केवल संकोच और विस्तार होती है । जब व्यक्ति बोलता है तो वह कुछ अभिव्यक्त करता है, संकेत देता है, अतएव एक तरह से कार्य संपादित करता है ।[1]

नाटक में भाषा का प्रयोग कथोपकथन के रूप में किया जाता है । कथोपकथन नाटक के कार्य-व्यापार को फैलाकर उन सभी घटनाओं से संबद्ध कर देता है जो नाटक का उपजीव्य होती हैं । इसी के द्वारा व्यक्तियों के संबंध और उनकी भाव-भंगिमा को उद्भासित किया जाता है । अच्छे कथोपकथन में वक्ता की अनुभूति और भाव-संवेग का संस्पर्श होता है । इसमें स्पष्टता, संक्षिप्तता और स्वाभाविकता पाई जाती है । यथास्थान आवश्यकता को ध्यान में रखकर लेखक गीत का प्रयोग भी करता है । यह किसी से छिपा नहीं है कि आज की दुनिया भाव-संवेग की दुनिया है और भाषा इन भाव-संवेगों को सही अर्थ प्रदान करने में अशक्त सिद्ध होती है । कभी-कभी भाव-संवेग इतना तीव्र होता है, इतना सघन होता है कि वह हमें किंकर्तव्य-विमूढ़ भी बना देता है । नाटककार को सर्जक के रूप में इन स्थितियों का सामना करना पड़ता है । वह भाषा का प्रयोग इस अहमियत से करता है कि संवेगजनित जटिलता अधिक से अधिक स्पष्ट होकर हमारे सामने उपस्थित हो जाय । जहाँ वह इसमें अपने को अशक्त महसूस करता है, वहाँ वह भाषा को लेकर भाव के साथ नये प्रयोग करता है । नाटक के सभी प्रयोग इसी अनुभूति को सही धरातल पर अभिव्यक्त करने से संबद्ध पाये जाते हैं । यथार्थवादी नाटककार इस प्रकार की जटिलता से

---

1. Speech is a kind of action, a compression and extension of action. when a man speaks, he performs an act.

निपटने के लिए कुछ अभिव्यक्ति-पद्धतियों को अपनाता है। यहाँ वह या तो तथ्यों को दवा देता है, या चुप रह जाता है। कभी-कभी वह असंबद्ध वाक्यों अथवा हर्षातिरेकसूचक शब्दों का सहारा भी लेता है।

इस धारा के प्रतिनिधि नाटककार 'इब्सन' और 'चेखव' ने मन:स्थितियों के निरूपण के लिये प्रतीकों का प्रयोग किया है, अथवा दो पात्रों के कथोपकथन द्वारा इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

नाटक कलाकृति है, इसमें मानव-जीवन के विविध घात-प्रतिघात निरूपित होते हैं, अतएव इसकी भाषा का एक आदर्श होता है। पुराने नाटकों में भाव-प्रधान भाषा का प्रयोग किया जाता था, पर आज के नाटक में वह आदर्श वदल गया है। आज नाटकों में चित्रोपम भाषा (Patterned language) की रुझान देखने को मिलती है। 'निकल' की दृष्टि में इसकी चार प्रमुख विशेषतायें उल्लेखनीय हैं, (१) यह अभिनेता के उपयुक्त होती है, (२) इसको श्रोता समझ सकते हैं, (३) यह सामान्य भाषा और शैली की संगति में होती है और (४) इसमें विविधता और सजीवता पाई जाती है। आदर्श चित्रोपम भाषा के हिमायती लोगों का कहना है कि यह श्रोता या दर्शक तक सफलतापूर्वक भावात्मक अनुभूति को प्रेषित करती है और इसके द्वारा उत्पन्न सौन्दर्य प्रभावोत्पादक होता है। यह भाषा हमारे दिल और दिमाग़ पर सीधे चोट करती है और हमारी स्मृति का अंग बन जाती है। इसके माध्यम से ध्वनि के बलाघात को उपयुक्तता के साथ चित्रित किया जा सकता है और यह अभीप्सित प्रभाव उत्पन्न करने में सफल होती है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कथोपकथन की अधोलिखित विशेषतायें हमारे समक्ष आती हैं, (१) यह पात्र और परिस्थिति के अनुकूल होता है, (२) इसके द्वारा पात्रों के मनोभाव को स्पष्ट किया जा सकता है, (३) यह नाटक में भावों अथवा विचारों के उतार-चढ़ाव के साथ परिवर्तनसक्षम होता है, (४) यह संक्षिप्त, स्पष्ट और भाव-संप्रेषण में सक्षम होता है और (५) यथास्थान गीतिका का प्रयोग भी किया जाता है।

नाटक के प्रकार

संस्कृत साहित्य में नाटक की दो विधाओं का उल्लेख मिलता है, रूपक और उपरूपक। 'दशरूपक' में रूपक के निम्नांकित दस स्वरूपों की चर्चा है—

नाटकमय प्रकरणं भाण व्यायोग समविकार डिमा: ।
ईहामृगांक बीथ्य: प्रहसनमिति रूपकाणि दश ।।

इनकी विशेषताओं को डॉ० विक्रमादित्य राय ने अग्र प्रकार चित्रित किया है—

नाम	वस्तु	नायक	रस	वृत्ति
१. नाटक	पंचसंधियुक्त पौराणिक कथा या ऐतिहासिक कथा, पाँच से दस अंक	धीरोदात्त	शृङ्गार या वीर	कैशिकी वृत्ति
२. प्रकरण	पंचसंधियुक्त, कल्पित, ५-१० अंक	धीरशान्त	शृङ्गार	कैशिकी
३. भाण	धूर्त चरित, कल्पित, एक अंक	...	वीर तथा शृङ्गार	...
४. प्रहसन	एकांकी, कल्पित वस्तु	पाखण्डी, कामुक, धूर्त पात्र	हास्य	...
५. डिम	पौराणिक, चार अंक	धीरोदात्त	हास्य तथा शृङ्गारिक अतिरिक्त छः रस	सात्वती तथा आरभटी
६. व्यायोग	प्रसिद्ध पौराणिक कथावस्तु, गर्भ-विमर्श के अतिरिक्त तीन संधियाँ, एक अंक	धीरोदात्त, स्त्री पात्रों की विशेषता	हास्य तथा शृङ्गार के अतिरिक्त छः रस	सात्वती तथा आरभटी
७. समविकार	देव-दैत्य-संबंधी, पौराणिक, विमर्शरहित चार संधि और तीन अंक	धीरोदात्त तथा धीरोद्धत	वीर रस	सात्वती तथा आरभटी वृत्ति
८. वीथी	कल्पित वस्तु, एकांकी	शृङ्गारप्रिय नायक	शृङ्गार रस	कैशिकी
९. अंक	प्रसिद्ध पौराणिक वस्तु, एकांकी	प्राकृत पुरुष	करुण रस	सात्वती
१०. ईहामृग	मिश्रित कथावस्तु, चार अंक गर्भ-विमर्शरहित तीन संधियाँ	धीरोद्धत नायक	शृङ्गार रस	...

उपरूपक को १८ प्रकार का माना गया है—

(१) नाटिका, (२) प्रकर्णिका, (३) त्रोटक, (४) सट्टक, (५) भणिका, (६) गोष्ठी, (७) नाट्यरासक, (८) प्रस्थानक, (९) उल्लाप्य, (१०) काव्य, (११) प्रेक्षण, (१२) रासक, (१३) संलापक, (१४) श्रीगदित, (१५) शिल्पक, (१६) विलासिका, (१७) दुरमल्लिका और (१८) हल्लीश। हम यहाँ केवल नाटिका का उल्लेख करके इस प्रकरण को समाप्त करेंगे—

नाटिका

नाट्यशास्त्र में नाटिका के लक्षण बताते हुए लिखा गया है--

स्त्रीप्राया चतुरंका ललिताभिनयात्मिका सुविहितार्था।
बहुनृत्तगीत पाठ्या रतिसंभोगात्मिका चैव॥
राजोपचारयुक्ता प्रसादनक्रोधसंयुता चापि।
नायक देवीदूती सपरिजना नाटिका ज्ञेया॥ २०/६१-६२

साहित्यदर्पणकार का कहना है —

नाटिकाक्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरंकिका।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः॥
स्यादन्तः पुरसंबद्धा संगीत व्यावृताथवा।
नवानवानुरागा कन्यात्र नायिका नृप वंशजा॥
सम्प्रवर्तेत नेतास्यां देव्यात्रासेन शंकितः।
देवी भवेत्पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृप वंशजा॥
पदे-पदे मानवती तद्वशः संगमो द्वयोः।
वृत्ति स्यात् कौशिकी स्वल्पविमर्शाः सन्धयः पुनः॥ ६/२६९-७२

'भरत' के मत पर विचार करने से हमें ज्ञात होता है कि नाटिका की कथावस्तु कल्पित और उसका नायक राजा होता है। इसमें स्त्री पात्रों की बहुलता होती है और यह चार अंक में लिखी जाती है। नायक धीरललित होता है। राजोपचारयुक्त व्यवहार में क्रोध एवं उसकी शान्ति तथा दंभमय कृत्य होते हैं। राजा, उसकी रानी, नायक-दूती और परिजन उसके पात्र होते हैं। साहित्यदर्पणकार ने 'भरत' की इस मान्यता को और व्यापक रूप में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार नाटिका का वृत्त कल्पित होता है, स्त्री पात्रों की प्रधानता होती है और उसमें चार अंक होते हैं। नायक धीरललित नृप होता है। रनिवास से संबंध रखने वाली राज्य-वंशोत्पन्न तथा नित नये अनुराग से भरी हुई सुन्दरी नायिका होती है। महारानी के भय के कारण नायक को अपने प्रेम में शंका बनी रहती है। महारानी बड़ी मानिनी होती हैं, वे पग-पग पर मान किया करती हैं। नायक-नायिका का सम्मिलन उन्हीं की

इच्छा पर निर्भर रहता है। शृङ्गार अंगीरस होता है और विमर्श संधि को छोड़कर अन्य चारों संधियाँ पाई जाती हैं। नाटिका में कैशिकी वृत्ति की प्रधानता होती है।

नाटिका में नाटक और प्रकरण का योग पाया जाता है। यह ललित, अभिनय-प्रधान और गीत, नृत्य और वाद्य की योजना से अलंकृत होती है। इसमें रति, संभोग आदि का वर्णन तो नयी नायिका के लिये होता है और क्रोध, प्रसादन और दंभ आदि का देवी के लिये। नाट्यदर्पणकार ने दो नायिकाओं की कल्पना की है जो देवी और कन्या होती हैं, वे प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध किसी तरह की हो सकती हैं।

नाटक की अपेक्षा नाटिका लघु आकार की होती है। कथावस्तु-संबंधी इस भेद को छोड़ कर अन्य तत्त्वों की दृष्टि से नाटक और नाटिका प्रायः समान होते हैं। फिर भी नाटिका में कल्पना की आँखमिचौनी ख़ास तौर से देखने को मिलती है, अतएव बाह्य दृष्टि से तात्त्विक समानता के बावजूद दोनों में भेद होता है।

पाश्चात्य वर्गीकरण

पाश्चात्य साहित्य में नाटक को त्रासदी, कामदी, त्रासदी-कामदी, भाण और प्रहसन आदि वर्गों में विभाजित किया गया है।

त्रासदी

'ट्रेजेडी' शब्द ग्रीक भाषा के ट्रैग + ओइडा से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है अजाबलि। प्राचीन यूनान में सुरा-देवता 'बैक्कुस' की पूजा की जाती थी। वहाँ के व्यक्ति पूजा के समय बकरे की बलि देते थे और उस समय मधुर कण्ठ से कुछ गाते रहते थे। बलि समाप्त हो जाने पर मन्दिर का पुजारी भजन गाता था। और बीच-बीच में कथावाचक लोग (rhapsode) कविता-पाठ किया करते थे। ई० पू० ५३६ में 'थेस्पिस' ने इस कार्य को नया रूप दिया। उसने किसी प्रतिनिधि देवता या वीर के माध्यम से इस पूरे संस्कार को कथोपकथन के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। बाद में 'एस्किलस' ने इस पूर्वप्रचलित परंपरा को नाटक के रूप में प्रस्तुत किया। अब देवता के संबंध में गाये जाने वाले गीत कथानक से संबद्ध गीत के रूप में बदल गये। यह रही त्रासदी की उत्पत्ति की कहानी। इससे एक बात झलकती है कि त्रासदी का उद्भव बहुत पहले हो चुका था।

प्राचीन और मध्यकालीन त्रासदी पर इतालवी विचारक 'मैकिआवेली' के व्यक्तिवाद और रोमन दार्शनिक 'सेनेका' के रंगमंच-विमुख शोक-पर्यवसायी नाटकों का प्रभाव पड़ा था। इसके परिणामस्वरूप इनमें रक्तपात, हत्या तथा लोमहर्षक घटनाओं की प्रचुरता, प्रेतात्मा का समावेश और आत्मिक जीवन के प्रति उदासीनता का भाव पाया गया था।

त्रासदी की परिभाषा करना सरल नहीं। इसका प्रमुख कारण यह है कि आजकल जीवन के हर क्षेत्र में इस शब्द का प्रयोग होने लगा है। फसल मारी जाने, महमारी आने, जीवन में असफल होने, महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति न होने पर प्राय: व्यक्ति कह उठता है, बड़ा 'ट्रैजिक' रहा। किसी के बीमार पड़ने या सामान्य वस्तु के खो जाने पर भी अनायास ही यह शब्द जुबान पर आ जाता है। इससे यह ज़ाहिर हुआ कि 'ट्रैजिक' मनुष्य की परवशता और ससीमता के प्रति करुणा और शोक की भावना का क्रियात्मक रूप है। साहित्य में यह शब्द आरंभ से ही निश्चित अर्थ-सन्दर्भ में प्रतिष्ठित रहा। त्रासदी का उद्भव प्राचीन संस्कारों से हुआ था, अर्थात् जीवन की मूल संवेदना से हुआ था और तब से लेकर आज तक यह जीवन के प्रतिफलन के रूप में साहित्य में प्रतिष्ठित है। अतएव जीवन के सन्दर्भ में इस पर विचार करने से कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आ सकते हैं। पहली बात तो यह है कि त्रासदी जीवन के कटु अनुभवों को चित्रित करती है। इन अनुभवों का स्वरूप पर्याप्त व्यापक होता है, अतएव इसमें इसी के अनुरूप पात्रों और परिस्थितियों की योजना की जाती है। यह जीवन की विविधता को नहीं चित्रित करती, अपितु उन मूलभूत कारणों पर प्रकाश डालती है जो जीवन की निराशा के लिये जिम्मेदार हैं। इन्द्रधनुषी रंगों की सूक्ष्म रेखाओं से निर्मित इस जीवन में शोक और करुणा का क्या कारण हो सकता है? क्या मानव की किंकर्तव्य-विमूढ़ता, कटुता, कामचोरी, शोषण, अर्थ का नाबराबर बँटवारा, शासन की न्यायहीनता आदि इसके प्रमुख कारण हैं? आप कह सकते हैं, ये सब कारण हैं, पर उनसे भी बड़ा एक कारण है। जीवन में ज्ञात के अतिरिक्त अज्ञात कार्य-कारण-शृङ्खला-संबलित ऐसी अन्धशक्तियाँ विशेष रूप से क्रियाशील पाई जाती हैं जो अपनी इच्छानुसार व्यक्ति को जबर्दस्ती एक छोर से दूसरे छोर तक ढकेलती रहती हैं। वह जल की धार पर बहते हुए तिनके की तरह प्रवाह के आरोह-अवरोह पर हचकोले खाते हुए आगे बढ़ता रहता है। व्यक्ति इन विषम स्थितियों में हक्का-बक्का रह जाता है, फिर भी अन्त में जीने के लिये साहस बटोर कर इनसे जूझ पड़ता है। यही अन्तर्द्वन्द्व त्रासदी का जनक होता है। डॉ० विक्रमादित्य 'राय' ने ठीक ही कहा है, "त्रासदी हमारे समक्ष असीम और ससीम का अन्तर्द्वन्द्व तथा विरोधाभास प्रस्तुत करती है। ये नैसर्गिक शक्तियाँ मानव के नियम और तर्क से सर्वथा मुक्त होती हैं। ये अपनी इच्छानुसार संपूर्ण परिवार को नष्ट कर सकती हैं, निर्दोष और उदार-प्रकृति प्राणियों का अकारण विनाश कर सकती हैं, तथा क्षुद्र त्रुटियों के लिये कठोर से कठोर दण्ड दे सकती हैं। इनका सामना करने वाला मानव भी अपने गौरव में उनका प्रतिद्वन्द्वी और समानधर्मा सिद्ध होता है। यह व्यक्ति मानवोचित त्रुटियों और अपूर्णताओं से युक्त हो सकता है, पर ये उसकी सहज गरिमा का ही द्योतक होती हैं। ऐसे नायक को देखने से यह ज्ञात हो जाता है कि वह असामान्य होने

पर भी हमारे ही सदृश है। यह ज्ञान हमें कुछ समय के लिये उस स्तर पर पहुँचा देता है जिस पर नायक है।"

त्रासदी की परिभाषा करने की कोशिश की गई है। इस पर विचार करने वाले प्रथम आचार्य 'अरस्तू' हैं। उनका कहना है, "त्रासदी गंभीर, पूर्ण और निश्चित प्रसारयुक्त कार्य का अनुकरण है। इसमें अलंकृत और व्यंजनापूर्ण भाषा का प्रयोग किया जाता है। ये विशेषतायें पूरे नाटक में पाई जाती हैं। त्रासदी मुख्य रूप से कार्य-व्यापार में निहित भय और करुणा को उद्‌बुद्ध करके इसी प्रकार के भावों से मनुष्य को मुक्ति प्रदान करती है।" 'अरस्तू' ने दो-तीन बातों को रेखांकित किया है। पहली बात तो यह है कि त्रासदी जीवन के गंभीर पक्ष को उद्‌घाटित करती है और इसका संबंध्र ऐसे व्यक्ति से होता है जो न पूरी तरह अच्छा होता है और न बुरा। इसकी संभावनायें मानव-प्रकृति में निहित रहती हैं। नायक सदैव अपनी अदूरदर्शिता या त्रुटि से जीवन की विषम स्थिति में पड़ता है। इसका प्रमुख उद्देश्य रेचन या भाव-परिष्कार है।

'अरस्तू' ने करुणा और भय नाम के दो मनोभावों का ज़िक्र किया है। 'जेम्स ज्वायस' की प्रमुख पुस्तक 'पोर्ट्रेट ऑव द आर्टिस्ट' में 'देदालस'[1] ने उसकी व्याख्या करते हुए कहा है, "करुणा मानव-कष्टों में निहित गंभीर स्वरूप से मष्तिष्क को प्रभावित करके इसे कष्ट सहने वाले व्यक्ति से संबद्ध करती है। भय ऐसा भाव है जो मानव-कष्टों में निहित गंभीर स्वरूप से मस्तिष्क को प्रभावित करके इसे किसी अज्ञात कारण से संबद्ध करता है।" स्पष्ट है कि करुणा में कष्ट सहने वाले व्यक्ति के प्रति सहानुभूति पाई जाती है और भय में कष्ट के किसी अज्ञात कारण के प्रति जिज्ञासा। त्रासदी द्वारा उत्पन्न भय और करुणा में कष्ट के स्वरूप और इसके कारण विद्यमान रहते हैं। इसका तात्कालिक प्रभाव कष्टकर होता है, फिर भी यह संसृति में प्रस्तुत और क्रियाशील व्यापक नियम से हमें परिचित कराती है। त्रासदी के लेखक के सामने यह प्रश्न बना रहता है कि वह कष्ट के रहस्यमय स्वरूप को भोक्ता के साथ कैसे जोड़े। यूनानी कलाकारों ने भाग्य को ध्यान में रखकर इसकी व्याख्या की थी। उनके अनुसार पाप और पुण्य का फल व्यक्ति को निश्चित दैवी विधान से मिलता है। 'नेमेसिस' दण्ड का विधान करती है। त्रासदी का नायक अपनी गलती के कारण महान् अवरोध के बीच होकर गुजरता

---

1. Pity is that which arrests the mind in presence of whatever is grave and constant in human suffering and unites it with the human sufferer, terror is feeling which arrests the mind in the presence of whatever is grave and constant in human suffering and unites it with unknown reason.

है। वह अपरिहार्य अन्तर्द्वन्द्वों और संघर्षों को झेलता हुआ अन्त में मृत्यु का वरण करता है। यह संघर्ष त्रासदी का प्रमुख केन्द्र-बिन्दु होता है।

'अरस्तू' के करुणा और भय के स्थान पर बाद में अन्य कई प्रवृत्तियों अथवा मनोविकारों का उल्लेख किया गया। 'क्लिफर्ड लीच' ने इन्हें अहं और भय का नाम दिया तो 'सोरेन कीर्केगार्द' ने अवसाद और कष्ट अथवा विस्मय और प्रज्ञा का। 'शेक्सपीयर' ने वेदना और विस्मय की बात उठाई थी और कुछ आधुनिक विचारकों ने अच्छाई-बुराई की। 'आई० ए० रिचर्ड्स' ने करुणा और भय का उल्लेख करते हुए लिखा था, "करुणा की प्रवृत्ति हमें अपनी ओर खींचती है और भय की प्रवृत्ति हमें दूर भगाती है। ये विरोधी प्रवृत्तियाँ त्रासदी में समन्वित हो जाती हैं। किसी सुव्यवस्थित प्रतिचेष्टा के रूप में इनके समन्वय को हम विरेचन की संज्ञा देते हैं। त्रासदी इन विरोधी भावों को समन्वित करती है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य साधन नहीं है जिससे इन प्रवृत्तियों को उद्बुद्ध करके बिना दबाये शमित किया जा सके।"[1] इस प्रश्न पर हम त्रासदी के आस्वाद में विचार करेंगे।

त्रासदी एक प्रकार का गंभीर नाटक है जो वार्तालाप, कथोपकथन अथवा कार्य-व्यापार के माध्यम से मानव-जीवन के किसी गंभीर पक्ष को उद्घाटित करता है। इसमें चित्रित वातावरण भी पर्याप्त जटिल होता है और उसे उदात्त चरित्रों के माध्यम से चित्रित किया जाता है। आरंभ की त्रासदी में बाह्य संघर्षों की अधिकता थी, पर बाद में आन्तरिक स्वरूप की ओर भी ध्यान गया और लोगों की यह आम धारणा बनने लगी कि व्यक्ति के चरित्र में किसी त्रुटि के कारण उसके आन्तरिक भाव-संवेग ऐसी घटनाओं के रूप में प्रकट होने लगते हैं जो उसे ग़लत मार्ग पर ले जाती हैं। मनोविज्ञान की नयी मान्यताओं से भी त्रासदी का सिद्धान्त प्रभावित हुआ है। मनोविश्लेषणवाद में तो खुले आम इस बात की हिमायत की गई है कि मानव-जीवन का दुःखान्त नाटक उसके हृदय के रंगमंच पर खेला जाता है। इसी बात को ध्यान में रखकर 'मेटरलिंक' ने मानसिक रंगमंच की परिकल्पना की थी।

प्रकृतवादी विचारकों की त्रासदी के विषय में निश्चित धारणा थी। इसके मूल में वंश-परंपरा और जीववैज्ञानिक मान्यता पर बल दिया गया था। 'ज़ोला' ने

1. Pity the impulse to approach and terror the impulse to retreat, are brought in tragedy to a reconciliation which they find nowhere else, with them who knows what other allied groups of equally discordant impulses. Their union in an ordered single response, is the eatharsis, by which tragedy is recognised, whether Aristotle meant anything of this kind or not. This is the explanation of that sense of release, of repose in midst of stress, of balance and composure given by tragedy for there is no other way in which such impulses once awakened can be set at rest without suppression.

स्पष्ट शब्दों में कहा था कि त्रासदी का मूल कारण मानव के अन्दर पाई जाने वाली पाशविक प्रवृत्ति, अन्धी सहजवृत्ति और वासनात्मक उद्गार हैं। ये स्वरूप मानव के जीवन में उसके भाग्य के रूप में काम करते हैं। इस अर्थ में भाग्य सहजवृत्ति और वंश-परंपरा का पर्याय सिद्ध होती है। प्रगतिवादी विचारधारा के विकास के साथ भाग्य की यह मान्यता एक बार पुनः करवट बदली और वह वर्ग-संघर्ष का पर्याय बन गई।

प्रमुख विचारक हीगेल ने इसका विवेचन द्वन्द्वात्मक पद्धति पर किया था। उनकी मान्यता कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण थी। उन्होंने आरंभ में ही मानव-विवेक की बात उठाई थी और इस बात पर बल दिया था कि त्रासदी में रहस्य के लिये कोई स्थान नहीं होता। इसका संघटन कार्य-कारण-शृङ्खला का अनुगमन करता है, अतएव भाग्य की निरंकुशता का उल्लेख भी बहुत तर्कसंगत नहीं है। त्रासदी तो केवल इस बात की शिक्षा देती है कि मनुष्य को अपने कर्तव्य का फल भोगना पड़ता है। त्रासदी में अच्छाई और बुराई के संघर्ष के स्थान पर दो शुभ शक्तियों का संघर्ष पाया जाता है। इस संघर्ष में एक शक्ति का लोप हो जाता है और उसके परिणामस्वरूप दूसरी शक्ति का आविर्भाव होता है। 'ओस्कार मण्डल' की मान्यता 'हीगेल' से कुछ मिलती-जुलती है। उनका कहना है, किसी कलाकृति को त्रासदी की संज्ञा तभी दी जा सकती है जब उसमें निम्नांकित परिस्थितियों का समावेश हो, (१) हमारी इच्छाशक्ति का प्रतीक नायक सोद्देश्य रूप में संसृति में क्रियाशील हो, (२) नायक किसी ऐसे कार्य को करने में तत्पर हो जो गंभीर और व्यापक है, (३) इसी कार्य या उद्देश्य के कारण वह इस संसृति में मानसिक या भौतिक कष्टों में उलझ गया हो।

त्रासदी की कुछ विशेषतायें हैं। विश्वजनीनता और व्यापकता को इसकी पहली विशेषता माना जा सकता है। आरंभ में लोगों में वीरपूजा की भावना पाई जाती थी। जब हम नाटक में किसी ऐसे व्यक्ति को कष्ट झेलते देखते थे जो अपने आदर्श के कारण मानवता के एक व्यापक अंश से जुड़ा होता था, तो हमें उसके प्रति सहानुभूति होती थी। यूरोप की प्राचीन त्रासदी में आधिदैवी शक्तियों का समावेश भी मिलता था। इससे त्रासदी का वातावरण कुछ असामान्य हो जाता था। इसका एक और प्रभाव पड़ता था। मनुष्य के समक्ष अचानक ऐसी शक्ति प्रस्तुत हो जाती थी जिसके सामने वह निस्सहाय महसूस करता था। इसी संघर्ष के सन्दर्भ में मनुष्य की भाग्य की बात उठाई जाती थी। भाग्य की काली लिपि की आड़ी-वेड़ी रेखाओं को व्यंग्य और वातावरण के चित्रण द्वारा और घनीभूत बना दिया जाता था। त्रासदी का नायक जटिल परिस्थितियों में उलझकर अपने बुरे दिन की ओर वढ़ता था। उसे असामान्य कष्ट झेलने पड़ते थे। इस कष्ट की व्यापकता से भय और करुणा उत्पन्न होती थी। त्रासदी के लिये हिन्दी में शोक-पर्यवसायी, शोकान्तिका, दुःखान्तकी आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। इन शब्दों से एक ध्वनि निकलती है कि त्रासदी

का प्रभाव करुणा के अजस्र वेग से आत्मा को दबा देता है। पर, बात इससे भिन्न होती है। त्रासदी का नायक असामान्य होने पर भी दर्शक को अपने सदृश ज्ञात होता है। इस स्थिति में त्रासदी से 'डिप्रेसन' नहीं उत्पन्न होता। त्रासदी की शैली उदात्त और भाषा अलंकृत होती है। उसमें एक प्रकार की रवानी पाई जाती है। तात्पर्य यह कि---

(१) त्रासदी के कथानक का आधार गंभीर ऐतिहासिक, पौराणिक या काल्पनिक घटना होती है। इसमें मनुष्य की आदिम प्रवृत्ति की प्रधानता पाई जाती है।

(२) इसमें अन्विति पाई जाती है।

(३) संघर्ष कथानक का केन्द्रबिन्दु होता है।

(४) यही संघर्ष विकसित होकर चरमोत्कर्ष की ओर बढ़ता है। इसके बाद के कार्य-व्यापार में प्रतिपत्ति (Recognition) अथवा परिस्थिति-विपर्यय (Reversal of situation) का दर्शन होता है। इसमें नियति, संयोग, घटना-चक्र या नैसर्गिक तत्त्वों का समावेश पाया जाता है।

(५) अन्त 'कैटस्ट्रॉफी' में होता है।

(६) कार्य-व्यापार में नायक के अंग-भंग या मृत्यु का चित्रण होता है।

(७) नायक उच्चकुलीन ऐतिहासिक पात्र होता है।

(८) वह न तो नितान्त निर्दोष होता है और न नितान्त सदोष।

(९) कष्ट का कारण चरित्र में निहित दोष या परिस्थिति-भ्रान्ति होती है।

(१०) उसे बार-बार इस बात का एहसास होता है कि जो कष्ट वह झेल रहा है, वह अनावश्यक और अनुपयुक्त है।

(११) इसका प्रमुख उद्देश्य भय तथा करुणा का उद्दीपन और उसका परिष्कार है।

विशेष

त्रासदी में एक अद्भुत प्रवाह और रवानी (Rhythm) पायी जाती है। जब त्रासदी का कार्य-व्यापार आवश्यक विशेषताओं से अंलकृत होकर अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो उस स्थिति में इसका स्वरूप विशेष जटिल और कुतूहलपूर्ण होने के साथ ही आकर्षक बन जाता है। 'त्रासदी' 'फेट' (fate) का मूर्त रूप होती है और कामदी फार्चून (fortune) का। इनकी संघटना में भी मूलभूत अन्तर पाया जाता है। कॉमदी की संघटना संभाव्य, प्रासंगिक और जातीय होती है। यह समाज के ऐसे सजीव सामंजस्य का परिचायक होती है जो अंशरूप में हर व्यक्ति में विद्यमान होता है। त्रासदी पूर्ति का परिचायक होती है, अतएव इसकी संघटना closed, निश्चित और मनोवेग, प्रधान होती है। त्रासदी के प्रवाह में व्यक्तित्व का विकास और उपलब्धि स्पष्ट रूप से रेखांकित रहते हैं। कामदी की रवानी आत्मरक्षा को

व्यक्त करती है, जबकि त्रासदी की आत्मपूर्णता को।'' त्रासदी में विकास, परिपक्वता और पतन के स्वरूपों को स्पष्टता से देखा जा सकता है। यह जीवन की व्यक्तिगत चेतना का प्रतिफलन होती है। नाटक एक प्रतिबद्ध लेखन होता है। नाटककार अपनी प्रतिबद्धता की पूर्ति के लिये नाटक के तत्त्वों की योजना बनाता है और उन्हें एक सूत्र में गूँथता है। इसी से नाटक के कार्य-व्यापार की रवानी पैदा होती है। यह सरल और सपाट नहीं, अपितु जटिल और विषम होती है। रवानी में नाट्य-तत्त्वों के नियोजन का प्रमुख हाथ होता है।

त्रासदी का आस्वाद

त्रासदी के आस्वाद को लेकर बड़ा विवाद हुआ है। 'अरस्तू' ने सबसे पहले इसके विवेचन के क्रम में विरेचन की बात उठाई थी। यह मान्यता परवर्ती साहित्य में बहस-मुबाहिसे का विषय बन गई। 'रोबर्टेली' ने कहा कि त्रासदी को देखने से हमें जीवन में भयंकर दृश्यों को देखने की आदत पड़ जाती है, अतएव इससे व्यक्ति को जीवन के कष्टप्रद स्वरूपों को झेलने में सहायता मिलती है। 'जिराल्डी' की धारणा थी कि भाव-परिष्कार का संवंध भय और करुणा से नहीं, अपितु उसी के समान अन्य भावों से था। 'लेसिंग' का कहना था कि जीवन में सामंजस्य का अभाव पाया जाता है। त्रासदी को देखने से दर्शकों को एक मध्यमान मिल जाता है। जीवन में करुणा उस समय उत्पन्न होती है जब हम देखते हैं कि नियति के क्रूर हाथों नायक की भयंकर दुर्गति हुई है। भय उस समय उत्पन्न होता है जब हमारे दिमाग में यह बात घर कर लेती है कि कहीं नायक की परिस्थिति में हम न पड़ें और हमारी भी उसी प्रकार अधोगति न हो। फ्रेटॉग के मत से विरेचन के मूल में दर्शकों की सुरक्षा की भावना पाई जाती है। दर्शक त्रासदी में घटित घटना से आपने को अलग मानता हैं, अतएव वह कुछ सुरक्षित महसूस करके चैन की साँस लेता है। ये सभी दृष्टिकोण एकांगी और त्रुटिपूर्ण हैं। 'रिचर्ड्‌स' महोदय त्रासदी को सामंजस्य स्थापित करने और जीवन की भयंकरता में परिश्रान्ति और शान्ति स्थापित करने का प्रमुख माध्यम मानते हैं। 'रिचर्ड्‌स' के पूर्व मनोवैज्ञानिक चिन्तन के कुछ अन्य स्वरूपों का उद्‌भव हो चुका था। त्रासदी के सन्दर्भ में 'हीगेल' और 'नीत्शे' ने विषमताओं के परिहार का उल्लेख किया था। 'ब्रैडले' ने इसी बात को दूसरे तर्ज और लहजे में प्रस्तुत किया। उनकी दृष्टि में परिहार की बात अपूर्ण है। सच यह है कि त्रासदी की संघटना से मानव की महत्ता के उदात्त रूप के स्थान पर 'आत्म के विभाजन और आत्म-ध्वंस' (Self-division and self-waste) का दर्शन होता है। हम दर्शक के रूप में नायक की संघर्षमय स्थिति और अन्ततोगत्वा उसकी मृत्यु का अवलोकन करते हैं और जिस वीरता के साथ वह मृत्यु का वरण करता है, उसको देख कर आनंद का अनुभव करते हैं। 'फ्राई' की दृष्टि में त्रासदी किसी व्यापक और विश्वजनीन

नियम पर बल देती है। नायक के पतन से यह नैतिक नियम कुछ विघटित होता है। त्रासदी देखने से यह पता चलता है कि जिस बात के घटित होने की संभावना थी, उसके स्थान पर जो बात घटित हो रही है, वह इतनी अप्रत्याशित है कि संभावित और यथार्थ में कोई अनुपात नहीं रह गया है। इस एहसास से दर्शक कुछ उद्विग्न होता है और उसके मन में एक मनस्ताप उत्पन्न होता है। नायक जिस बहादुरी से परिस्थिति का सामना करता है, उससे नैतिक नियम के ह्रास की कुछ क्षतिपूर्ति अवश्य हो जाती है। इससे उसमें एक सामंजस्य उत्पन्न होता है। त्रासदी में भय और करुणा के बीच तनाव पाया जाता है। जब यह तनाव शिथिल हो जाता है तो हम नायक के प्रति अद्भुत सहानुभूति का अनुभव करते हैं। व्यक्ति की कष्ट सहन करने की अद्भुत क्षमता और मनुष्य की आस्था पर बल देने के कारण दर्शक को आनंद की प्राप्ति होती है।

१८वीं शताब्दी के कुछ विचारकों ने आवेगों की अंन्तर्मुखी और बहिर्मुखी गति का उल्लेख किया है। 'देकार्त' के शब्दों में मन का बहिर्मुख प्रवाह स्वत: में एक ऐसी प्रतिक्रिया का द्योतक है जो आनंदप्रद होती है। मन में भाँति-भाँति के संस्कारों का जमघट होता है। त्रासदी को देखने से जब ये उद्बुद्ध और गतिशील हो जाते हैं, तब इनसे एक प्रकार का आनंद प्राप्त होता है। इसे अगर हम दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि मनुष्य मूलत: एक सामाजिक प्राणी है, उसके कुछ समाजधर्मी संस्कार त्रासदी से तृप्त होते हैं, उसकी जिज्ञासा-वृत्ति का समाधान मिल जाता है और उस के ज्ञान में चार-चाँद लग जाता है। इसीलिये त्रासदी आनंदप्रद होती है। मनोविज्ञान के आत्म-पीड़न और पर-पीड़न के सिद्धान्त को भी इस पर अप्लाई किया गया है। कुछ लोग प्रकृति से अपने को पीड़ा देकर और अन्य लोगों की पीड़ा को देख कर आनंद का अनुभव करते हैं। त्रासदी इन दोनों शर्तों को पूरा करने के कारण आनंदप्रद है।

कविराज विश्वनाथ का कहना है, नाटक से हर्ष की प्राप्ति होती है, शोक की नहीं। नाटक देखते समय हम हर्ष और शोक से मुक्त होकर नाटक देखते हैं। इस स्थिति में दर्शक नाटक के कार्य-व्यापार से तादात्म्य का अनुभव करता है। इसीलिये शोक-पर्यवसायी नाटकों से भी आनंद की प्राप्ति होती है। इसमें कोई शक नहीं कि प्रेक्षागृह में दर्शक 'स्व' की सीमा से मुक्त होकर नाटक देखता है। प्रेक्षागृह दर्शक पर एक प्रभाव डालता है और वह स्वेच्छया अपने आग्रहों से मुक्त होकर नाटक देखने में लग जाता है। इस स्थिति में प्रत्यग्रता के कारण दर्शक की आत्मा विकसित होती रहती है। वह कुछ बातों का अनुभव करता है, पर इसको न तो हम उसका व्यक्तिगत अनुभव मान सकते हैं और न किसी प्रयोजन से परिचालित अनुभव। वह तो केवल नाटक के दृश्य कार्य-व्यापार द्वारा उत्पन्न आन्तरिक प्रतिचेष्टा का एक

सहज उच्छलन है जो नाटक देखने की स्थिति में अपने आप में पूर्ण होने का आभास देता है। त्रासदी में मृत्यु और आवश्यक बरबादी भी पाई जाती है। इसको देखने से बार-बार मन में जीवन के रहस्य की बात उठती है, उसकी महत्ता का प्रश्न हमें गुद-गुदाता और मसोसता है। इसे समझना सरल नहीं है। इन प्रश्नों के दिमाग में आते ही व्यक्ति व्यापक और महत्तर चेतना के प्रदेश में प्रवेश कर जाता है और उससे तादात्म्य स्थापित करता है। त्रासदी हमारे समक्ष एक अर्थवान्, सोद्देश्य, पूर्ण और समर्पित जीवन उपस्थित करती है। इसके रहस्यमय घात-प्रतिघात ज्यों-ज्यों स्पष्ट होते जाते हैं, दर्शक या पाठक जीवन के प्रति एक दृष्टि प्राप्त करता है। जीवन का अभिज्ञान अन्तश्चेतना को समृद्ध, व्यापक और अन्तर्दृष्टिपूर्ण बनाता है, त्रासदी जिस प्रश्न-वाची चिह्न से आरंभ हुई थी, अन्त में उसका समाधान प्रस्तुत करता है। हम कुछ सोचने के लिये जो बाध्य थे, उसे शान्त करता है। इससे स्पष्ट होता है कि त्रासदी संतोष और विश्रान्तिजनित चिन्तन प्रदान करती है जो आत्मा के चित्रफलक को व्यापक बनाकर हमें कुछ सोचने और समझने को बाध्य करता है। इस उपलब्धि को सही माने में आनंद कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यह ऐसे आत्मबोध का पर्याय है जिसमें सुख-दुःख दोनों की मिश्रित अनुभूति पाई जाती है। तो फिर इसे क्या कहा जाय ? मेरी दृष्टि में इसे ऐसे विश्रान्तिजनित सन्तोष की संज्ञा देना अधिक ठीक है जो हमारी आत्मा को व्यापक बनाने के कारण हमें अधिक स्पृहणीय है।

कामदी

कामदी को हिन्दी में सुखान्त या हास्य-प्रधान नाटक कहते हैं। दशरूपककार ने कहा है कि आकृति, वाणी या वेश की विकृति को देखने से हास्य पैदा होता है। प्रकृति के अनुसार इसके उत्तम, मध्यम और अधम तीन रूप होते हैं। भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने इसे स्मित, हसिन, विहसित, अपहसित तथा अतिहसित आदि ६ रूपों में विभक्त किया है।

सबसे पहले तो बुनियादी सवाल यह है कि हम क्यों हँसते हैं, अथवा हास्य क्यों उत्पन्न होता है ? पहले लोग मानते थे कि हास्य का प्रमुख कारण संतुलन या सामंजस्य का अभाव है। जहाँ भी इस तरह की बात देखने में आती है, वहाँ हम हँस पड़ते हैं। यह बात आज भी कुछ अंशों में ठीक है। हम सर्कस अथवा सिनेमा में इसके प्रभूत उदाहरण देखते हैं। एक पहलवान है जो पर्याप्त वज़नी बोझ उठा रहा है, उसी की बगल में एक बौना है जो उसी अदा अथवा अन्दाज में एक फुटबाल उठा रहा है। दोनों की काया और उठाये जाने वाले बोझ को देखकर मन में फुरफुरी होने लगती है। कहीं इसी बीच बौना अगर शान में आकर पहलवान को एकाध फल्ठा जड़ देता है और शान से इठलाते आगे बढ़ता है तो फिर कहना ही क्या, मुस्कान तुरन्त अट्टहास में बदल जाती है। तकिया कलाम भी हास्य का जनक होता

है। 'काण्ट' ने इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर व्यतिरेक को हास्य का जनक कहा था। 'बर्गसाँ' ने इस पर विचार करते समय बुद्धि और सहजवृत्ति की बात उठाई थी। उनकी धारणा है कि बुद्धि हर वस्तु को यांत्रिक ढंग से ग्रहण करती है, पर सहजवृत्ति सावयव ढंग से। जीवन काल के प्रसार में विकास और देश के प्रसार में जटिलता का परिचायक होता है। यह सतत् गतिशील और विकासोन्मुख होता है, फिर भी प्राय: व्यक्ति इस परिवर्तन से अन्यमनस्क होकर यांत्रिक ढंग से काम करने लगता है। यह अन्तर्विरोध हास्य का जनक होता है। १९वीं शताब्दी में इस पर मनोवैज्ञानिक ढंग से भी विचार किया गया था। इस निकाय के विचारकों की प्राय: यह आम धारणा बन गई थी कि नैतिक और भावात्मक बंधनों से मुक्त होने पर हास्य का फव्वारा फूटता है। इसमें, अर्थात् इसके प्रेरणा स्रोत में, हमें अनिश्चित रूपों की झलक और जीवन के स्वत:स्फूर्त स्वरूपों का आभास मिलता है। इस अभिज्ञान में मुक्ति या स्वतंत्रता का भाव होता है जो हास्य का जनक है। 'एल० डब्लू० क्लिन' ने कहा है कि हास्य चेतना के सतही तनाव को कम करके इसे नयी क्षमता और दक्षता प्रदान करता है। यह उन्मुक्त आत्मानंद है जो व्यक्ति की 'सुपीरियारिटी' के भाव पर आधारित होता है। इसके बावजूद हास्य की एक प्रमुख विशेषता है। इसमें क्रियाशील भाव-संवेग 'स्व' को अतिक्रमित करने में सफल होते हैं। 'पेरी' ने इस तथ्य को गहरा मनोवैज्ञानिक पुट प्रदान किया है। उन्होंने कहा है, "सुखान्त नाटक मुक्त वातावरण में विशेष रूप से सफल होता है। हास्य मूलत: सामाजिक उपलब्धि है और ऐसे वातावरण में अधिक सफल होता है जहाँ हम अपनी वैयक्तिक भावनाओं को सामाजिक हित की दृष्टि से कुछ समय के लिये नियंत्रित कर देते हैं। जीवन में हम सदैव व्यक्तिगत हानि-लाभ के लेखे-जोखे में नहीं लगे दीख पड़ते। इसके अनन्त निर्वैयक्तिक स्वरूप मानव-क्रियाकलाप को निश्चित दिशा प्रदान करते रहते हैं। ये निर्वैयक्तिक अन्त:संबंध अपनी विविधता और जटिलता में हास्य की प्रवृत्ति के खजाने होते हैं। व्यक्ति इन्हें देखकर बेतुके ढंग से सोचता है और दर्शक अपना निष्कर्ष प्राप्त करता है। रंगमंच हास्य की प्रवृत्ति का उचित आगार होता है।"[1] हास्य में जीवन के प्रति एक 'पौज़िटिव आउटलुक' पाया जाता है। इससे

1. Comedy fares best in the open, laughter is essentially a social thing and flourishes where private feelings must temporarily be effaced for social good. Personal joy and grief cannot always be indulged in arena of life, where an infinite number of im personal encounters make so large a part of human society. And it is these very impersonal relationships that in the multiplicity and variety of their details furnish the richest material for the comic spirit, it obse-rves them constantly, combines them incongruously and allows the onlooker to draw their own conclusion. Hence the stage is the proper habitat of comic spirit.

जीवन की आस्था सबल होती है और उसे एक दृष्टि मिलती है। इसका बोध बौद्धिक आधार पर प्राप्त किया जाता है, अतएव यह हमारी समझदारी को समृद्ध बनाता है। हास्य की साझेदारी खेल की साझेदारी-जैसी होती है। जिस प्रकार खेल में व्यक्ति अपने कौशल के अनुसार अपनी शक्ति प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार हास्य में भी वह अपनी दृष्टि के अनुसार अपने कौशल को काम में लाता है। इसीलिये 'मर्डिथ' ने कहा था कि उच्चकोटि की कामदी हमारे अन्दर विवेकपूर्ण हास्य पैदा करती है। हास्य का बोध बौद्धिक अन्तर्दृष्टि से जुड़ा होता है और हास्य की भावना व्यक्ति के चरित्र को परिष्कृत बनाती है तथा उसमें सहिष्णुता, नम्रता और आत्मनियंत्रण उत्पन्न करती है। यह सह-अस्तित्व और सहभाव को बल देती है। स्वतंत्र बुद्धि से उत्पन्न हास्य में मानवता, तटस्थता और सामान्य बौद्धिकता पाई जाती है, पर जान-बूझ कर किसी को चिढ़ाने अथवा आहत करने की दृष्टि से उत्पन्न हास्य में अमानवीयता, निकृष्टता और ईर्ष्या का दर्शन होता है। हास्य का संबंध नाटक के चरित्र, कार्य-व्यापार और परिस्थिति-योजना से होता है।

बुनियादी तौर पर पुराने सुखान्त नाटक में तीन विशेषतायें पाई जाती थीं, (१) जीवन के प्रति तीव्र आस्था, (२) कथोपकथन या परिस्थितिजन्य हास्य, और (३) सुखमय अन्त। आप पूछ सकते हैं कि इनका प्रादुर्भाव कैसे हुआ ? लीजिये, इसका उत्तर ! असल में कामदी की रचना यूनान से प्रभावित रोम में हुई थी। उस समय लेखक वहाँ के नवयुवकों को दीक्षित करके उन्हें सफल नागरिक बनाना चाहते थें। कामदी उनके इस उद्देश्य के अधिक अनुकूल थी, अतः उसे ही इसका माध्यम बनना पड़ा। इस समय की कामदी में ऐसे युग्मों की भरमार थी जिनमें से एक नायक को गुमराह करना चाहता था और दूसरा उसको उपदेश देना चाहता था। इस प्रवृत्ति के कारण उस काल के नाटकों में हास्य और षड्यंत्र की प्रधानता हो गई और उसमें पारिवारिक आडंबर, ढोंग, सामाजिक या धार्मिक दोष, अतिशय चारित्रिक फिसलन, मिथ्याभिमान, असंगति, असम्बद्धता, पाखण्ड, कृत्रिमता, हीनता, दुर्बलता, मूर्खता, अनौचित्य, त्रुटि, कुरूपता और विद्रूपता आदि को स्थान मिलने लगा। उस समय दो तरह के नाटक प्रचलित थे, त्रासदी और कामदी। इनके भेदों पर विचार करते समय प्रायः लोग इन्हें दृष्टिकोण की भिन्नता का प्रतिफलन मानकर मुक्त हो जाना चाहते थे, पर इस विभेद के मूल में संघटनात्मक और तात्त्विक भिन्नता भी विद्यमान थी। कहना न होगा कि "नाटक यथार्थ के प्रवाह से चेतना के ऐसे स्वरूपों को अलग करके हमारे समक्ष उपस्थित करता है जो महत्त्वपूर्ण होते हैं। इसके द्वारा हम जीवन के विशुद्ध भाव और वैयक्तिक भाव से परिचित होते हैं। इस विशुद्ध भाव—आनंद—का संबंध विशेष रूप से कामदी से होता है।" मानव-जीवन की सशक्त अनुभूति कामदी की प्रमुख विशेषता है। इसमें निरूपित जीवन-चित्र कठिनाइयों और विषमताओं से भरा होता है, फिर भी पूरी तरह अंधकारपूर्ण नहीं होता। जीवन का सामंजस्य कुछ

समय के लिये विघटित होता नज़र आता है, पर वह अचानक संघटित होकर जीवन का दिशा-निर्देशक बन जाता है।''

'लैंजर' ने त्रासदी और कामदी के भेद पर विचार किया है। उनका कहना है, (१) कार्य-व्यापार से प्राप्त होने वाली त्रासदी की रवानी मानव की मृत्यु से सीमित निराशा-ग्रसित जीवन की महती उपलब्धि है; (२) त्रासदी में 'फेट' (fate) की प्रतिभा होती है, पर कामदी में फार्चून (fortune) की; (३) दोनों की संघटना में भी भेद होता है। कामदी प्रमुख रूप से सापेक्ष उपकथा-प्रधान और जातीय होती है। यह समाज की खालिस सजीवता को व्यक्त करती रहती है। त्रासदी इच्छा-पूर्ति की प्रतीक है और इसका विन्यास व्यवस्थित, निर्णायक और भावात्मक होता है। त्रासदी परिपक्व कलारूप है और यह हर देश में नहीं रची गई है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इसके लिये ऐसी विशिष्ट वैयक्तिकता की अपेक्षा होती है जो कुछ धर्मों और संस्कृतियों की चेतना के अनुकूल नहीं पड़ती; (४) कामदी में चरित्रों के विकास के स्थान पर हमें उनका अच्छा-बुरा रूप दिखाई देता है। चरित्र जिस रूप में नाटक के आरंभ में होते हैं, उसी रूप में वे अन्त में भी दीख पड़ते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि कामदी की रवानी एक प्रकार से जीवन्त सातत्य का परिचायक होती है। कामदी का नायक नाटक में त्रासदी के नायक की तरह निरन्तर बदलता नहीं रहता। त्रासदी में हमें विकास (development) मिलता है, पर कामदी में सातत्य।

ऊपर एक सूत्र आया है जिसे समझ लेना जरूरी है। हमने प्रायः कई स्थलों पर इसका उल्लेख किया है कि त्रासदी का विषय नियति या भाग्य होता है, 'फेट' होता है, पर कामदी का 'फार्चून'। आखिर इस 'फेट' और 'फार्चून' में क्या भेद है। 'फेट' शब्द को हम नियति या अदृष्ट की संज्ञा दे सकते हैं और 'फार्चून' को दुनियाबी उपलब्धि पर आधारित सौभाग्य की। 'नियति' शब्द में कुछ नैसर्गिक शक्तियों का हाथ भी होता है, पर 'फार्चून' शब्द में नहीं। 'फेट' यूनान की तीन भाग्यदेवियों में से एक देवी का दाम भी है। इससे ज्ञात होता है कि नियति, भाग्य या अदृष्ट वह है जिसमें व्यक्ति का पूरा वश नहीं चलता, कुछ अदृश्य शक्तियाँ व्यक्ति को न चाहने पर भी उसे ज़बर्दस्ती खींचकर अनचाहा रूप दे देती हैं, पर 'फार्चून'—सौभाग्य—व्यक्ति के लौकिक कार्य-व्यापार, उसके अध्यवसाय, छल-छद्म, धोखा-धड़ी का प्रतिफलित रूप है। इससे साफ हो गया होगा कि जब हम त्रासदी को 'फेट' से संवद्ध करते हैं तो हमारा मतलब यह होता है कि इसमें व्यक्ति की आन्तरिक शक्तियों के साथ ही नियति की उस अन्धशक्ति का खिलवाड़ भी मिलता है जिसके हाथों व्यक्ति एक खिलौना सिद्ध हुआ करता है। यह वात कामदी में नहीं पाई जाती। इसीलिये प्रमुख यूनानी विचारक 'अरस्तू' ने कामदी के चरित्र को यथार्थ जीवन से निकृष्ट और त्रासदी के चरित्र को यथार्थ जीवन से उत्कृष्ट कहा है। पर ध्यान देने की बात यह है कि दोनों नाट्य-रूप मानव की क्रियाशीलता को चित्रित करते हैं और दोनों में

अनुकरण, सामंजस्य और रवानी पाई जाती है। भेद केवल यह होता है कि कामदी का चरित्र-चित्रण और कार्य-व्यापार उतना उदात्त नहीं होता, जितना कि त्रासदी का होता है। कामदी मानव-चरित्र की विद्रूपता, असंगति और विरोधाभास को चित्रित करती है, अतएव इसमें वह औदात्य पाया भी नही जा सकता।

कामदी का लेखक सबसे पहले कथानक की बात सोचता है और पुनः उस कथानक के उपयुक्त चरित्र के प्रकारों की योजना बनाता है। लेखक दर्शक की मनोवृत्ति अथवा अभिरुचि से भी प्रभावित हो सकता है। कामदी काव्य-न्याय पर आधारित होती है, इसीलिये अन्त में भयंकर से भयंकर दुश्मन भी मित्रवत् व्यवहार करता दिखाया जाता है। इसमें न तो किसी की हत्या होती है और न किसी को सूली पर चढ़ाया जाता है। इसकी घटनायें भी कार्य-कारण-शृंखला से बँधी होती हैं, पर वे हमारी नैतिक भावना को उस रूप में नहीं प्रभावित करतीं जिस रूप में त्रासदी प्रभावित करती है। त्रासदी हमें सन्तोष-जनित परिश्रान्ति या विश्रान्ति प्रदान करती है, पर कामदी में यह बात नहीं पाई जाती। कामदी और त्रासदी दोनों में समान तत्त्वों का उपयोग किया जाता है और दोनों अभीप्सित प्रभाव भी उत्पन्न करती हैं, पर उनके तात्त्विक निरूपण में भेद होता है। कामदी के चरित्रों में एक विशेषता पाई जाती है। इसमें चरित्रों के सामंजस्य के द्वारा कथानक की जटिलता का निराकरण या स्पष्टीकरण किया जाता है, पर इस कार्य को नाटककार इस रूप में संपादित करते हैं कि उससे हास्य की भावना पैदा हो सके। कामदी के कथानक प्रायः कल्पित होते हैं और इनकी संघटना की दृष्टि से भी लेखक अधिक स्वतंत्र होता है। इसका कार्य-व्यापार सुगठित और सुसंबद्ध होता है। कामदी में परिस्थिति-विपर्यय या सूत्र-विपर्यय भी हास्य के जनक होते हैं। वेश बदल कर चलना अथवा पुत्र का पिता को भाषण देना इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। 'बर्गसाँ' ने इस सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बात कही है। उनके शब्दों में, कामदी मानव-प्रकृति पर सदैव बाह्य क्रियाकलाप या बाह्य दृष्टि से विचार करती है और त्रासदी आन्तरिक संघटना या आन्तरिक भावना के आधार पर। त्रासदी आत्मा पर बल देती है और कामदी शरीर पर। त्रासदी का दर्शक अपनी आत्मा की गहराइयों का अन्वेषण करके इसे चरित्रों पर प्रक्षेपित करता है और कामदी का दर्शक बाह्य परिस्थितियों का विश्लेषण करके इसे प्रक्षेपित करता है। 'इलियट डोनेट्स' के शब्दों में, "कामदी वह कथा है जिसमें व्यक्ति के समष्टिगत और व्यष्टिगत जीवन-व्यापारों में व्यक्त प्रथाओं और स्वभावों का मनोरंजक चित्रण किया जाता है। इस चित्रण से पाठक जीवन में एक ओर यह सीखता है कि उसे क्या करना चाहिए और दूसरी ओर यह जानता है कि उसे क्या त्यागना चाहिए।" इसमें शक नहीं कि उच्च सुखान्त नाटक विचार-प्रधान हास्य को उद्बुद्ध करता है जो विकृति या असंगति से उत्पन्न होने पर भी किसी को हानि नहीं पहुँचाता है। इस दृष्टि से 'हॉब्स' की यह उक्ति कि कामदी

में आत्मश्लाधा और दूसरे को अपने से नीच समझने की भावना पाई जाती है, त्रुटिपूर्ण है। सत्य यह है कि हास्य का संबंध मानव-शरीर में उपस्थित अनेकानेक तत्त्वों से होता है। इनके समन्वित होने पर मनुष्य का व्यक्तित्व भी समरस रहता है, पर जब इनका यह समन्वय विघटित होता है तो इससे मानव के व्यक्तित्व में ऐसी असंगति पैदा हो जाती है जो हास्य का जनक बन जाती है। हमारे यहाँ भी वात, पित्त और कफ की बात उठाई गई है। जब वाताधिक्य हो जाता है तो व्यक्ति के शरीर में कुछ ऐसे दोष उत्पन्न हो जाते हैं जो हास्यास्पद होते हैं। उदाहरण के लिये, रह-रह कर हाथों को झटकना, आँखों को फड़काना या कन्धे को ऊपर नीचे करना आदि क्रियाओं को लिया जा सकता है। कामदी का हास्य हृदय का मुक्त हास्य होता है। इसमें हँसने वाले के प्रति कोई दुर्भावना नहीं पाई जाती। हास्य मन की मुक्त अभिव्यक्ति होता है और 'विट' परिमार्जित तथा सुसंस्कृत अभिव्यक्ति। हास्य की अर्द्धलोलुप दृष्टि अतीत से संवद्ध होती है, पर 'विट' की आधुनिक चेतना से अनुप्राणित। हास्य में एक प्रकार का मार्दव पाया जाता है, पर 'विट' में दीप्ति के साथ कठोरता और भावहीनता का पुट भी रहता है। शुद्ध हास्य संवेदन से आंशिक रूप में मुक्त होता है। इसमें जीवन के प्रति आसक्ति, मनोरंजन, सामाजिक नियंत्रण के प्रति विद्रोह और मनोरंजन-प्रधान प्राणियों पर व्यंग्य और कटाक्ष का भाव पाया जाता है।

कामदी के प्रकार

कामदी ऑव मैनर्स

अन्य साहित्य-रूपों की तरह नाट्य-साहित्य भी विकसित होता रहा है, अतएव शैली की दृष्टि से कामदी के कई रूप सामने आये हैं। यूनानी कामदी एक निश्चित आदर्श थी। यह व्यक्ति को सामान्य स्तर से निम्नकोटि का चित्रित करके उसे सुधारना चाहती थी। 'अरिस्टोफेन्स' ने अपने सुखान्त नाटक 'बर्ड्स' और 'फ्रॉग्स' के द्वारा अपने काल की त्रुटियों पर व्यंग्य किया था। यूनानी कामदी का आरंभ आनन्दोत्सव से हुआ था, पर इसका स्वरूप बाद में बदल गया और व्यंग्यात्मक हो गया। रोमन कामदी के प्रमुख उन्नायक 'प्लाटुस' और 'टेरेंस' थे और इसका प्रमुख उद्देश्य सामाजिक जीवन में व्याप्त छल-छद्म और पाखण्ड का चित्रण था। वह इस चित्रण के द्वारा खोई हुई सामाजिक मर्यादा को पुनः प्राप्त करना चाहती थी। लेखक दोषी व्यक्तियों के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न करने से नहीं चूकता था। वह व्यंग्य को अपनाता था और हृदय को आन्दोलित करने के स्थान पर मस्तिष्क पर सीधा प्रहार करता था। उसका उद्देश्य खालिस हास्य उत्पन्न करना नहीं था। नये कामदी-लेखकों ने पुराने आचार्यों का अनुकरण तो किया, पर इसे

नयी दिशा देने की कोशिश भी की। इन प्रयोगकर्ताओं में शेक्स्पीयर प्रमुख था। उसने प्रेम-प्रधान, प्रेममुक्त, हास्य-प्रधान और गंभीर कामदी की रचना की। उसकी इन कृतियों में स्वच्छन्द कल्पना और यथार्थ का अद्‌भुत पुट था। 'बेन जान्सन' पहला व्यक्ति था जिसने गंभीरता की दृष्टि से कामदी और त्रासदी को समान माना।

'क्रॉमवेल' के शासन-काल की प्रमुख विशेषता 'प्यूरिटन' विचारधारा थी। इसके परिणामस्वरूप रंगमंच को गहरा धक्का लगा था। करीब दो दशकों तक नाटक के विकास में एक अवरोध उत्पन्न हो गया था। 'क्रॉमवेल' के बाद 'चार्ल्स-द्वितीय' शासनारूढ़ हुए। इनके शासन-काल में नाटक का पुनरुत्थान हुआ। इस काल की कामदी को 'कामदी ऑव मैनर्स' की संज्ञा दी गई। इस काल के नाटक फ्रांसीसी लेखक 'मोलियर' और स्पेन के लेखक 'कैल्डीरान' से विशेष प्रभावित थे। 'मोलियर' से उन्हें कथावस्तु और चरित्र का नमूना मिला था तो 'कैल्डीरान' से प्रेम और षड़यंत्र के निरूपण की पद्धति। इस प्रकार के नाटकों में उच्चवर्गीय लोगों के जीवन को चित्रित किया जाता था। लेखक उनके रहन-सहन के बेढंगे और वासनापूर्ण स्वरूप को चित्रित करता था। इस काल के साहित्य में प्रेम की प्रधानता थी, इसी लिये आलोचकों की दृष्टि में वह अश्लील और वासना-प्रधान था। इन नाटकों की रचना के समय तक गद्य की प्रधानता हो गई थी। इसके प्रयोग से यथार्थ चित्रण और व्यंग्य-कथन का मार्ग प्रशस्त हुआ। इसमें शक नहीं कि तत्कालीन नाटकों में लैंगिक विद्रूपता का चित्रण खुल कर किया गया था। विट-प्रधान नाटकों के द्वारा हास्य को एक सामाजिक संस्पर्श भी प्रदान किया गया था। कहीं-कहीं व्यक्ति के आत्मज्ञान के अभाव का मज़ाक भी उड़ाया गया था, पर इस प्रकार के व्यंग्य से दुहरा फायदा हुआ। एक ओर तो सामान्य व्यक्ति ने समाज के हास्य-प्रधान बंधनों से मुक्ति की साँस ली और दूसरी ओर स्वयं समाज व्यक्ति के हास्य-प्रधान बंधनों से मुक्त हुआ। कामदी ऑव मैनर्स में जीवन के रहन-सहन की नयी दृष्टि के साथ ही प्रेम-प्रेरित शूरवीरता का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया गया।

सेण्टिमेण्टल कामदी

इस प्रकार की कामदी में शुद्ध हास्य का अभाव और करुणा की प्रधानता पाई जाती है। इसका दृष्टिकोण नैतिकतावादी होता है, अतएव इसमें आदर्श की स्थापना और यथार्थ का तिरस्कार किया जाता है। इनके लेखन में कोई निश्चित शैली नहीं अपनाई जाती। संपूर्ण नाटक में लंबे-लंबे भावना-प्रधान वार्तालाप होते हैं जिनमें हास्य और व्यंग्य का कोई पुट नहीं होता।

परवर्ती विकास

सेन्टिमेन्टल कामदी के बाद इस नाट्य-रूप का उद्धार करने वालों में 'शेरिडन' और 'गोल्डस्मिथ' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन लेखकों ने सब से पहले भाव-प्रवणता का विरोध किया और पुनः हास्य और व्यंग्य की प्रतिष्ठा की। 'शेरिडन' अपने व्यंग्य के लिये ख़ास तौर से मशहूर था और 'गोल्डस्मिथ' अपने हास्य के लिये। पहला बुद्धि को प्रभावित करने में विश्वास करता था और दूसरा हृदय को। आधुनिक यूरोप में सुखान्त नाटकों का दो रूप मिलता है, (१) विचार-प्रधान नाटक और (२) मनोरंजन-प्रधान नाटक।

त्रासदी-कामदी

इस नाट्य-रूप में त्रासदी और कामदी दोनों की विशेषतायें पाई जाती हैं। यूनान में 'सैटिरिक' नाटक की एक अलग विधा प्रचलित थी। रोम में प्लाटुस ने 'एम्फीट्रायन' के लिये 'ट्रैजीकौमेडिया' शब्द का प्रयोग किया था। वैसे बहुत पहले से कामदी में त्रासदी के तत्त्वों का और त्रासदी में कामदी के तत्त्वों का प्रयोग किया जाता था। कभी-कभी ये दोनों दृश्य समानान्तर चलते थे। आरंभ में इसका विरोध हुआ, पर बाद में जब इस तरह के नाटक सफलतापूर्वक लिखे जाने लगे तो इन्हें भी मान्यता मिली और इनके लिये नियम निर्धारित किये गये। इसकी उपयोगिता का उल्लेख करते हुए 'जॉन ड्राइडेन' ने कई तरह का तर्क दिया है। उनकी दृष्टि में त्रासदी-कामदी एक ऐसी सापेक्ष विविधता को चित्रित करती है जो अपने मूल रूप में आनन्दप्रद होती है। त्रासदी आवश्यकता से अधिक गंभीर होती है और कामदी आवश्यकता से अधिक हल्की। जैसे नाटक में संगीत का प्रभाव उत्तम होता है, उसी प्रकार इन दोनों के मिले-जुले स्वरूप का प्रभाव भी स्वास्थ्यकर होता है। अतएव इसे सफल नाट्य-विधा माना जा सकता है। 'डॉ० जान्सन' के अनुसार जीवन में हम सामान्य और असामान्य का मिश्रण देखते हैं, अतएव नाटक में इसको नकारा नहीं जा सकता। इनके समानुपातिक संबंध के कारण नाटक अधिक मनोरंजक और यथार्थ बन जाता है। हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि नाटक विविधता में एकता का परिचायक होता है। त्रासदी-कामदी इस शर्त को पूरा करती है, अतएव वह महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इसके अलावा इन दोनों नाट्य-रूपों का विकास समानान्तर हुआ है और प्रायः आलोचकों की यह आम राय है कि ये तात्त्विक दृष्टि से भिन्न होते हुए कुछ दृष्टियों से समान भी हैं। हर नाटक में इनके मिले-जुले रूप का दर्शन भी होता है। हम चाहे 'कालिदास' के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' को लें, चाहें 'प्रसाद' के 'स्कन्दगुप्त' को। इन नाटकों में दोनों के कुछ तत्त्व विद्यमान हैं। त्रासदी-कामदी में, जैसा कि नाम से ही प्रकट है, नाटककार जीवन के अश्रु और हास से सिक्त पट को बुनते हैं और अन्त में

विधान-विशेष से पूरी संघटना को कामदी के रूप में बदल देते हैं। उन्हें पढ़ने से पाठक को करुणा और भय की अजस्र धारा का दर्शन होता है। इस वर्णसंकरता से कामदी का यह रूप भी त्रासदी की कुछ विशेषताओं से अलंकृत हो गया है। 'क्रिस्टोफर-फ्राई' का कहना है, "त्रासदी और कामदी में जो भेद पाया जाता है, वह यथार्थ में अनुभूति और सहजज्ञान का भेद है। हम अपनी अनुभूति में अपने पाशविक जीवन की सीमाओं के विरुद्ध कार्यरत रहते हैं। इस स्थिति में हम मृत्यु, महत्त्वाकांक्षा और निराशा तथा प्रेम की अस्थिरता से मुक्त होना चाहते हैं। सहज-ज्ञान की स्थिति में हम उन असाध्य प्रयत्नों पर विश्वास करते हैं जो हमारे प्रमुख अंग हैं। त्रासदी का अनुभव एक पूर्ण और गहन अनुभव होता है, पर कामदी में यह बात नहीं पाई जाती।" अनुभूति और सहजज्ञान अपनी भिन्नता में भी अभिन्न हैं। ये मानस की चित्तवृत्ति हैं जो बदलती रहती हैं। इनकी आनुपातिक मिलावट से रंगमंच प्रभावित हुआ है।

त्रासदी-कामदी की सर्वप्रियता का एक और आधार है। आज के बदलते परिवेश में त्रासदी की नीतिवादी परंपरा के लिये कोई खास गुंजाइश नहीं रह गई। है। त्रासदी में प्रयुक्त द्वन्द्वात्मक संघर्ष के मूल में व्यंग्योक्ति (Irony) पाई जाती है। दर्शक तो नायक के भाग्य से परिचित रहता है, पर नायक स्वयं अपना भाग्य नहीं जानता। वह जितना प्रयत्न करता जाता है उसकी असफलता उतनी ही निश्चित बनती जाती है। कामदी की व्यंग्योक्ति भी सदैव भिन्न नहीं होती। यह यथास्थान त्रासदी की व्यंग्योक्ति में मिल सकती है। यह सम्मिलन विशेष महत्त्वपूर्ण और प्रभावोत्पादक सिद्ध होता है। 'रोनैल्ड पीकॉक' का कहना है, "त्रासदी और कामदी दोनों का उद्भव जीवन की अपूर्णता और उसे पूर्ण बनाने की अभिलाषा से होता है। ये दोनों जीवन के व्यतिरेक की मुखापेक्षी होती हैं, अतएव इनकी स्थिति समानधर्मा है। ये अपने-अपने ढंग से जीवन को चित्रित करती हैं।" मैं कहना चाहता हूँ कि जब ये मिल जाती हैं तो उनसे एक तीसरा रूप मिलता है जो जीवन के अश्रु-हास-सिक्त स्वरूप को विशेष रूप से प्रकट करता है।

गीति-नाट्य

प्राचीन काल में प्राय: सभी देशों में नाटक में गद्य और पद्य का प्रयोग किया जाता था। परिस्थिति-परिवर्तन के साथ नाटक के माध्यम में भी बदलाव आया। १७वीं शताब्दी के बाद से नाटक प्राय: गद्य-बहुल हो गये। यथार्थवाद के अभ्युदय के साथ गद्य की भावात्मकता भी समाप्त हुई और कोरे बौद्धिक माध्यम को महत्त्व दिया जाने लगा। विज्ञान, मनोविज्ञान और समाजविज्ञान की मान्यताओं से इस धारा को और बल मिला। पर, इस सबके बावजूद नाटकों का भविष्य अनिश्चित बना रहा। इसके कुछ कारण थे। इनमें हम नाटक और सिनेमा की प्रतिद्वन्द्विता,

प्रथम विश्वयुद्ध से उत्पन्न विभीषिका और जीवन की नीरसता के अन्त की समस्या को रेखांकित कर सकते हैं। साहित्य समय की गतिशील चेतना और युग की उत्कट अभिलाषा का परिचायक होता है। नाटक को भी अपनी लोकप्रियता की रक्षा के लिये इस उद्देश्य की ओर बढ़ना आवश्यक हो गया। इसके परिणामस्वरूप उसमें कुछ विशेषताओं का समावेश हुआ। 'समरसेट माम' ने इसकी भविष्यवाणी बहुत पहले की थी। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि गद्य-नाटक समय की आवश्यकता के अनुकूल नहीं सिद्ध हो रहे हैं, अतएव हमें एक नयी नाट्य-विधा की जरूरत है। उन्होंने पुनः कहा था कि सिनेमा की प्रतिद्वन्द्विता में हमें अगर नाटक को जिन्दा रखना है तो हमें उस बात पर बल देना चाहिए जिस पर सिनेमा बल नहीं देता। वह बात है नाटक का आंतरिक कार्य-व्यापार। उनकी यह राय मानी गई और आगे आने वाले नाटकों में इस पर ध्यान भी दिया गया। गीति-नाट्य की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए 'प्रिसिला थूलर' (Priscilla Thouler) ने लिखा है, "इसमें नाटककार अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को सामान्य जनता के व्यक्तित्व से अलग रखने और सामान्य जीवन के समानान्तर प्रस्तुत करने के लिये लालायित है। यहाँ व्यक्ति अपने परिवेश से नियंत्रित न होकर अपनी आत्मा के आन्तरिक नियमों से नियंत्रित पाया जाता है। गीति-नाट्य का लेखक न तो चरित्रों को हमारे सामने रखता है और न वह स्थूल यथार्थ को हमारे ऊपर लादना चाहता है। वह तो दरअसल उनको हमसे दूर रखना चाहता है।"[1] इस उद्धरण में दो-एक बातों का विशेष महत्त्व है। गीति-नाट्य का लेखक आन्तरिक नियमों का कायल होता है, बाह्य यथार्थ का नहीं। तात्पर्य यह कि वह मनःकल्पित आदर्शों को अपनाता है और भाव-संवेगों को अभिव्यक्त करना अपना धर्म समझता है। वह बाह्य स्थूलता के स्थान पर आन्तरिक गतिशीलता को पकड़ना चाहता है। इसमें यथार्थ को उसी मात्रा में अपनाया जाता है जिस मात्रा में वह नाटक को अविश्वसनीय होने से बचा सके। इन नाटकों में ध्वनि और शिल्प के प्रयोगों की प्रधानता होती है। इनमें प्रयुक्त बिंब, सहज रूपक और व्यवस्थित लयात्मकता हमें जीवन के संवेगात्मक यथार्थ का प्रतीक-रूप में ज्ञान कराने में सफल होते हैं। भावात्मक बोध की अभिव्यक्ति जटिल होती है। इसे व्यंजित करने के लिये हमें स्थूल उपादानों को ग्रहण करना पड़ता है। गीति-नाट्य का प्रतिपाद्य भावबोध

---

1. There is, however, another kind of drama, poetic drama, in which the dramatist is trying to pluck his individual from the mass and to set him against the background of life itself. The individual here is not controlled by the necessities of his environment, but by some inward law of being. It is the wish of the poetic dramatist not to bring the character near to us, not to impress upon the concrete realities of world, but to distance us from them.

है, पर वह बाह्य संसृति को तिरस्कृत नहीं करता। इस प्रकार के नाटक में तालानुगति को विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है। तालानुगति हमारे ध्यान को केन्द्रित रखती है और उसके आरोह-अवरोह द्वारा भाव-संवेगों के उतार-चढ़ाव को सरलता से प्रकट किया जा सकता है। इस नाटक की बोधक क्षमता गद्य-नाटक से अधिक होती है। यह हमारे अन्दर भावोन्माद भर देता है और उसके बाद भाव-संवेग और चेतना को अन्वित भी करता है। इस समन्वय से ऐसा आनंद प्राप्त होता है जिसकी चकाचौंध में जीवन के रहस्य स्वयमेव स्पष्ट हो जाते हैं। इस नाटक के चरित्रों की भी निजी विशेषता होती है। 'बैंबर गैस्क्वायन' ने कहा है कि "कवि हमेशा नाटक लिखने के प्रेमी रहे हैं और नाटककार अपने नाटक में कविता का समावेश करने के प्रेमी। इसका कारण यह है कि नाटक के चरित्र सामान्य जीवन-चरित्रों से महान् और नाटक की भाषा सामान्य जीवन की भाषा से भिन्न रही है।" इस बात से कुछ लोग असहमत हो सकते हैं, पर इस बात से शायद ही कोई असहमत हो कि गीति-नाट्य में अन्तर्परीक्षण के आधार पर ऐसी मनोसृष्टियों को व्यक्त किया जाता है जो कुछ हद तक लोकोत्तर होती हैं।

बीसवीं शताब्दी की विभीषिका से मनुष्य हर तरह से उद्विग्न हो चुका था। उसकी आस्था और उसका विश्वास डिगने लगा था। भौतिकवादी भस्मासुर ने जिस मानव से वरदान पाया था, वह उसी को भस्म करने के लिये तत्पर था। व्यक्ति वसीयत के रूप में प्राप्त निराशा के अनिश्चित चित्रों में कुरंग की तरह उलझ कर अपने अन्त की प्रतीक्षा कर रहा था। ऐसी स्थिति में मोहिनी रूपधारी आस्था की आवश्यकता थी। गीति-नाट्य उस आस्था को लेकर एक बार पुनः सामने आया। इसके पहले के नाटकों में बौद्धिकता अपना रग दिखा चुकी थीं, व्यक्ति ने उस 'फॉरबिडेन फ्रूट' की अहमियत को समझा था। गीति-नाट्य इस अभिशप्त व्यक्ति को एक भावात्मक सन्देश देने के लिये अवतरित हुआ। आरंभ में इसकी सफलता उतनी सुनिश्चित न थी, अतएव लोगों का शंकालु होना स्वाभाविक था, पर बाद में 'इलियट' जैसे प्रतिभावान् व्यक्ति के हाथों पड़कर यह सैद्धान्तिक स्थिरता प्राप्त करने में सफल हुआ। 'इलियट' की मान्यता थी कि काव्य नाटक का सशक्त माध्यम हो सकता है। गद्य हमें कुछ सतही तथ्यों से ही परिचित करा पाता है, पर पद्य उससे अधिक गहन और प्रेरणाप्रद स्वरूपों को हमारे सामने रखता है।

समस्या-नाटक

'समस्या-नाटक' शब्द अंग्रेजी 'प्रोब्लम प्ले' का हिन्दी-रूपान्तर है। १८९६ ई० में 'सैमुएल ग्रण्डी' ने नवम दशक के नाटकों के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करने के लिये इस नाम का उपयोग किया था। इस तरह के नामकरण कुछ अंशों में अपवाद होते हैं, क्योंकि इनको लेकर तरह-तरह की व्याख्यायें प्रचलित हो जाती हैं जिनमें

कुछ तो काम की भी होती हैं, पर अधिकांश प्रायः बेकाम की। 'मार्टिन एलहाज़' के शब्दों में, १९वीं शताब्दी के परवर्ती दशक में विकसित होने वाले बौद्धिक और यथार्थवादी नाटक को समस्या-नाटक कहा गया। 'शा' की धारणा थी कि समस्या-नाटक "दृष्टान्त के माध्यम से मनुष्य की इच्छा और उसके वातावरण को चित्रित करने का प्रमुख साधन है।" 'एल० जे० पौट्स' के अनुसार, यह नाटक उन परिस्थितियों को चित्रित करता है जो नैतिक और सामाजिक समस्या का रूप ले लेती हैं। कुछ अन्य विचारकों की दृष्टि में यह प्रचार का पर्याय है और बड़े प्रश्नवाची चिह्न से समाप्त होता है। लेखक समस्या तो प्रस्तुत कर देता है, पर समाधान नहीं देता।"[1] उपर्युक्त परिभाषाओं की अपनी निजी सीमा है। पहली बात तो यह है कि समस्या-नाटक और नाटक में समस्या की बात सामने नहीं आई है। सबसे पहले इन्हीं दोनों के फ़र्क को समझना ज़रूरी है। कहना न होगा कि हर नाटक में कोई न कोई समस्या होती है, पर उसे समस्या-नाटक नहीं कहा जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि समस्या-नाटकों की एक चेतना होती है जो निश्चित तकनीक के अनुसार नाटक में ढलती है। उसकी निम्नांकित आवश्यक शर्तें हैं —

१. इसमें किसी न किसी प्रकार की सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक समस्या का निरूपण होता है।

२. इसकी शैली यथार्थवादी या प्रकृतवादी होती है।

३. इसका प्रमुख स्वर बौद्धिक और रूढ़ि-विध्वंसक होता है।

इस उपर्युक्त बात को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि समस्या-नाटक वह नाट्य-रूप है जिसमें यथार्थवादी या प्रकृतवादी शैली में बौद्धिक धरातल पर कोई न कोई सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक समस्या प्रस्तुत की जाती है जिसका उद्देश्य समाज के गले-सड़े ढाँचे को परिवर्तित करना होता है।

समस्या-नाटक असल में १८वीं शताब्दी के भाव-प्रधान नाटकों की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुआ था। इसमें जीवन के कटुतिक्त अनुभवों को प्रस्तुत किया जाता था। यह त्रासदी और कामदी दोनों से भिन्न था। इसकी संघटना त्रासदी-कामदी से भी नहीं मिलती थी। इसका स्वर प्रयोगवादी और विद्रोही था, अतएव प्रेक्षागृह में भी यह विशेष प्रिय न हो सका था। इसमें जीवन के ऐसे अन्त्यज स्वरूपों को व्यक्त किया जाता था जो लोगों को बहुत रुचिकर न थे। ये नाटक परंपरित नैतिकता के घोर विरोधी थे, अतएव आरंभ में इनको लेकर बड़ा होहल्ला मचा। इन्हें अनैतिक, अश्लील, भद्दा, विद्रूप आदि विशेषणों को शिरोधार्य करना पड़ा और बार-बार 'सेंसर' के अनावश्यक हस्तक्षेप का सामना करना पड़ा। पर ये नाटककार भी सैलानी जीव थे। इन्हें ज़िन्दगी के पेचोख़म उलझा नहीं सकते थे, क्योंकि इन्हें

1. See R.C. Gupta, *Problem Play*

हर दुश्वार मंजिल से टकराना आता था। सुतराम् ये हर प्रकार के सामाजिक और न्यायिक प्रतिबंधों को झेलते हुए अपने मार्ग का अवलंबन करते रहे। आलोचकों ने 'इब्सन' के 'गोस्ट्स' को वंश-परंपरा, छूत की बीमारी और पाप पर लिखे गये निबंध की संज्ञा दी थी। 'डोल्स हाउस' को स्त्री के उद्धार के लिये लिखा गया घोषणा-पत्र कहा। इसी प्रकार अन्य कृतियों की आलोचना भी की गई। पर, यह आक्षेप सर्वथा एकांगी था। असल में समस्या-नाटक की कुछ विशेषतायें भी थीं जो विरोध के प्रबल वेग में नक्कारखाने में तूती की आवाज़ के सदृश सिद्ध हो रही थीं। अब लेखकों और आलोचकों, दोनों का उन्माद ठण्डा हो गया है और समस्या-नाटक बीते दिनों की राग बन गया है, अतएव इस पर निश्चित रूप से कुछ कहा-सुना जा सकता है। दरअसल समस्या-नाटककार विचार को प्रेषित करता है, कहानी नहीं कहता। वह दैनिक जीवन में घटित घटनाओं का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है, ललित कल्पना और फान्तसी का चनाजोर गरम नहीं। इसीलिये इस खेवे का नाटककार संघटना के स्थान पर विचारों के प्रतिपादन का हिमायती होता है।

समस्या-नाटक का संबंध सामाजिक और आर्थिक परिवेश से होता है। वह यथार्थ में युगचेतना का अनुपम पत्रक माना जाता है और वर्तमान अथवा समसामयिक उथल-पुथल को सूक्ष्मता की सभी आड़ी-वेड़ी रेखाओं से चित्रित करना अपना धर्म समझता है। इतिहास साक्षी है कि जिस काल में समस्या-नाटक लिखा गया था, उस काल में चतुर्दिक् एक कसमसाहट थी, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सुधारों का स्वर बुलन्द था, और सभी तरह के लैंगिक विभेद को नेस्तनाबूद करके मनुष्य को मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठित करने की एक अदम्य लालसा थी। इस काल को संक्रान्ति-काल कहा जा सकता था। इस काल में बहुत कुछ टूटता और बिखरता है और उसके स्थान पर कुछ नया स्थान ग्रहण करता है। इससे समाज में एक नयी चेतना फैलती है और व्यक्ति पुनः नये उत्साह के साथ जीवन की समस्याओं को झेलने के लिये तत्पर होता है। इस काल का मूल स्वर भावात्मक नहीं, बौद्धिक होता है। बुद्धि अपनी कतरब्योंत के लिये मशहूर है, खण्डन-मण्डन के लिये ख्याति-प्राप्त है। वह बाबा वाक्यं प्रमाणं की विरोधिनी होती है। इस तरह की बुद्धि में पुनः बहुत कुछ को अन्वेषित और विश्लेषित करने की अदम्य क्षमता होती है। इस दृष्टिकोण के कारण परंपरित मान्यताओं के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन होता है।

१९वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में स्वतंत्रता का स्वर विशेष रूप से मुखर हुआ था। इसने जीवन के कोने-कोने को अपनी प्राणदायिनी जिजीविषा से प्रभावित किया था। यह काल प्रयोगों का काल था, अतएव नाटककार के लिये घटना नहीं, अपितु उससे जुड़े विचार विशेष महत्त्वपूर्ण बन गये थे।

समस्या-नाटक की शैली के विवेचन के सन्दर्भ में प्रकृतवाद का उल्लेख किया जाता है। यथार्थ में प्रकृतवाद और यथार्थवाद की भिन्नता से अभी कम लोग परिचित हैं, अतः वे इनका प्रयोग 'सिनोनाइम' के रूप में करते हैं। पर इनकी यह व्याख्या त्रुटिपूर्ण है। अव प्रकृतवाद निश्चित रूप से विवादास्पद नहीं रह गया है। यह प्रेक्षागृह की ऐसी शैली का परिचायक है जिसमें प्रेक्षागृह के रंगमंच की सेटिंग, चरित्रों का कथोपकथन और अभिनेताओं का अभिनय जीवन्त ज्ञात होता है। यथार्थवाद इसका पर्याय नहीं है। मैं प्रकृतवाद को शैली का वर्णन और यथार्थवाद को विषयवस्तु का बोध मानता हूँ। प्रकृतवाद सतही जीवन को चित्रित करता है और यथार्थवाद अनुभूति के सत्य को। इन दोनों में विवाद है, पर इन्हें सरलता से अलग भी किया जा सकता है। प्रकृतवाद का 'आल्टर-नेटिव' अभिव्यंजनावाद और गीति-नाट्य है और यथार्थवाद का 'आल्टरनेटिव' 'फान्तसी' और मेलोड्रामा।[1] स्पष्ट है कि यथार्थवाद जीवन के यथार्थ का परिपोषक होने के कारण हर नाटककार का उपजीव्य है, पर प्रकृतवाद जीवन-सत्य को केवल निरूपण के रूप में ग्रहण करता है, वह निरूपण की शैली या परंपरा है। प्रकृतवाद का यह शैलीकरण नाटक के लिये उपयोगी है। प्रकृतवादी नाटक और लेखक अभिनेता के समक्ष कई अड़चनें प्रस्तुत करते हैं, अतएव इस नाटक के कथोपकथन को कई तरह की जिम्मेदारी निभानी पड़ती है। यह चरित्र और कथावस्तु को विकसित करता है, नाटक को गतिशील बनाता है, विगत घटनाओं का कलात्मक परीक्षण करता है, पर सव कुछ के बावजूद अपनी विशेषताओं को सुरक्षित रखता है। नाटक की भ्रान्ति को बनाये रखने के लिये नाटककार को असामान्य गंभीरता के साथ ही सामान्य सरलता का संस्पर्श देना पड़ता है। वह कथोपकथन को सहज व्यंग्य का पुट देकर उसे दर्शकों के लिये मनोरंजक बनाता है। इसमें घटना की कार्य-कारण-संमत शृङ्खला पाई जाती है, पर वह नाटकीयता से रिक्त होती है। इसकी कमी को

---

1. The meaning of naturalism is beyond dispute-it represents a style of theatre in which the stage setting, the dialogue of the characters and performance of the actors seem life like--but realism is often pressed into service as a synonym for it. This is confusing and wasteful. I prefer to make the distinction that naturalism is a description of style and realism of content. Naturalism reflects actually the surface of life, whereas realism is concerned with the truth of experience which it conveys. Thus, two are compatible, but not really inseparable. The alternative to naturalism becomes expressionism, poetic drama etc. and alternative to realism are phantasy or melodrama.

पूरा करने के लिये नाटककार दृश्यों और चरित्रों के प्रकृतिगत भेद और उसके आरोह-अवरोह को चित्रित करना चाहता है। हर ख्याति-प्राप्त प्रकृतवादी अपने रंगमंच के काल को ऐतिहासिक कालक्रम के समतुल्य मान कर चलता है। इससे उसे सुविधा होती है। वह कार्य-व्यापार का सूक्ष्म परीक्षण करके किसी घटना के चरम बिन्दु से नाटक को शुरू करता है। इससे उसमें नये विचारों का जंगम अवश्य दीख पड़ता है[1], पर चरित्र-चित्रण में क्रान्तिकारी परिवर्तन की संभावना बनी रहती है। चरित्र-चित्रण को पूर्ण बनाने के लिये उससे संबद्ध पृष्ठभूमि को व्यापक धरातल पर चित्रित करना पड़ता है। इसके लिये स्मृति और आधार की जरूरत होती है, उसके सामाजिक संबंध को कार्य-व्यापार या कथोपकथन से व्यक्त करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार के नाटककार मनोविज्ञान से परिचित भी रहते हैं और किसी न किसी तदबीर से पात्रों के मानसिक और सामाजिक पक्ष को भी उभाड़ना चाहते हैं। पर यह युक्ति कारगर नहीं सिद्ध होती है। इससे चरित्र पूर्ण प्रकाशित नहीं हो पाता और उसकी कुछ विशेषतायें दव जाती हैं, या उभड़ जाती हैं। दर्शक इस प्रकार के नाटक से तरह-तरह के प्रभाव ग्रहण करते हैं और इस आधार पर उनसे नयी संवेदन-प्रतिक्रिया को व्यक्त करने की अपेक्षा की जाती है। उनके लिये इस तरह के नाटक लोहे का चना सिद्ध होते हैं। उनका ध्यान केवल कारणों से उलझ कर रह जाता है, उन्हें प्रभाव तक पहुँचने का मौका ही नहीं मिलता। यहाँ अनुभूति को भी विकसित होने का मौका नहीं मिल पाता, वह जीवन के कुछ घरेलू पक्षों से ही बँधी रहती है और खूँटे के पशु की तरह उसी के चारों ओर चक्कर काटा करती है। इन नाटकों को प्रेक्षित करने के लिये प्रायः अस्वाभाविक तदबीरों का सहारा लेना पड़ता है। भाषा की सहजता और अंगचेष्टा के वर्णन का प्रभाव अनुकूल अवश्य होता है। इन नाटकों में प्रहसन और दुःखान्तकी अतिरंजना का मिश्रण मिलता है और इसमें हास्य तथा करुणा का पुट पाया जाता है, पर नाटककार को इन्हें ग्रहण करने में सावधानी बरतनी पड़ती है। प्रकृतवादी कलाकार जीवन-सत्यों को रंचमात्र विरूप किये बिना उन असामंजस्यों को चित्रित करना चाहता है जिन्हें वह देखता है। यह प्रमुख रूप से 'डोमेस्टिक कामडी' की रचना पर बल देता है।

समस्या-नाटक को प्रायः विचार और प्रचार के बाने में देखने की कोशिश की गई है, पर इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ है। इससे कुछ बाह्य विचार तो नाटक पर आरोपित हो गये हैं, पर नाटककार का पक्ष हमारी आँखों से ओझल हो गया है। समस्या-नाटक में विषय की नवीनता के साथ ही तकनीक की नवीनता भी पाई जाती है। ये नाटककार पुरानी तकनीक के स्थान पर नयी तकनीक को अपना

1. All great naturalists found it helpful to equate stage time more with chronological time, telescoping the action, to start the play near the crisis of events. Here again they tended to cause new and unexpected juxtaposition of feelings.

कर चले हैं। इनके नाटकों में हमें दुहरे संघटन-कौशल का परिचय मिला है। इसके एक छोर पर शॉ का बिखरा हुआ वस्तु-विन्यास दिखाई पड़ा है तो दूसरे छोर पर गाल्सवर्दी-ग्रुप के लेखकों की सुगठित रचना-पद्धति। कुछ आलोचकों के अनुसार समस्या-नाटक में कथावस्तु का अभाव होता है। इसमें कोई शक नहीं कि इस प्रकार के नाटकों में यह अंश क्षीण होता है, पर इसका यह मतलब नहीं कि वह होता ही नहीं है। हर नाटक में कथावस्तु का कोई न कोई स्वरूप होता है और इसी के आधार पर नाटक के विचार और चरित्र मूर्तिमान होते हैं। इन नाटकों के कार्य-व्यापार को भी आँख से ओझल नहीं किया जा सकता। कुछ समस्या-नाटककारों ने मनोविज्ञान की पद्धति से मनुष्य के क्रिया-कलाप का अध्ययन किया है, इससे सारा कार्य-व्यापार मानसिक धरातल पर प्रस्तुत हुआ है।[1] 'शॉ' ने परंपरित अर्थ में कथानक का बहिष्कार किया है। वे इसके विकास के लिये अपनाई गई पूर्ववर्ती पद्धतियों को भी अस्वीकार करते हैं। वे तो केवल कथोपकथन के माध्यम से अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं। उनका रूप एक उपदेशक का रूप है, और वे नाटक नियमों का पालन करने के लिये नहीं लिखते, वल्कि इसलिये लिखते हैं कि दुनियाँ के लोग उनके विचारों को सुनें-गुनें और अपनायें। इसीलिये उनके नाटक विचार-प्रधान नाटक हैं। पर 'शॉ' के अतिरिक्त अन्य लेखक भी हैं जिन्हें रंगमंच और रचना-कौशल का ज्ञान है और वे प्रभावान्विति, कुतूहल आदि पर बल भी देते हैं। इस तरह के नाटक की रचना के लिये फ्रांस में piece bien faite का अनुगमन भी किया गया था, पर यह विशेष सहायक नहीं सिद्ध हुई थी। पर इस सबके बावजूद समस्या-नाटक केवल कथानक के कौशल पर आश्रित न था। इसकी

---

1. दे० 'स्ट्रिण्डबर्ग' की यह उक्ति—Anything may happen. Everything is possible and probable. Time and space do not exist. On an insignificant background of reality, imagination designs and embroiders novel patterns: a medley of memories, experiences, free fancies, absurdities and improvisations. The characters split, double, multiply, vanish, solidify, blur, clarify. But one consciousness reigns above them all-that of dreamer; and before it there are no secrets, no incongruities, no scruples, no laws. There is neither judgment nor exoneration, but merely narration. And as the dream is mostly painful and rarely pleasant, a note of melancholy and of pity with living things runs right through the wobbly tale. Sleep, the liberator, plays often dismal part, but when the pain is at its worst, the awakening comes and reconciles its sufferer with reality, which, however distressing it may be, nevertheless seems happy in comparison with the torments of dream.

रचना सोद्देश्य की जाती थी। कथानक का उद्देश्य भी उसी दृष्टिकोण को स्पष्ट करना होता था। समस्या-नाटककार का कथानक पहले से निश्चित नहीं होता था, वह तो परिस्थिति, चरित्र और परिवेश के साथ विकसित होता जाता था। इसके कथानक में प्रमुख रूप से 'ऐक्शन प्लॉट' और 'आइडिया प्लॉट' की योजना पाई जाती थी। ये दोनों साथ-साथ विकसित ही नहीं होते थे, अपितु एक-दूसरे को समन्वित भी करते थे। जहाँ 'ऐक्शन प्लॉट' की प्रमुखता होती थी, वहाँ तो इसे समस्या-नाटक कहा जाता था, पर जहाँ 'आइडिया प्लॉट' की प्रधानता हो जाती थी, वहाँ इसे विचार-प्रधान नाटक की संज्ञा दी जाती थी। समस्या-नाटक में कथानक को साधन के रूप में अपनाया जाता था, साध्य तो उसकी व्यंजना होती थी। इसमें कथानक और उद्देश्य के दो छोर होते थे। कुछ कुशल नाटककार कथानक का निर्वाह रचना को ध्यान में रखकर करते थे, पर प्रायः कथानक उद्देश्य का संवाहक हुआ करता था। नाटककार अपने उद्देश्य को नाटक के द्वारा अधिक से अधिक स्पष्ट रूप में प्रकट करना चाहता था। जहाँ उसे भाषा और विचारों मे विशेष सहायता नहीं मिल पाती थी, वहाँ वह कुछ 'डीवाइसेस' (devices) का उपयोग करता था। समस्या-नाटकों में देश-काल की अन्विति की बात तो नहीं मिलती, पर उनके सीमांकन की बात मिलती है। इससे उसे कई तरह के लाभ होते हैं। पहला लाभ तो यह है कि वह अपने दर्शक का ध्यान सामाजिक अनुभव के ऐसे बिन्दु पर केन्द्रित करता है जो उसे विश्वसनीय लगे। दूसरा लाभ यह है कि इससे विषय सशक्त, प्राणवान् और अर्थवाहक बन जाता है। इस नाटक में आरंभ, मध्य और अन्त की व्यवस्था नहीं पाई जाती। यह प्रायः पुराने नाटकों के अन्त से शुरू होता है और कुछ घटना-क्रमों को चित्रित करते हुए एक प्रश्नचिह्न के साथ समाप्त हो जाता है। प्रभाव की वृद्धि के लिये नाटककार कुछ भूत की घटनाओं को भी अपनाता है। समस्या-नाटककार प्रश्न करता है, उत्तर नहीं देता।

इस नाटक का कार्य-व्यापार और कथोपकथन भी महत्त्वपूर्ण होता है। इसका कार्य-व्यापार सहज, स्वाभाविक और पाखण्डरहित होता है। इसमें रूमानी अति-रंजना का अभाव पाया जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि इसमें बाह्य कार्य-व्यापार होता ही नहीं। वह होता है, पर इसका संबंध विचार और अनुभूति के बदलते रूप मे होता है। नाटककार सामाजिक समस्याओं का मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय या अर्थशास्त्रीय निरूपण करता है, अतएव नाटक के कार्य-व्यापार में बाह्य संघर्षों के स्थान पर आदर्शों, संवेगों और अनुभूतियों का संघर्ष मिलता है। इनकी अभिव्यक्ति के लिये यह अन्य साधनों को अपनाता है। नाटककार का प्रत्यक्ष कार्य-व्यापार भी उसी की मानसिक क्रियाओं की भावानुभूति का ही अभिव्यंजक होता है। इनके कार्य-व्यापार में निहित द्वन्द्व में बौद्धिकता का विशेष पुट होता है। समस्या-नाटक के कार्य-व्यापार का प्रमुख केन्द्र उसके द्वारा अभिव्यक्त शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक

विचार होता है। इसको चित्रित करने में कथोपकथन से विशेष सहायता मिलती है। कथोपकथन विचारों को विकसित करता है और कार्य-व्यापार को भी सघन और तीव्र बनाता है। यह चरित्रों में वाग्वैदग्ध्य की अद्‌भुत क्षमता उत्पन्न करता है और चित्तवृत्ति की विविधता को सरलता से व्यंजित करने में सहायक सिद्ध होता है। कथोपकथन यथास्थान वाद-विवाद के पक्ष-विपक्ष में बदल जाता है। इससे ज्वलंत सामाजिक प्रश्न के दोनों पहलू स्वयमेव स्पष्ट हो जाते हैं। सजीव वार्तालाप द्वारा इच्छित प्रभाव प्राप्त किया जाता है, इसीलिये समस्या-नाटक में वाद-विवाद का कोई दृश्य अवश्य पाया जाता है, और इस दृश्य में विषय से संवद्ध ज्वलन्त प्रश्नों को कलात्मक ढंग से मुखर किया जाता है। इस प्रकार के दृश्य का संबंध चरित्र को प्रभावित करने वाली परिस्थिति से होता है, इसीलिये यह नाटककार की बौद्धिक और भावात्मक चेतना का परिचायक भी माना जाता है। समस्या-नाटककार कथोपकथन की सभी संभावनाओं का अन्वेषक है और वह अपने नाटक में इनका उचित उपयोग भी करता है। इसमें प्रयुक्त स्वगत कथन अभिव्यक्ति के उत्कृष्ट वाहक होते हैं। उसकी भाषा दैनिक जीवन की भाषा होती है और उसमें सहजता, स्वाभाविकता और बौद्धिकता का समावेश पाया जाता है।

समस्या-नाटक के चरित्र भी विशिष्ट प्रकार के होते हैं। ये भी प्रकारान्तर से नाटककार के विचारों के वाहक बन जाते हैं। इन चरित्रों का संबंध कार्य-व्यापार और लेखक के दृष्टिकोण से होता है, अतएव इनके अलग अस्तित्व की कोई बात ही नहीं उठती। कुछ नाटकों में पात्रों का स्वतंत्र चित्रण मिलता है, पर वे भी परिवेश और सामाजिक वातावरण से जुड़े रहते हैं। समस्या-नाटककार उद्देश्यहीन ढंग से मानव के मन या समाज की समस्याओं पर विचार नहीं करता, उसका दृष्टिकोण सोद्देश्य होता है और वह यह मान कर चलता है कि उसके मानस का बाहरी माहौल से निश्चित संबंध है। इसीलिये वह जब भी चरित्रों के आन्तरिक पक्ष या समस्या के जटिल स्वरूप पर विचार करता है तो उसका प्रमुख उद्देश्य इसे किसी न किसी समस्या का वाहक बनाना होता है। इन नाटकों में कुछ गौण पात्रों का प्रयोग भी मिलता है। ये पात्र चरित्र के प्रकार होते हैं। नाटक के हर पात्र समसामयिक ज्वलन्त प्रश्न का सामना करते हैं, उससे मुकरते नहीं। नाटककार भी अपने विचारों को यथासंभव नाटक पर लादना नहीं चाहता। वह इन्हें अपने वैयक्तिक चिन्तन या अनुभूति के द्वारा सजाता-सँवारता है। इन नाटकों को देखने या पढ़ने से ऐसा लगता है कि उसके विचार हमें हर क़दम पर आन्दोलित कर रहे हैं। सभी पात्र हमारे दैनिक जीवन से चुने जाते हैं, अतएव वे अपरिचित नहीं लगते हैं। इनकी भाषा और भूषा दैनिक जीवन की भाषा-भूषा होती है। समस्या-नाटक के लेखक ने जीवन को उसकी समग्रता में देखना और परखना चाहा है। इसके सफल निरूपण के लिये

अपने पात्रों को भी उसके व्यापक रंगपट से ग्रहण किया है। इनमें हमें उच्चवर्गीय लोगों का दर्शन भी होता है और निम्नवर्गीय लोगों का भी, राजा भी देखने को मिल जाते हैं और रंक भी, शोषक भी मिल जाते हैं और शोषित भी। कहीं-कहीं ये पात्र वर्गगत चेतना के प्रतीक के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। इससे समस्या-नाटक चरित्रों का दलदल बन जाता है। चरित्रों के चुनाव में 'पैरलेलिज्म' से विशेष सहायता मिलती है। लेखक अपने प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने के लिये पक्ष और विपक्ष के पात्रों को चालाकी से चुनता है और उनके माध्यम से उसके सद् और असद् पक्षों को पूरी अहमियत के साथ निरूपित करता है। उसका आग्रह सद् के निरूपण की ओर होता है, पर वह असद् का विधिवत् उद्घाटन करना भी अपना धर्म समझता है। वह यह मानकर चलता है कि सद् के प्रति व्यक्ति की आस्था तभी हो सकती है जब वह असद् से परिचित हो। कहीं-कहीं तो ऐसा भी देखने में आता है कि वह मूल समस्या के पक्ष-विपक्ष को निरूपित करके उसके निर्णय का उत्तरदायित्व पाठक या दर्शक पर छोड़ देता है।

बुराई के विषय में उसकी निश्चित मान्यता है। वह इस बात को स्वीकार करने से रंचमात्र नहीं हिचकता कि असद् जड़ीभूत हो चुका है—उसका विष समाज की नस-नस में फैल गया है। आप पूछ सकते हैं कि इससे मुक्त कैसे हुआ जा सकता है? इस खेवे के नाटककारों ने इसका जवाब दिया है। उनकी धारणा है कि इससे मुक्त होने के लिये हमें समाज की वर्तमान व्यवस्था को पूरी तरह बदलना पड़ेगा। जब तक समाज नहीं बदलता, तब तक वह अपनी सड़ाँध से कभी मुक्त नहीं हो सकता। ये नाटककार समाज को बदलने के लिये तत्पर भी दीख पड़ते हैं। इन्हें यथास्थान प्रचारवादी दृष्टिकोण को अपना कर इस मन्तव्य को पूरा करने का उपक्रम रचना पड़ा है। 'इब्सन' की धारणा थी कि प्रचार राष्ट्रीय जीवन को शिक्षित बना सकता है, 'बार्कर' का कहना था कि इसकी प्रभावोत्पादकता कभी निष्फल नहीं जाती है, 'जोन्स' की दृष्टि में यह धर्म और नैतिकता से भी सफल माध्यम बन सकता है और 'गाल्सवर्दी' के शब्दों में यह संस्कृति का आधार-स्तंभ सिद्ध हो सकता है। 'शॉ' ने तो इसे विचार की फैक्टरी, चेतना का अभिभावक, सामाजिक चेतना को प्रकट और व्याख्यायित करने का प्रमुख साधन, निराशा तथा निष्क्रियता समाप्त करने का माध्यम और मानव-विकास का केन्द्र कहा है।

समस्या-नाटक का चित्रफलक परिचित होता है, अतएव वह अजनबी नहीं ज्ञात होता है। उसके कुछ दृश्य हमारे दिल को छूते भी हैं। वे ऐसी टीस छोड़ जाते हैं जो तलवार की चोट से कम दुःखदाई नहीं होती। इसमें जीवन के आन्तरिक स्वरूप का एक गतिशील चित्र मिलता है जो वातावरण और कथोपकथन की गतिशीलता से व्यक्त होकर व्यंजना में चार-चाँद लगा देता है। नाटककार अभिव्यक्ति

की सुकरता के लिये प्रतीकों का प्रयोग भी करता है। इसका अन्त जीवन के अन्त की ही तरह अप्रत्याशित, आकस्मिक और अनगढ़ होता है। इसकी संघटना से हमें नाटक के अतिरिक्त कुछ और भी मिलता है। यह और ही जीवन-चित्र है, उसकी समस्याओं का सफल निरूपण है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि यह नाट्य-विधा अपने समय में रंगमंच की दृष्टि से जितनी ही असफल रही है, जीवन के अन्त्यज स्वरूपों को उद्घाटित करने की दृष्टि से उतनी ही सफल भी पाई गई है।

विसंगतिसूचक नाटक (Absurd Drama)

विसंगतिसूचक नाटकों ने एक बड़े बौद्धिक वर्ग को प्रभावित किया है, और इसकी तकनीक से "भाषा, नये विचार, नयी दृष्टि और नये जीवन-दर्शन का आविर्भाव हुआ है जो हमारे विचार, अनुभूति और चिन्तन की पद्धति" को प्रभावित कर रही है। कुछ आलोचकों की धारणा है कि विसंगतिसूचक नाटकों में जिस प्रवृत्ति का पुनः साक्षात्कार हुआ है, वह किसी न किसी रूप में पहले के साहित्य में विद्यमान रही है। इसमें कोई शक नहीं कि दादावाद, अतियथार्थवाद और अस्तित्ववाद में मानव की विसंगति को मुखर करने का प्रयत्न किया गया था और आज यह भी निर्विवाद है कि इन नाटकों को लिखते समय लेखकों की दृष्टि उधर टिकी भी हुई थी। इसके पूर्व पेरिस के रंगमंच पर 'सार्त्र', 'कामू', 'घेल्डेरोड' आदि की कृतियाँ प्रदर्शित भी हो चुकी थीं। इन नाटककारों ने अपनी कृतियों से लोगों को चौंकाकर हक्का-बक्का ही नहीं बनाया था, अपितु अपनी कचोट-भरी आस्था, देव-निन्दा, लापरवाही और घनी संवेदना से दर्शकों के बोध को 'चैलेंज' भी किया था। विसंगतिसूचक नाटक ने इस परंपरा से बहुत कुछ ग्रहण किया था।

विसंगतिसूचक नाटक को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम पहले विसंगति को समझ लें। 'अल्बेयर कामू' ने 'मिथ ऑव सिसिफस' में लिखा है, "ऐसे विश्व को जो त्रुटिपूर्ण होने पर भी बुद्धि के माध्यम से समझा जा सकता है, परिचित कहा जा सकता है। पर ऐसी दुनियाँ में जो आकस्मिक रूप से भ्रम और प्रकाश से वंचित है, व्यक्ति अजनबी महसूस करता है। वह अपने को निर्वासन की स्थिति में पाता है। उसके पास न तो उसके त्यागे हुए देश की स्मृति है और न भविष्य में वह जिस देश में बसेगा, उसकी स्मृति। मनुष्य और उसके जीवन तथा पात्र और उसकी सेटिंग में इस अलहदगी या जुदाई से विसंगति का आविर्भाव होता है।"[1]

---

1. A world that can be explained by reasoning, however faulty, is a familiar world, but in a familiar world that is suddenly deprived of illusions of light, man feels a stranger. He is an irreme-

'सार्त्र' ने 'कामू' के 'स्ट्रैंजर' की व्याख्या करते हुए, जो बात कही है, उससे भी विसंगति पर प्रकाश पड़ता है। उसका कहना है, "अलग-अलग देखें तो न तो मनुष्य विसंगत है और न दुनियाँ। चूंकि मनुष्य की यह विशेषता है कि वह दुनियाँ में रहता है, अतएव उसके रहने से जो परिस्थिति उत्पन्न होती है, उसे विसंगति की संज्ञा दी जाती है।"[1] 'मार्टिन एसेलिन' इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं, "बुनियादी तौर पर विसंगति का मतलब होता है सामंजस्यहीन। शब्दकोश के अनुसार इसे बुद्धि और औचित्य के विरुद्ध, अतार्किक, असंगत आदि का पयार्य माना जा सकता है। सामान्य व्यवहार की भाषा में इसे हास्यास्पद का परिचायक कहा जा सकता है। पर विसंगतिसूचक नाटकों में इसका प्रयोग भिन्न अर्थ में किया गया है। काफ्का पर लिखे गये अपने लेख में आइनेस्को ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि यह असंगत, ऊलजलूल या उद्देश्यविहीन होता है। जब व्यक्ति अपने धार्मिक, दार्शनिक और सर्वातिशायी आधारों से दूर जा पड़ता है तो उसके सभी कार्य निरर्थक, उद्देश्यहीन और ऊलजलूल हो जाते हैं।"[2] 'एसेलिन' ने विसंगति के महत्त्व पर विचार करते समय 'नीत्शे' के 'जरयुष्ट्र' का उल्लेख किया है। 'ज़रथुष्ट्र' पहाड़ से उतरकर मानवता को सन्देश देने के लिये आगे बढ़ता है। उससे एक सन्त मिलता है जो उसे शहर में न जाकर जंगल में ही रहने को राय देता है। 'ज़रथुष्ट्र' सन्त से पूछता है कि वह जंगल में किस तरह अपना जीवन व्यतीत करता है। इसके उत्तरस्वरूप सन्त उसको बतलाता है, "मैं गीत बनाता हूँ और उन्हें गाता हूँ; बनाते समय मैं हंसता, रोता और गुर्राता हूँ; इस प्रकार मैं ईश्वर की उपासना करता हूँ।" 'ज़रथुष्ट्र' सन्त की बात नहीं मानता, वह आगे बढ़ता है और अपने से पूछता है—क्या यह संभव है कि यह पुराना सन्त अभी नहीं सुन पाया है कि ईश्वर मर गया। यथार्थ में आज की

---

diable exile, because he is deprived of memories of lost homeland as such as he lacks the hope of promised homeland to come. This divorce between man and his life, the actor and his setting, constitutes the feeling of absurdity.

1. The absurd is neither a man, nor in the world, if they are considered separately, but since the essential characteristic of man is being-in-the world, absurd is finally the same as human condition.

2. 'Absurd' originally means 'out of harmony' in musical context. Hence its dictionary definition, "out of harmony with reason or propriety, incongruous. unreasonable, illogical.... In an essay on Kafka Inesco defined his understanding of the term as follows, "cut off from his religious, metaphysical and transcendental roots, man is lost; all his actions become senseless, absurd, useless."

दुनियाँ की विषमता, निरास्था, कटुता और विद्रूपता[1] में एक उद्देश्यहीनता का परिचय मिलता है। विसंगतिसूचक नाटक इसी उद्देश्यहीनता का अन्वेषण करते हैं। विसंगति की उपर्युक्त व्याख्या से निम्नांकित बातें ज्ञात होती हैं—

१. मनुष्य और उसके जीवन में अलहदगी का समावेश हो गया है। ये दोनों एक-दूसरे से जुदा हो गये हैं। यही जुदाई विसंगति का कारण है।

२. विसंगति न तो मनुष्य में पाई जाती है और न दुनियाँ में, वह तो यथार्थ में मनुष्य के दुनियाँ में रहने की विवशताजनित परिस्थिति में पाई जाती है।

३ जब व्यक्ति अपने मूल स्रोतों से कट जाता है तो उसके कार्य निरर्थक और उद्देश्यहीन होने के कारण विसंगति के जनक बन जाते हैं।

४. "ईश्वर मर चुका है" भी विसंगति का कारण है।

नाटक के सन्दर्भ में ज़रा इन बातों को देखा जाय। कहना न होगा कि हर नाटक में विषय-वस्तु और तकनीक दोनों का महत्त्व होता है। कुछ नाटक अपनी तकनीक के लिये प्रसिद्ध होते हैं तो कुछ विषय-वस्तु के लिये। इस तरह के नाटक की दृष्टि प्रमुख रूप से विषय-वस्तु पर केन्द्रित होती है, पर वह इसके अनुकूल तकनीक को भी महत्त्व देता है। इन नाटककारों की एक जीवन-दृष्टि है जो उनके तकनीक की जननी सिद्ध होती है। इनका दृष्टिकोण अर्द्ध-आलोचनात्मक और अर्द्ध-दार्शनिक होता है, इसीलिये वे हर वस्तु को अपनी दृष्टि से देखना पसन्द करते हैं। वे यह मानकर चलते हैं कि सारी संसृति और उसके कार्य-व्यापार ऊलजलूल हैं। हम बिना आवश्यकता के जनमते और बिना इच्छा के मरते हैं। सारा जीवन, जीवन और मरण की इसी भयंकरता के बीच झूलता रहता है। हमें अपने जीवन में उस काल का अभिज्ञान नहीं हो पाता जब हम अजन्मे थे, अथवा उस काल का ज्ञान भी नहीं हो पायेगा जो हमारी मृत्यु के बाद आयेगा। इसका प्रमुख कारण यह है कि अनस्तित्व अनन्त है और किसी बात का हम उसी हद तक अनुभव कर पाते हैं जिस हद तक हम उसे देख सकते हैं। हम में इन्द्रिय, इच्छा और बुद्धि उपस्थित है, इसीलिये हम अपने को शक्ति-संपन्न मानते हैं। पर, यह सब विडबना है। हमें इस बात का एहसास नहीं हो पाता कि हमारी इन्द्रियाँ हमारे विचारों को झूठी सामग्री प्रदान करती हैं और हमारे विचार हमारी इन्द्रियों को धोखा दे जाया करते हैं। इस स्थिति में हमें कुछ भी पूर्णता से देख पाना असंभव है। हम किसी भी उपादान, तथ्य या परिस्थिति के अंश-विशेष से परिचित हो पाते हैं। इस ज्ञान के आधार पर हम स्थायित्व तो प्राप्त करना चाहते हैं, पर जब हमें यह एहसास हो जाता है

1. A world deprived of generally accepted integrating principles which has become disjointed, purposeless-absurd.

कि हमारी उपलब्धि अधूरी है और वह पूर्ण प्रभाव में सक्षम नहीं है तो हम कुछ दुःखी और निराश हो उठते हैं। हम यह महसूस करने लगते हैं कि हमारा सभी निर्माण उसी प्रकार क्षणभंगुर है जिस प्रकार हम क्षणभंगुर हैं। हम अपने सृजन के द्वारा स्थायित्व के सन्दर्भ में अपने को बार-बार परखना चाहते हैं, पर सृजित वस्तु सृजन के पश्चात् अपने स्वतंत्र अस्तित्व की परिचायिका बन जाती है, अतएव उसके सहारे हम अपने को उसी अंश तक पहचान सकते हैं जिस अंश तक हम अपने विचारों को उस पर आरोपित करते हैं। हम अपने को स्पष्ट रूप में समझ कर अपनी विशिष्टता का जिस अंश तक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, उस अंश तक ऊलजलूल ज्ञात होने लगते हैं। आत्म-पराजय की जटिलता में फिर हम केवल यही कह पाते हैं कि हम अपने को नहीं समझते। अगर हम जीवन में स्थायित्व प्राप्त न कर सकने के कारण आत्महत्या की बात सोचते हैं तो और भी ऊलजलूल बन जाते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि हम अपने मूल्यवान् जीवन को उस बात के लिये दाँव पर लगा देने की बात सोचते हैं जिसका हमने कभी अनुभव नहीं किया है। इस निराशा में अगर हम धर्म की ओर उन्मुख होते हैं तो अपने को धोखा देते हैं, अपनी बुद्धि को धोखा देते हैं। हमें इस स्थिति में स्थायित्व का जो भी ज्ञान हो पाता है, वह बुद्धि के मूल्य पर ही होता है, हमारे लिये यह संभव नहीं है कि हम पूर्ण योग्यता के साथ कार्य कर सकें, पूर्ण सचाई के साथ देख सकें या कोई ऐसी स्थायी वस्तु बना सकें जो हमारी इच्छा की सही माने में परिचायिका हो, पर हमारे लिये यह भी संभव नहीं है कि हम जब तक जीवित हैं, तब तक अपनी सक्रियता का अभिनय करना बन्द कर दें। यह स्थिति विसंगति की परिचायिका है, क्योंकि इसमें न हम घर के हो पाते हैं और न घाट के। आत्म-पराजय के विरोधाभास की यही मानसिक स्थिति, शक्ति और अशक्ति का यही प्रतिबंध और समन्वय, ज्ञान-अज्ञान, समस्वरता और विषमस्वरता की यही भावना ऊलजलूल अथवा विसंगति-सूचक नाटक की विशेषता है[1] और नाटककार इसे व्यंजित करने के लिये तरह-तरह की शैलियों का उपयोग करते रहे हैं।

विसंगति की उपर्युक्त व्याख्या से सहमति और असहमति हो सकती है, पर यह बात निर्विवाद रूप से सही है कि इस खेवे का नाटककार संसृति में मानव के

---

1. It is this complex of self defeating paradox, this even check and balance of power and impotence, knowledge and ignorance, attunement and alienation that is subject of absurdist playwright of all ages, no matter what form or style they may have chosen to express it.

भूत, वर्तमान और भविष्य पर प्रकाश डालता है। कोई भी व्यक्ति जो इसे परखना चाहेगा, उसकी व्याख्या अस्तित्व और अनस्तित्व से होती हुई मनुष्य और उसकी विसंगति से टकरायेगी। इन नाटकों की शैली बदल सकती है, पर उसका विषय किसी न किसी रूप में यही रहेगा। इस नाटक की कुछ विशेषतायें त्रासदी और फार्स तथा पूर्ववर्ती कलाकारों में भी पाई जाती हैं। त्रासदी और फार्स भय तथा हास्य प्रधान विसंगति का उद्‌घाटन करते हैं, अथवा नाटक के पात्रों की परवशता और लापरवाही को चित्रित करते हैं। भेद यही है कि त्रासदी का कलेवर करुणा-प्रधान होता है और प्रहसन का हास्य-प्रधान, पहले में सहानुभूति पाई जाती है और दूसरे में कठोरता। विसंगतिसूचक नाटक इन पुरानी मान्यताओं पर हँसता है, प्रहार करता है, पर यथास्थान उन्हें संशोधित और परिवर्धित रूप में अपनाता भी है। हमें यहाँ प्रमुख रूप से इस बात को ध्यान में रखना है कि परंपरित नाटक कथानक-प्रधान होता है, अभिव्यंजनावादी नाटक अथवा महाकाव्यीय नाटक विषय-प्रधान होता है, पर विसंगतिसूचक नाटक 'टोन' प्रधान होता है।[1] विसंगतिसूचक नाटककार मानव-परिस्थिति की तात्त्विक पीड़ा का अनुभव करता है। जीवन की निरर्थकता, उद्देश्य और मूल्यहीनता पर 'गिरौडीक्स' (Giraudoux), 'सल्क्रू' (Salcrou), 'सार्त्र' तथा 'कामू' ने भी इसी तरह की पीड़ा का अनुभव किया था और इसे अपने नाटकों द्वारा व्यक्त किया था। पर विसंगतिसूचक नाटक तथा उपर्युक्त लेखकों द्वारा लिखे गये नाटकों में मौलिक भेद था। 'कामू', 'सार्त्र' आदि 'सेंस ऑव इर्रेशनलिटी' को बहुत ही स्पष्ट और व्यवस्थित तर्क द्वारा प्रस्तुत करते हैं, पर विसंगतिसूचक नाटककार मानव-परिस्थिति-संबंधी अर्थहीनता के भाव अथवा बौद्धिक दृष्टिकोण की अपूर्णता को 'रेशनल डीवाइसेज' और तर्कपूर्ण विचार-पद्धति की अवहेलना द्वारा व्यक्त करता है। 'सार्त्र' अथवा 'कामू' नये विषय को पुरानी शैली में अभिव्यक्त करते हैं, पर विसंगतिसूचक नाटककार एक कदम आगे बढ़कर उसकी बुनियादी मान्यता और विन्यास को समन्वित करके अभि-व्यक्त करता है।[2] इस दृष्टि से यह पहले की तुलना में अभिव्यक्ति का एक सफल

1. Traditional drama is plot centred, expressionist and epic drama, theme centred, absurdist drama is love centred.

2. Yet these writers differ from the dramatist of absurd in an important respect. They present their sense of the irrationality of human conditions in the form of highly lucid and logically constructed reasoning, while the theatre of absurd strives to express its sense of senselessness of human condition and inadequacy of the rational approach by open abandonment of rational devices and discursive thought. White Sartre and Camus express the new content in the old convention, the theatre of absurd goes a step further in trying to achieve a unity between its basic assumption and the form in which they are expressed.

माध्यम सिद्ध होता है। विसंगतिसूचक नाटककार विसंगति की व्याख्या नहीं करते, उसे तर्कों द्वारा प्रस्तुत नहीं करना चाहते, वे तो मूर्त बिंबों के द्वारा उसे रंगमंच पर प्रस्तुत भर कर देते हैं।[1] ये नाटक फ्रांस में प्रचलित और 'माइकेल द थेल्डेरेडो', 'जेक्स आदिबर्टी', 'जार्जेज नेवेउक्स' आदि के द्वारा लिखे गये "पोयटिक एवान्ट-गार्डे" से भी भिन्न होते हैं। इनमें भेदक रेखा खींच पाना कुछ कठिन है, क्योंकि दोनों में कुछ साम्य भी होता है। 'पोयटिक एवान्ट-गार्डे' भी उसी रूप में स्वप्न और फान्तसी का मुखापेक्षी होता है जिस रूप में विसंगतिसूचक नाटक। बुनियादी अन्विति के सिद्धान्त, हर चरित्र में समन्वय की बातें तथा कथानक की आवश्यकता की दृष्टि से भी दोनों अविरोधी होते हैं। पर, 'पोयटिक-एवान्ट-गार्डे' का 'मूड' कुछ भिन्न होता है। यह दूसरे की तुलना में अधिक 'लिरिकल' और कम उद्दाम तथा बेमेल होता है।[2] भाषा की दृष्टि से भी इनम भिन्नता पाई जाती है। 'पोयटिक एवान्ट-गार्डे' प्रमुख रूप से सचेतन काव्यमय भाषा का उपयोग करता है और ध्वनि-अनुषंगों पर आधारित बिंबों को रंगमंच पर प्रस्तुत करना चाहता है।

विसंगतिसूचक नाटक, जो चीज हमें चोट पहुँचाती हैं, उस पर हँसना सिखाता है और जो चीज हमारी प्रकृति में मूर्खतापूर्ण है, उस पर रोना सिखाता है। इनके लिये दुनियाँ के बन्धन अपना बुनियादी अस्तित्व खो चुके होते हैं, अतएव ये परंपरा का विरोध करते हैं, और मान्य तंत्रों की अवहेलना। ये प्रकारान्तर से उस भयभीत धार्मिक चेतना के प्रतीक हैं जो आज के युग की प्रमुख विशेषता है। इनकी धारणा है कि आज का मनुष्य निष्क्रिय, जड़, निरर्थक और सारहीन परंपरा के ऐसे बन्धन से बंध चुका है जो सब कुछ को मशीनी साँचे में ढालती रहती है। इस खेवे का नाटककार इस जड़ता की परतों को उधेड़ने का भगीरथ प्रयत्न करता है और इसके द्वारा व्यक्ति के उस आत्मबोध को चित्रित करना चाहता है जो परिस्थितिजन्य

---

1. The theatre of absurd has renounced arguing about the absurdity of human condition, it merely presents it in being—that is in terms of concrete stage images.

2. This is even a more difficult to draw dividing line, for two approaches overlap a good deal. The 'poetic-avant-garde' relies on phantasy and dream reality, as much as the theatre of absurd does; it also disregards such traditional axioms, as that of basic unity and consistency of each character or the need for a plot. Yet basically the poetic avant garde' represents a different mood. It is more lyrical and far less violent and grotesque. Even more important is its different attitudes toward language. The 'poetic-avant-garde' relies to a far greater extent on consciously poetic-speech; it aspires to play that are in effect poems, images, composed of a rich web of verbal associations.

परवशता के कारण उस पर लदा हुआ है। इस रूप में वह दुहरे उद्देश्य का परिचायक सिद्ध होता है। अपने पहले स्वरूप में यह अचेतन तथा परम यथार्थ से अनभिज्ञ रूप में बिताये गये जीवन पर व्यंग्यात्मक ढंग से कशाघात करता है। यहाँ उसका दृष्टिकोण आलोचनात्मक, असत्य-विरोधी और समाज की संकीर्णता का उपहास करने वाला होता है। यह व्यंग्यात्मक प्रहार कुछ नकारात्मक होता है। इसीलिये दूसरे स्वरूप में विसंगतिसूचक नाटक परंपरा की अभेद्य कड़ी की परतों के नीचे दबे उस बुनियादी असंगति का उद्घाटन करता है जो आस्थाहीनता और विश्वासहीनता के कारण जड़ीभूत है। इस नाटक का प्रमुख उद्देश्य मनुष्य के समक्ष सहज जीवन-सत्य को प्रस्तुत करना है, अतएव इसमें विषय की प्रधानता पाई जाती है। ये विषय पर्याप्त उलझे होते हैं, और इन्हें सहज बोधगम्य स्वरूप में प्रस्तुत कर सकना कठिन होता है। फिर भी नाटककार इसे प्रस्तुत करता है। प्रायः यह देखा जाता है कि किसी वस्तु को देखने की स्थिति में हमारे मन में भावबोध या संवेदन की एक जटिल स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसे तुरन्त उसी रूप में अभिव्यक्त करने के लिये लेखक उसे टुकड़ों में बाँट कर शब्द और अर्थ देता है। इस प्रकार के नाटकों में यही बात पाई जाती है। इनकी संघटना में लेखक के बौद्धिक पक्ष का विशेष सहयोग होता है। नाटकों में इन्द्रिय-अनुभूति उभड़ कर आती है, और उनका मूल स्वर यथार्थवादी होता है। ये नाटककार अपने दर्शकों या पाठकों से इस बात की अपेक्षा रखते हैं कि वे उन्हें सही रूप में समझने की कोशिश करें।

विसंगतिसूचक नाटक प्रदर्शन की प्रवृत्ति को विशेष महत्त्व देते हैं। इसके लिये ऐसी संघटना प्रस्तुत की जाती है जो उनकी सर्जनात्मक भावभूमि को सरलता से स्पष्ट करती है। आज के कलाकार को शुद्ध कला या 'डीह्यूमेनाइज्ड' कला की खोज है। वे ऐसी कलाकृतियाँ देते हैं जो परंपरा-विद्रोही हैं और यह घोषित करती हैं, "यह जीवन नहीं है, यह मेरी कलाकृति है जो जीवन से संबंधित है, यह मेरे द्वारा निर्मित जीवन का चित्र है।" इस बोध को यथावत् अभिव्यक्त करने की कोशिश भी की जाती है। इसके लिये नाटककार कुछ युक्तियों को अपनाता है। सबसे पहले तो वह ऐसी भाषा का प्रयोग करता है जिससे रंगमंच पर मूर्त बिंबों की अवतारणा हो सके। इस उद्देश्य के लिये वह भाषा का अवमूल्यन करता है। पहले की भाषा भाव को आच्छादित करके हमारे सामने रखती थी, इन नाटककारों ने ऐसी भाषा का प्रयोग किया जो उसे निरावृत करके हमारे सामने रख सके। आज विज्ञान के क्षेत्र में सूत्रों का प्रयोग किया जाता है। इन लेखकों ने एक प्रकार से सूत्रबद्ध भाषा अथवा बहु-आयामीय काव्य-बिंब की भाषा का प्रयोग किया है। इन्होंने भाषा के तर्कप्रधान, सुव्यवस्थित अनुषंगों के स्थान पर इसे निरर्थकतासूचक शब्दों से गर्भित किया है। उनकी धारणा है कि आज यथार्थ के कुछ स्वरूप भाषा की परिधि के परे जा पहुँचे हैं। ऐसी स्थिति में सामान्य भाषा के प्रयोग के द्वारा उसे

स्पष्ट कर सकना कठिन है। इसीलिये मार्क्सवाद और मनोविज्ञान में हम भाषा को परंपरामुक्त रूप में काम में लाते हैं। हर विसंगतिसूचक नाटककार ने भाषा की ताजगी और अभिव्यक्ति-क्षमता का अन्वेषण किया है और उसे जीवन के बोध की अभिव्यक्ति का वाहन बनाना चाहा है। नाटक के समूचे कार्य-व्यापार को प्रतीक-रूप में चित्रित किया गया है और विरोधों के चित्रण के बावजूद दर्शक की अभिरुचि को यथासंभव बनाये रखने की कोशिश की गई है। इन नाटकों में प्रयोगों के कारण एक दुर्बोधता आ गई है, पर यह दुर्बोधता जीवन की दुर्बोधता है। वे यथार्थवादी चित्रण और अनुकरणवादी चित्रण के उस खतरे से भी सावधान हैं जो चरित्रों को कठपुतली बना देते हैं। नाटककारों ने भाषा के निरर्थक प्रयोगों पर बल दिया है। जब रूपकात्मक अथवा अभिव्यंजना-प्रधान प्रतीकों के साथ भाषा का यह स्वरूप जुड़ जाता है तो इससे दुर्बोधता उत्पन्न होती है जिसे समझना लोहे का चना चबाना ज्ञात होता है। इन नाटकों में गद्यशैली का विशिष्टीकरण देखने को मिलता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वह अपने विसंगति-बोध को पाठकों तक पहुँचाने के लिये मनोरंजक, कुतूहलपूर्ण, उत्तेजनापूर्ण और विरोधाभासी शैली का अन्वेषण करता है और हास्य-प्रधान कथनों के द्वारा शब्द और अर्थ के ऐसे स्वरूप को उद्घाटित करता है जो देखने में नया ज्ञात होता है।

विसंगतिसूचक नाटक बेगानेपन पर बल देता है। यह बेगानापन दर्शक और पाठक का बेगानापन भी होता है। नाटककार की दृष्टि तुलनात्मक होती है, वह इसी के माध्यम से विसंगति-बोध को उभाड़ता और उसे चित्रित करता है। इन नाटकों में बेतुके दृश्यों की बहुलता होती है, अतएव कथानक का कोई रूप उभड़कर हमारे सामने नहीं आ पाता है। इसके कथानक में किसी पूर्ववर्ती मान्यता का दर्शन नहीं होता है। इसमें न तो आदि, मध्य और अन्त देखने को मिलता है और न संयोजन और विकास का कोई स्वरूप। इनका ढाँचा हर माने में असंगत और बेढंगा होता है। ये नाटक जहाँ से शुरू होते हैं, वहीं घूम-फिर कर समाप्त हो जाते हैं। इनका प्रसार वृत्ताकार होता है जो 'दुनियाँ गोली है' की कहावत को चरितार्थ करता है। इसमें चरित्रों का भी निश्चित विकास नहीं दीख पड़ता। एलिजाबेथ-कालीन नाटक चरित्र और कथानक की विशेषता के कारण कई स्तरों पर संभव आनंद प्रदान करने में सक्षम थे। 'टी० एस० इलियट' ने इसी बात को ध्यान में रखकर कहा भी था कि अच्छे नाटक में साधारण श्रोताओं के लिये कथानक, विचार-प्रधान लोगों के लिये चरित्र तथा चरित्र का संघर्ष और संगीत की दृष्टि से संवेदनशील व्यक्ति के लिये रवानी, साहित्यिक व्यक्ति के लिये शब्द और मुहावरे तथा अधिक सुबुद्ध और संवेदनशील व्यक्ति के लिये विभिन्न स्तरों पर क्रमशः स्पष्ट होने वाली अर्थ की बोधक

क्षमता पाई जाती है।[1] पर विसंगतिसूचक नाटक की अपनी अलग विशेषता होती है जिसे हम ऊलजलूल ढंग से विसंगति का बोध कह सकते हैं। इसमें कोई सुविचारित निष्कर्ष नहीं होता, इसका प्रत्येक भाग किसी विचार-खण्ड का परिचायक और अपने में पूर्ण होता है। संपूर्ण नाटक इन्हीं विचार-खण्डों का प्रतीक निर्वचन मात्र माना जा सकता है। इन नाटकों में 'डेप्थ मीनिंग' की बात पाई जाती है। अतएव हर खण्ड अपने स्वतंत्र अस्तित्व के बावजूद अर्थ अथवा विसंगति-बोध के गहन धरातल पर व्यंजनाओं के माध्यम से आपस में जुड़ा होता है। कुछ लोगों की दृष्टि में लेखक केवल विसंगति का चित्रण भर कर देता है और उसको समझने का उत्तरदायित्व पाठकों पर छोड़ दिया जाता है। वस्तुतः हर पाठक से इस प्रकार के प्रतीक-कथन को समझने की अपेक्षा नहीं रहती, पर कुछ थोड़े से सुबुद्ध पाठक अगर उसको समझ लेते हैं तो वे उसका उल्टा-सीधा क्रम भी बैठाने में समर्थ हो जाते हैं। इस नाटक के लेखक भाव-व्यंजनाश्रित रूपक (gestural metaphor) अथवा कार्य-व्यापाराश्रित रूपक (action metaphor)[2] का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार के रूपक में केवल शब्द नहीं, अपितु कार्य, परिस्थिति और चरित्रों का समावेश रहता है। पर इस धरातल पर कोई कुशल कलाकार ही उसे पकड़ सकता है और कोई अतिबुद्धिमान् व्यक्ति उसे समझ सकता है।

सारांश यह कि इधर के नाट्य-सिद्धान्तों में विसंगतिसूचक नाटक अपनी कुछ त्रुटियों के बावजूद अधिक महत्त्वपूर्ण है। अब यह बीते दिन का राग बन गया है, पर साहित्य को विषय और शैली दोनों दृष्टियों से इसकी एक देन है जो आने वाले लोग सही रूप में समझ सकेंगे।

विशेष

नाटक शब्दों के माध्यम से घटना, तथ्य, कार्य-व्यापार, विचार, भाव-संवेग या जीवन की विसंगति को प्रस्तुत करने का प्रमुख साधन है। इसमें स्पष्ट, सहज

---

1. T. S. Eliot is more explicit about such levels of significance when he explains that in mature play for the simplest auditors there is the plot, for more thoughtful the character and conflict of characters, for the more literary words and phrasing, for more musically sensitive the rhythm, and for auditors of greater sensitiveness and understanding a meaning which reveals itself gradually.

2. But if one is sufficiently mature in one's theatre experience it is possible to apply his comments with even more vigour to the understanding of what I call, 'gestural metaphor, or action metaphor'—a metaphor constructed not only out of words but deeds, situations and characters as well. Our ability to understand drama on this level is lamentably limited to experts.

और सशक्त कथोपकथन का प्रयोग किया जाता है। इन सारे विधानों से विषय-वस्तु तो प्रकट होती है, पर विषय-विन्यास सीमित हो जाता है। इस प्रकार नाटक विषय-वस्तु के निरूपण और विषय-विन्यास के सीमांकन की क्रिया का प्रतिफलन है। हर युग के नाटककारों ने इस सीमा को अपनी दृष्टि से तोड़ने की कोशिश की है और इसके लिये उपयुक्त तकनीकों का प्रयोग भी किया है, पर वे सभी अन्ततोगत्वा लौटकर पुनः उसी क्षेत्र में आ गये हैं। उनकी स्थिति उस पक्षी की तरह है जो उड़ते समय आसमान की अतल गहराइयों को नाप लेने के लिये ललकता है, पर पुनः लौटकर अपने घोंसले में चला आता है। खैर, मैं अभी कह रहा था कि नाटक में विषय-वस्तु और उसके निरूपक माध्यम में द्वन्द्व की स्थिति रहती है। इस द्वन्द्व के फलस्वरूप इसके कई रूप हमारे सामने आये हैं। एक स्वरूप वह है जिसमें विचार या भावना को चरित्र के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। पर इस प्रकार के नाटक को असावधानी से कृत्रिम, अतिरंजित और अर्थहीन बन जाने का भय होता है। दूसरा रूप वह है जब कार्य-व्यापार गतिशील और प्रवाहयुक्त होता है, पर चरित्रों में वह गहराई या निश्चितता नहीं पाई जाती जो उनके लिये आवश्यक है। तीसरा पहलू वह है जब नाटक के वार्तालाप में जीवन-जैसी सहजता और स्वाभाविकता तो होती है और उसमें वार्तालाप का बौद्धिक संस्पर्श पाया जाता है, पर इस रूप में भी नाटक के शिथिल हो जाने की संभावना होती है। कभी-कभी नाटककार जटिल और गहन अनुभूतियों को प्रेषित करने के लिये तकनीकी मान्यताओं से उलझ जाता है और कोरस तथा स्वगत कथन आदि की ओर झुकता है। यूनानी नाटकों में इनका महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया जाता था, बीच में ये कुछ समय के लिये अदृश्य हो गये थे, पर अब वे पुनः जीवित हो उठे हैं। यूनानी नाटकों के समूह-गान का निश्चित उद्देश्य होता था, इसके द्वारा घटना और प्रभाव के महत्त्वपूर्ण पक्ष पर प्रकाश डाला जाता था। बिंब का प्रयोग भी नाटक में समूह-गान के ही उद्देश्य से किया जाता था। इसके द्वारा नाटक की व्यापक सेटिंग का ज्ञान होता था। ये चरित्र और घटना के महत्त्वपूर्ण पक्ष को उद्घाटित करते थे। अभिव्यक्ति की सुकरता के लिये अलंकृत भाषा, प्रतीकात्मकता, परिवेश और वर्णनात्मकता का प्रयोग किया जाता है, पर समूह-गान और बिंब भावाभिव्यक्ति के अधिक सशक्त साधन सिद्ध हुए हैं। इनके माध्यम से लेखक अपनी बात को अधिक तटस्थता से सूचित कर सका है। इनमें विचार और संवेग का भी अद्भुत मिलन देखने को मिला है। आधुनिक नाटकों में कोरस का प्रयोग नये रूप में किया गया है। इनमें समूह-गान के स्थान पर समूह वार्तालाप की योजना देखने को मिली है और इसका संबंध कथानक और परिस्थिति योजना से स्थापित किया गया है। ये समूह-वार्तालाप हमारी सूचना को समृद्ध बनाते हैं और चरित्रों को प्रकाशित करते हैं। कहीं-कहीं ये समूह-वार्तालाप ऐसे जटिल मानसिक पक्ष को भी उद्घाटित करते हैं जो रहस्यमय,

जटिल और आवश्यक होते हैं। इन नाटकों में समूह-गान और समूह-वार्तालाप के स्थान पर एक व्यक्ति के कथन का प्रयोग भी किया गया है। प्राचीन नाटकों में यह प्रवृत्ति स्वगत कथन के रूप में पाई जाती थी। इसके माध्यम से पात्र अपने वैय-क्तिक विचारों और संवेगों को अभिव्यक्त करते थे। यह अभिव्यक्ति पात्रों की अनुभूति की अभिव्यक्ति होती थी। यह मानस की आन्तरिक सोचने की क्रिया को स्पष्ट करती थी और इसमें वक्ता के अनन्त भावकोण अप्रत्याशित रूप से बिखरते और कौंधते रहते थे। स्वगत कथन में प्रयुक्त भाषा का स्वर भी सामान्य नाटक की भाषा से ऊँचा होता था। जब इसका प्रयोग सुखान्त नाटक में किया जाता था तो उस नाटक में त्रासदी की कुछ विशेषतायें पाई जाती थीं।

एकाध बातें और कहकर इस प्रसंग को यहीं समाप्त करूँगा। आज विज्ञान में असामान्य प्रगति हो रही है और कला में सामान्य। विज्ञान की प्रगति कल्पनातीत और बुद्ध्यातीत धरातल पर प्रतिष्ठित हो चुकी है। पहले कहा जाता था—जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचै कवि ' पर आज ठीक इसके विपरीत सिद्ध हो गया है कि जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचै वैज्ञानिक। आज के विज्ञान में देश-काल की सीमा मिट गई है, मनुष्य चन्द्रमा तक पहुँच चुका है और शुक्र से सन्देश प्राप्त कर रहा है, फिर भी 'हाब्स' की यह कहावत कि ' मैन इज़ नैस्टी, ब्रुटिश एण्ड शॉर्ट, मैन इज़ एनेमी टु मैन'' ज्यों की त्यों बनी हुई है। मनुष्य में सुधार का कोई लक्षण नहीं दिखाई दे रहा है। कहाँ विश्व के एक राष्ट्र की सुखद कल्पना, कहाँ वियतनाम और अरब राष्ट्रों पर भयंकर गोलाबारी, अखण्ड नरसंहार; कहाँ समाज की कल्पना, कहाँ व्यक्तिवाद का नग्न ताण्डव, कहाँ मनुष्य का जीता-जागता चेहरा, कहाँ उसके स्थान पर काम करने वाला कम्पूटर और मशीन। यह वचन और कर्म का भयावह विच्छेद और उसके परिणामस्वरूप युग-चेतना में भयंकर उमस, निराशा, दिशाहीनता और उत्तरदायित्व से पलायन की भावना। क्या इन विरोधी बातों का आपस में कोई संबध हो सकता है ? अगर नहीं, तो फिर इस स्थिति में साहित्यकार का क्या दायित्व है ? नाटक भी साहित्य-रूप है, अतएव उसे भी युग के इस 'चैलेंज' का सामना करना पड़ रहा है। उसे इस क्षेत्र में कुछ और मुसीबतों की बात सोचनी पड़ती है। आज टेलीविज़न, रेडियो और सिनेमा सभी प्रकारान्तर से नाटक के प्रति-द्वन्द्वी बन गये हैं। फिर नाटक के जीने और उसके बने रहने का रहस्य क्या हो सकता है ? ये ऐसे प्रश्न हैं जिन पर विचार किये बिना संभवतः यह विवेचन अपूर्ण रह जायगा।

पहले के साहित्य में जीवन को उदात्त (life-enhancing) बनाने की बात पाई जाती थी, पर आज के साहित्य में उसे अवदात्त (life-diminishing) बनाने की बात पाई जा रही है। दूसरे खेवे के लोग इसी के आग्रह में फँस गये हैं और मृग-

मरीचिका की तरह उसके सम्मोहन से मुक्त नहीं होना चाहते। इसके परिणाम-स्वरूप बहुत कुछ कृत्रिम, असामाजिक, अमानवीय और अवैधानिक है जो उभड़कर हमारे सामने आ रहा है, बहुत कुछ सस्ता है जो हमारी चेतना का विषय बन रहा है, बहुत कुछ वैयक्तिक है जो सामाजिकता को कुचल रहा है। फिर सोचने की बात है कि नाटक के लिये आज का नाटककार सबसे बड़ा ख़तरा है, या टेलीविज़न सेट और कम्पूटर। टेलीविज़न सेट 'क्रैफ्ट' है, पर नाटक 'आर्ट'। अगर क्रैफ्ट आर्ट का स्थान नहीं ले सकता तो फिर टेलीविज़न सेट की बात उठाना तो पूरे प्रश्न को समझदारी के साथ उलझाना है। मेरी दृष्टि में आज नाटक के लिये जो भी ख़तरा है, वह इसलिये नहीं कि उसके प्रतिद्वन्द्वी मैदान में हैं, बल्कि वह इसलिये है कि नाटककार तरह-तरह की नारेबाजी में फँस गये हैं और वे नाटकीय अनुभूति को सही रूप में पकड़ने और उसे निरूपित करने में असमर्थ हैं। आप भली प्रकार जानते हैं कि टेलीविज़न सब कुछ दे सकता है, वह नाटकीय अनुभूति नहीं दे सकता, क्योंकि यह नाटक की अपनी वसीयत है जो उसे रंगमंच पर अभिनय करते लोगों, परिवेश, साज-सज्जा और रूप-रंग से मिलती है। अनुभूति के सन्दर्भ में भी नाटककार को एक बात के लिये सावधानी बरतनी पड़ेगी। उसकी अनुभूति व्यक्ति की अनुभूति होने पर भी लोक-हृदय की अनुभूति बन सकने में सक्षम होगी। वह आम लोगों के दिल को छू सकेगी, उन्हें प्रभावित करके उनका मनोरंजन कर सकेगी।

नाटक के दर्शक भी अभिनेताओं के साथ सामूहिक कार्य-व्यापार के सहयोगी होते हैं और आरंभ से लेकर अन्त तक वे उस अनुभूति के आवर्त से गुज़रते हैं जिसे नाटककार उनके लिये नियोजित करता है। अन्त में, उन्हें सघन और विश्रान्तिपूर्ण परि-स्थिति का आभास होता है। वे महसूस करते हैं कि वे ऐसे महान् अनुभव के चक्र से गुजरे हैं जो उदात्त भावना और व्यापक जीवन के चित्रफलक से मण्डित है और मानव की शानदार शक्ति का परिचायक है। इस प्रकार की कृति न तो कोई वक्तव्य होती है, न अन्तर्दृष्टि और न कोई विशेष प्रकार की सूचना; वह तो केवल क्षण भर के लिये कौंध जाने वाली जीवन्त-शक्तिमय अनुभूति होती है। उससे हमें अन्तर्दृष्टि मिल सकती है, पर अन्य कल्पना-प्रधान साहित्य की तरह शक्ति भी मिलती है। इस अनुभूति को हमारे सशक्त भाव-संवेग, बोध की सभी तरह की क्षमता के उदात्ती-करण और जीवनदायिनी शक्ति के महान् पथ की अपेक्षा होती है और वह उसी को निमन्त्रित भी करती है।[1] इस अनुभूति का मूल स्रोत सृजक होता है, सृजक की

1. A condition at once exuberant and reposed, a sense of having passed through a great experience, one which testifies to the superb wealth and range of life, and to the splendid rather than disastrous powers of man......such a work is not statement, or insight, or special kind of information—not anything essentially, though it

मन:सृष्टि होती है जो उसकी नाट्य-कृति के द्वारा मूर्त रूप में उपस्थित होती है। पुनः अभिनेता अपने अभिनय द्वारा इसकी व्याख्या करते हैं। अभिनेताओं के अभिनय द्वारा चरित्र या कार्य-व्यापार दर्शक के मानस में पुनर्सृजित होते हैं और वह अपने आन्तरिक परिवेश के द्वारा इस वाह्य नाटक को अपने मानस पर उतारता और प्रभाव ग्रहण करता जाता है। इस प्रकार इस अनुभूति की व्याख्या कई धरातलों पर होती है; पर चूंकि वह लोक-हृदय की अनुभूति है, अतएव नाटक से लेकर दर्शक तक पहुँचने में वह बदलती अवश्य है, पर कुछ इस रूप में नहीं बदल जाती कि उसे पहचाना ही न जा सके। यथार्थ में लेखन की स्थिति में जिस विधायक कल्पना और फान्तसी का सहयोग होता है, आस्वादन की स्थिति में भी उसी की सहायता ली जाती है। कल्पना को हम चेतन अनुभूति और फान्तसी को अचेतन अनुभूति की संज्ञा दे सकते हैं। दोनों ही संश्लेषणात्मक होती हैं। फान्तसी हमारे मानस के प्रच्छन्न स्वरूपों से किसी क्रियाकलाप या व्यापार को संबद्ध करती है। लेखन के धरातल पर यह लोक-हृदय की परख की क्षमता प्रदान करके कृति को पूरा करती है, पर आस्वाद के धरातल पर इसी लोक-हृदय का व्यक्ति-हृदय से तादात्म्य स्थापित करती है। इससे हर स्थिति में ऐसी नाट्यानुभूति की बात सामने आती है जो लोकाश्रित होती है। अगर नाटक को जीना है और एक कलात्मक जीवन जीना है तो फिर इस लोक-हृदय को नाट्यानुभूति का विषय बनाना पड़ेगा। इत्यलम्।

---

may be all of them incidentally—but is momentous and energising experience......before it is a source of insight, great imaginative literature is a source of power, inviting and demanding an intense and varied emotion, a general heightening of all powers of apprehension, and a great excess of life-giving energy. John Halloway—*The Story of the Night.*

४ | एकांकी

एकांकी आधुनिक युग की देन है। इसे प्रिय साहित्य-रूपों में जन्म से ही सबसे छोटा होने का अधिकार मिला है। प्राय: यह देखने में आता है कि माता-पिता या तो बड़े लड़के को प्यार करते हैं, या छोटे लड़के को। बीच के लोगों की स्थिति तो घेलुवा-जैसी होती है। यह बात यहाँ भी पाई जाती है। एकांकी साहित्य दो कारणों से विशेष प्रिय है। पहला कारण तो यह है कि आज के भौतिकवादी युग में व्यक्ति अपने वैयक्तिक स्वार्थों में इतना उलझ गया है कि उसे मनोरंजन के लिये समय नहीं मिल पाता। वह एकांकी को पढ़कर थोड़े समय में अपना मनोरंजन कर लिया करता है। दूसरा कारण यह है कि यह बीस मिनट से लेकर आधे घण्टे के दौरान पढ़ा जाने वाला एकांकी कम से कम उपादानों की सहायता और सर्वाधिक नाटकीय प्रभाव के साथ लिखा या दिग्दर्शित किया जा सकता है।

एकांकी के बीज, अथवा उसकी कुछ विशेषतायें, मिस्ट्री, मिरेकल और 'मोरेलिटी' नाटकों में पाई जाती थीं। १८वीं शताब्दी में 'आफ्टर पीसेज़' (After Pieces) और कर्टेन राइजर्स (Curtain Risers) भी काफी लोकप्रिय थे। पहले प्रकार के प्रहसन का प्रयोग उस समय किया जाता था, जब नाटक समय से पहले समाप्त हो जाता था, पर दूसरे प्रकार का प्रयोग उस समय किया जाता था, जब पूरी दर्शक-मण्डली प्रेक्षागृह में नहीं पहुँच सकी होती थी और उसके लिये इन्तजार करना आवश्यक होता था। दोनों का प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन या मन-बहलाव था। १९वीं शताब्दी में नाटक में 'अमेच्योर मूभमेण्ट' हुआ और उसी के साथ 'अपर्टरी थिएटर' की स्थापना की गयी। यह घटना एकांकी के विकास की दृष्टि से ऐतिहासिक घटना सिद्ध हुई। बीसवीं शताब्दी के कुछ पहले से ही साहित्य के क्षेत्र में यथार्थवादी विचार-धारा विकसित होने लगी थी। नाटक के क्षेत्र में इसके उन्नायकों में 'इब्सन' विशेष रूप से ख्याति भी प्राप्त कर चुके थे। इन्होंने उसी समय सफल एकांकी की रचना करके उस परंपरा को समृद्ध बनाया था। इनके आदर्शों से संपूर्ण यूरोप प्रभावित हुआ। इसके परिणामस्वरूप एकांकी के क्षेत्र में कुछ नये प्रयोग भी हुए और विषय

की दृष्टि से सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और धार्मिक समस्याओं को महत्त्व दिया जाने लगा । १९०४ में 'ऐबे थिएटर' की स्थापना के साथ इसकी रचना को पुनः एक नया मोड़ मिला । एकांकी से मिलते-जुलते कुछ रूपकों और उपरूपकों का दर्शन संस्कृत साहित्य में भी होता है, पर आधुनिक एकांकी इन्हीं पाश्चात्य आदर्शों से विशेष प्रभावित है । आज यह ऐसा विकसित साहित्य-रूप है जिसमें कामदी, त्रासदी, मोरैलिटी आदि को कौशल के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है ।

एकांकी को कई तरह से परिभाषित किया गया है । 'क्लेटन हैमिल्टन' का कहना है, "एकांकी और नाटक में तकनीकी दृष्टि से उनके मंचित करने के काल में ही भेद नहीं है, अपितु उनके उद्देश्य और 'मूड' में भी भेद है ।"[1] एकांकी नाटक जीवन का एक व्यवस्थित निरूपण है जो दर्शकों को भावित करता है । उच्च कोटि की अन्विति और संक्षिप्तता इसकी प्रमुख विशेषता है । इसके मंचन के लिये थोड़े समय की ज़रूरत[2] पड़ती है । हेनरी हड्सन की धारणा है, "एकांकी को अपनी बनावट-बुनावट से हमें स्पष्ट रूप में प्रभावित करना चाहिए । इसमें उचित समानुपात और उद्देश्य के अनुकूल लंबाई होनी चाहिए । इसकी संघटना स्वतः में पूर्ण होनी चाहिए और इसमें पात्रों और घटनाओं का अनावश्यक जमघट नहीं पाया जाना चाहिए ।"[3] 'डिक्शनरी ऑव वर्ल्ड लिटरेचर' में लिखा गया है, "सामान्य एकांकी का नाटक से वही संबंध है जो कहानी का उपन्यास से होता है । इसमें भाव-संवेग, कार्य-व्यापार या पृष्ठभूमि आदि में से किसी एक के किसी एक पक्ष पर प्रकाश डाला जाता है । यह नमनीय होता है ।"[4] 'मैरिअट' का कहना है, "एकांकी नाटक को हम बीस मिनट से आधे घण्टे में पढ़ सकते हैं । यह इस बात को चित्रित करता है कि किसी विषय-वस्तु को किस तरह कम से कम नाटकीय उपादान और अधिक से अधिक नाटकीय प्रभाव के साथ निरूपित-विकसित किया जा सकता है और उसे

---

1. The one act play is distinguished technically from the full length play not only by the time required for presentation, but by its purpose and mood.

2. One act play is an orderly representation of life arousing emotion in an audience. It is characterised by super unity and economy and is playable in comparatively short space of time.

3. It should impress us absolutely clear in outline, well proportioned, full length for purpose, yet without the slightest suggestion of crowding and with its own frame work complete.

4. Usual one act piece is to play as the short story is to novel, it can stress but one aspect, character, action, background, emotion of the many in full and rounded work. But this gives a great flexibility and variety.

चरमोत्कर्ष तक पहुँचाया जा सकता है।"[1] इन परिभाषाओं पर ध्यान देने से उसकी निम्नांकित विशेषतायें हमारे सामने आती हैं —

१. एकांकी और नाटक में तकनीकी भेद है। यह भेद उनके मंचन के काल और उनके 'मूड' से जुड़ा हुआ है।

२. इसमें उच्चकोटि की अन्विति और संक्षिप्तता पाई जाती है और यह पाठकों को प्रभावित करता है।

३. इसमें समानुपात और संघटन पाया जाता है।

४. इसमें भाव-संवेग, कार्य-व्यापार और पृष्ठभूमि आदि के किसी एक पक्ष पर प्रकाश डाला जाता है।

५. इसमें कम से कम नाटकीय उपादानों से अधिक से अधिक प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है।

सारांश यह कि एकांकी वह नाट्य-रूप है जिसमें कम से कम नाट्य-उपादानों के उपयोग के द्वारा किसी घटना, कार्य-व्यापार, चरित्र, परिवेशगत विशेषता और भाव के किसी एक पक्ष को इस अन्वित ढंग से संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है कि वह अधिक से अधिक प्रभाव उत्पन्न कर सके।

एकांकी एक अंक का होता है, पर दृश्य-विधान की दृष्टि से इसके दो रूप मिलते हैं, (१) एक दृश्य से संबंधित और (२) दो या दो से अधिक दृश्यों से संबंधित। इसकी कथावस्तु केवल एक उपाख्यान या घटना के पक्ष-विशेष से संबंधित होती है। इसमें केवल आधिकारिक कथा का विधान पाया जाता है और जटिलता का पूरा अभाव दिखाई देता है। आधिकारिक कथा लघु घटनाओं के माध्यम से विकसित होती है। एकांकी में कम से कम पात्र और परिस्थिति-योजना का सहारा लिया जाता है। सभी घटना और पात्र आधिकारिक घटना के सहायक होते हैं। अन्त में इसका उद्देश्य स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित होता है।

एकांकीकार प्रमुख रूप से अपनी आन्तरिक प्रेरणा अथवा अन्तःस्पन्दन की प्रतिध्वनि से निर्देशित होता है। इसका विषय मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, सामाजिक, आर्थिक अथवा सांस्कृतिक किसी भी तरह का हो सकता है, वह जीवन के व्यापक चित्रफलक से किसी भी घटना, कार्य-व्यापार अथवा अनुभूति को ग्रहण कर सकता है, पर उसके निर्वाह में उसे सदैव सतर्कता बरतनी पड़ती है। अन्य साहित्य-रूपों की तरह एकांकीकार भी अपनी अनुभूति की निश्छलता का ऋणी

---

1. The one act play which can be read aloud in twenty minutes to half an hour shows how single theme can be presented developed and brought to climax with the minimum of material and maximum of dramatic effect.

होता है, पर उसकी अनुभूति कुछ अंशों में विशिष्ट प्रकार की अनुभूति होती है। इसमें तीव्रता और गहराई पाई जाती है। कथानक में जटिलता अथवा पेचीदगी का अभाव होता है। रचनाकार या लेखक की दृष्टि किसी घटना अथवा व्यापार के महत्त्वपूर्ण पक्ष की ओर लगी रहती है। अतएव यह इसके किसी विन्दु से आरंभ होकर अन्य सहयोगी घटनाओं के माध्यम से जिज्ञासा और कुतूहल को बढ़ाता हुआ चरमोत्कर्ष की ओर बढ़ता है। इसकी तुलना उस पहाड़ी सोते से की जा सकती है जो उसकी चट्टान के सीने को फाड़कर अपने जल के साथ कल-कल की ध्वनि करता हुआ दिखाई पड़ता है और हमारे मन को मोहकर फिर अचानक अदृश्य हो जाता है। इसकी कथावस्तु को इस कलात्मक ढंग से नियोजित किया जाता है कि उसमें एकाग्रता, एकोन्मुखता और सोद्देश्यता का समावेश हो जाता है। इसमें आरंभ और प्रयत्न दो अवस्थाओं का दर्शन होता है और प्राप्त्याशा के पूर्व ही कार्य समाप्त हो जाता है। मुख और प्रतिमुख संधियों के बीच कार्य का बीज-वपन होता है और वह जल पर पड़े तेल-बिन्दु की तरह शीघ्र ही प्रसरित होकर, अप्रत्याशित अवरोधों का सामना करते हुए, हमारे कुतूहल और जिज्ञासा को बढ़ाता हुआ लक्ष्य की ओर उन्मुख होता है। उपन्यास या नाटक की तुलना हम 'हैम्मर थ्रो' से कर सकते हैं। जिस तरह हैम्मर वजनी होता है और जहाँ गिरता है वहाँ भी एक बड़ा निशान बना देता है, उसी तरह उपन्यास या नाटक व्यापक चित्रफलक अपना कर चलते हैं और उनका प्रभाव भी व्यापक होता है। इसकी तुलना में एकांकी 'जवेलिन थ्रो' है जिसे फेंकने वाला द्रुतगति से दौड़कर उसे फेंक देता है और वह जहाँ गिरती है, एक गहरा निशान बना देती है। एकांकी का लक्ष्य 'जवेलिन' की तरह नुकीला होता है। एक दृश्य वाले एकांकी का कार्य-व्यापार तो शीघ्र ही आकस्मिक रूप से चरम बिन्दु की ओर बढ़ता है, पर एकाधिक दृश्यों वाले एकांकी में वह कुछ विलंब के बाद चरम विकास की ओर बढ़ता है। इसमें वस्तु-स्थिति के नियंत्रण, तथ्य के उद्घाटन अथवा सत्य के प्रतिपादन का आग्रह पाया जाता है।

इसका संघर्ष भी नाटकों के संघर्ष से भिन्न होता है। वह विशेष रूप से बाह्य धरातल पर प्रतिष्ठित होता है, पर इसका मतलब यह नहीं होता कि उसमें आन्तरिक संघर्ष का कोई स्थान नहीं होता। यह संघर्ष प्रायः दो व्यक्तियों, दो आदर्शों अथवा व्यक्ति और समूह के बीच पाया जाता है। कभी-कभी मुख्य घटना के साथ ही कुछ गौण घटनायें भी सर्पशिशुवत् जुड़ी रहती हैं। ये गौण घटनायें भी अवरोध उत्पन्न करके संघर्ष की जननी बनती हैं। आजकल एकांकियों में मनोवैज्ञानिक और परिवेशगत सौन्दर्य का विशेष रूप से दर्शन होता है।

एकांकी में अन्विति-त्रय का विधान पाया जाता है, फिर भी आज यह अनिवार्य नियम नहीं रह गया है। पर चूंकि इसका कलेवर छोटा होता है और इसे अपने सीमित दायरे में अपने कथ्य को प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत करना होता है,

अतएव अन्विति का उपयोग कुछ हद तक आवश्यक ज्ञात होता है। 'पर्सिबल-वाइल्ड' की धारणा है, "अन्विति एकांकी के उद्देश्य और उसकी सीमा का प्रमुख प्रेरणा-स्रोत होती है। इसी को एकांकी का जनक और उसकी आत्मा माना जा सकता है।"[1] अन्विति के अतिरिक्त एकांकी में संगति का भाव भी पाया जाता है। यह संगति एकांकीकार की अभिरुचि, मनःसृष्टि और प्रेरणा के साथ ही उसकी अनुभूति की निश्छलता की मुखापेक्षी होती है।

एकांकी का पात्र-विधान भी महत्त्वपूर्ण होता है। नाटक की तरह इसके पात्रों की संख्या अधिक नहीं होती। इसमें केवल इने-गिने पात्रों की योजना की जाती है और उनके द्वारा एकांकी के ऐसे स्वरूप को उद्घाटित किया जाता है जिससे कथानक के प्रवाह में गति और तीव्रता आती है। इसमें चरित्रों के गहन, अतिमनोवैज्ञानिक और जटिल स्वरूपों के अध्ययन के लिये विशेष अवकाश नहीं होता। सीधे-सादे और सरल चरित्रों की अवतारणा की जाती है। इसमें मुख्य और गौण पात्रों का दर्शन होता है। साहस, शूरवीरता और प्रेम के आख्यानों में नायक के साथ खलनायक की योजना भी देखने को मिलती है। या तो विदूषक की अलग से व्यवस्था होती है, अथवा कुछ पात्रों के वार्तालाप में हास्य का समावेश कर दिया जाता है। पात्रों का दायरा सीमित होता है और उनके जीवन्त तथा आकर्षक स्वरूपों को उभाड़ कर रखा जाता है। पात्रों का संबंध वातावरण और परिवेश से भी होता है। इन दोनों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए एकांकीकार विशेष रूप से तत्पर रहता है।

संवाद एकांकी का प्राण होता है। इसी के माध्यम से कथानक को विकसित किया जाता है। एकांकीकार स्वगत-कथन और लम्बे भाषणों से बचता है। इसका उद्देश्य स्पष्ट होता है, उसमें स्वाभाविकता, संक्षिप्तता, व्यंजकता, वाग्वैदग्ध्य, रोचकता और प्रभावोत्पादकता पाई जाती है। सरलता और स्वाभाविकता उसकी प्रमुख विशेषता होती है। कथोपकथन के द्वारा लेखक नाटकीयता का सफल निर्वाह करता है और विश्वसनीयता बनाये रखता है। अतएव वह पात्रोपयुक्त और परिस्थिति के उपयुक्त होता है। उसमें ताजगी, सुरुचि-संपन्नता और विविधता पाई जाती है।[2] एकांकी में व्यापक रंगमंचीय निर्देशों का प्रयोग किया जाता है। ये निर्देश उसे स्पष्ट बनाते हैं और प्रकारान्तर से सूचना देने का काम संपादित करते हैं।

---

1. Unity is at once the mainspring of motive and limitation of one act play. Unity is the inspiration, unity is the soul.

2. Dialogue in one act play should be natural, appropriate and dramatic; which means that it should be in keeping with the personality of speakers; suitable to the situation in which it occurs; and easy, fresh, interesting and vivid.

"सीमा, व्यापक प्रसार और प्रभाव की दृष्टि से एकांकी अनेकांकी का वही संबंध होता है जो साधारणतया कहानी और उपन्यास का होता है। जहाँ अनेकांकी नाटक में जीवन की विविधता, पात्र-बहुलता, कथासूत्रों की सुविमर्शता, अंकों की अनेकता, चरित्र-चित्रण की विचित्रता, कुतूहल की अनिश्चितता, परिचय की अधिकता, चरम बिन्दु की व्यापकता तथा कथासूत्र की मन्दगामिता है, वहाँ एकांकी में जीवन की एकपक्षता, पात्र-परिमितता, कथा के प्रमुख सूत्र की ग्राह्यता, चरित्र-चित्रण की सघनता, कुतूहल की आद्यन्तता, व्यंजना की निर्देशिता, चरम बिन्दु की केन्द्रीयता और कथा की क्षिप्रगामिता होती है।"

एकांकी कहानी के अधिक निकट होता है। 'डॉ० रीड स्मिथ'[1] के शब्दों में कहा जा सकता है कि इन दोनों में घटना की शृङ्खला के स्थान पर किसी एक परिस्थति का चित्रण पाया जाता है। ये दोनों चरमोत्कर्ष के पास के किसी बिन्दु से शुरू होते हैं और इनमें दृश्य प्राय: अधिक नहीं बदलते। दोनों को आधे घण्टे में पढ़ा और देखा जा सकता है। दोनों के लेखक अपना ध्यान किसी महत्त्वपूर्ण क्षण या भावात्मक जटिलता पर केन्द्रित करते हैं। दोनों में चरित्र-विकास की गुंजाइश नहीं होती। अतएव वे उनमें विशेष परिवर्तन के स्थान पर उनकी आन्तरिक विशेषता को चित्रित करते हैं। पूर्वनियोजित प्रभाव के सन्दर्भ में दोनों साहित्य-रूप अपने तत्त्वों पर विशष ध्यान देते हैं। इस साम्य-वैषम्य को अधोलिखित रूप में समझा जा सकता है—

एकांकी	कहानी
१. प्रकृतिगत भेद	१. प्रकृतिगत भेद
२. लघुता	२. लघुता
३. लक्ष्य अभिनय-मनोरंजन	३. लक्ष्य मनोरंजन और पठन
४. संगति या अन्विति	४. होती है और नहीं भी होती है।
५. लेखक तटस्थ, व्यक्तित्व पात्रों के माध्यम से अदृश्य रूप में चित्रित किया जाता है।	५. इसका संबंध लेखक और उसकी संवेदना से होता है, अतएव एकांकी जैसी तटस्थता नहीं पाई जाती।

1. Each deals with single situation rather than with a chain of events, each begins not far before the climax, in each the scenes do not usually change, each can be read or witnessed in approximately half an hour, each focuses attention on one flashing moment or emotional crisis, each reveals characters rather than altering or developing it, each aims at everything it has, plot, character, dialogue and setting at one pre-conceived effect.

६. नाटक की विशेषतायें प्रमुख होती हैं। इसका प्रभाव सहृदय के चित्त को व्यापक बनाता है।	६. यह चित्त को झकझोर कर उसे निश्चित दिशा में उन्मुख करती है।

इसके अतिरिक्त ऊपर के उद्धरण को भी देखा जा सकता है। एकांकी को गीति-नाट्य के सन्दर्भ में भी परखा जा सकता है।

एकांकी	गीति-नाट्य
१. एकांकी अनुभूति के माध्यम से किसी कुतूहलवर्धक स्वरूप को आत्मा के समक्ष उद्घाटित कर के उसे व्यापक बनाता है।	१. यह आत्मा की किसी अनुभूति को अभिव्यक्त करता है।
२. भाव के साथ विचार-चित्रण और व्यंजना पाई जाती है।	२. भावाभिव्यंजन प्रमुख होता है।
३. पात्रों के कथोपकथन से लेखक का मन्तव्य झलकता है।	३. नाटककार की आत्मा की सहज अभिव्यक्ति होता है।
४. भाषा में संगीतात्मक ध्वनि होती है।	४. संगीतात्मक अर्थ होता है।
५. इसकी शैली में आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनय के साथ रंग-व्यवस्था का विधान होता है।	५. यह प्रमुख रूप से भाव-संकेत पर आश्रित होता है।

हिन्दी में उपन्यास, नाटक और एकांकी उतना विकसित नहीं है जितना कि कहानी और कविता है। आशा है, निकट भविष्य में इनका भी समुचित विकास होगा और ये प्रतिद्वन्द्विता में किसी भी रूप में पीछे न रहेंगे।

———

उपन्यास | ५

किसी भी साहित्य-विधा को परिभाषाबद्ध करना अथवा उसके स्वरूप के विषय में कुछ निश्चित रूप से कह सकना सरल नहीं होता। 'पॉल वैलरी' ने कहा भी है कि जो साहित्य-रूप मानव-जीवन से जुड़ा होता है और मनुष्य की जटिल से जटिल भावनाओं और अनुभूतियों को चित्रित करता है, वह परिस्थितियों के युगानुकूल साँचे में ढलता जाता है। अतएव उसे किसी परिभाषा से बाँधना कठिन होता है। 'जोसेफ टी० शिप्ले' की भी धारणा है कि उपन्यास साहित्य का परम लचीला रूप है। अतएव इसे निश्चित रूप से परिभाषित करना कठिन है। 'वाल्टर एलेन' का मत भी है कि "मैं उपन्यास को परिभाषित करने की कोशिश नहीं करूँगा। जिस प्रयत्न में अन्य लोग असफल हो चुके हैं, उसमें मेरा सफल होना असंभव है।" इसमें शक नहीं कि समाज के विकास के दौरान प्रायः नये जीवन-मूल्यों का आविर्भाव होता रहता है। अतएव इस विकसित स्वरूप को समेटने वाले साहित्य-रूप भी बदलते रहते हैं। परिभाषा स्थायी तत्त्व की होती है, परिवर्तनशील तत्त्व की नहीं। इसका एक दूसरा कारण भी है। उपन्यास अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्द रूप है और इसका विकास परंपरा में नहीं, स्वच्छन्दता में हुआ है। इसका संबंध न तो प्रेक्षागृह से रहा है और न गेय अभिव्यक्ति से। इसका संबंध तो केवल लेखक और पाठक से रहा है। इस दृष्टि से यह अन्य साहित्य-रूपों की तुलना में अधिक परंपरायुक्त और लोकप्रिय माना गया है।

परिभाषा—उपन्यास ऐसी साहित्य-विधा है जो मनःसृष्टि से आरंभ होकर उसकी व्याख्या और संश्लेषण के साथ समाप्त होती है। इसमें आरंभ से लेकर अंत तक मनोभावों और विचारों का पुरजोर प्रवाह गतिशील रहता है। उपन्यासकार अपनी अनुभूति के निश्चित मोह-भंग को संप्रेषित करना चाहता है और जब वह इसमें सफल हो जाता है तो इससे एक प्रकार की प्रभावोत्पादक कृति मिल जाती है। इस दृष्टि से हम उपन्यास को कपोल-कल्पित आख्यान नहीं मान सकते। वह तो असल में मानव-जीवन का गद्य होता है और अपने पूरे विकास-क्रम में पूर्ण मानव के क्रिया-कलापों को चित्रित करने का प्रमुख साधन सिद्ध होता है।[1] उपन्यास की सभी

1. Novel is not merely fictional prose, it is the prose of man's life the first art to attempt to take the wholeman and give him expression.

परिभाषाओं में उसे प्रकारान्तर से मानव-जीवन के चित्र की संज्ञा दी गई। 'क्लारा-रीव' ने उपन्यास को ऐसे यथार्थ निरूपण की संज्ञा दी है जो हमारे जीवन के रहन-सहन, तौर-तरीकों, क्रिया-कलापों और हास-शोक के स्वरूपों को विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत करता है।[1] 'एलेन' ने समसामयिक उपन्यास को जीवन का ऐसा दर्पण कहा है जो उसके बाह्य स्वरूपों के साथ ही उसकी आन्तरिक चेतना और मनोभाव को चित्रित करता है।[2] इस बाह्य और आभ्यांतरिक के समन्वयपूर्ण निरूपण के कारण उपन्यास ऐसी कला सिद्ध होता है जो अयथार्थ होने पर भी यथार्थ का आभास देता है और हमारा मनोरंजन ही नहीं करता, अपितु जीवन को एक दृष्टि भी देता है। उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि उसकी कहानी मानव-जीवन की कहानी होती है। अतएव वह हमें अपरिचित-अजनवी नहीं लगती। उपन्यासकार असल में वैयक्तिक और प्रत्यक्ष जीवन के प्रभाव को ग्रहण करता है। उसमें जीवन के हर संस्पर्श को कौशल के साथ चित्रित करने की क्षमता पाई जाती है। वह विशृङ्खलित आंतरिक पक्ष को एक समन्वित कलात्मक पक्ष में परिणत कर देता है। यही उसकी महत्ता का प्रमुख रहस्य है। यह एक जीवंत साहित्य-रूप है और इसमें किसी भी 'आरगेनिज्म' की तरह विकास की स्पष्ट रेखा पाई जाती है। उसकी आंतरिक चेतना जिस अनुपात में उद्‌बुद्ध होती है, उसी अनुपात में एक भाग दूसरे भाग से संबद्ध होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यास जीवन को चित्रित करने वाला एक गद्य-आख्यान है जिसमें सावयव विकास और गति पाई जाती है। इसकी तुलना प्रायः अजस्र स्रोतस्विनी से की गई है। जिस प्रकार इसका जल एक-दूसरे से मिला हुआ, गतिशील, विकासोन्मुख तथा निश्चित आकार-प्रकार और आयाम का होता है, उसी प्रकार उपन्यास की संघटना भी निश्चित बनावट-बुनावट का प्रतिफलन होती है। उपन्यास हमारे समक्ष अपने घात-प्रतिघात से प्रभावित करने वाले जीवन-चित्रों को रखता है। अतएव इसे जीवन को चित्रित करने वाला, ऐसा गतिशील उपयुक्त और कलात्मक माध्यम माना जा सकता है जो यथार्थ आत्मचेतना और कलात्मक नियंत्रण के द्वारा जीवन के ऐसे स्वरूपों को व्यंजित करता है जिसे प्राप्त

---

1. The novel is the picture of real life, and manners of time in which it is written. The novel gives a familiar relation to such things, as pass everyday before our eyes...and the perfection of it is to present every scene in so easy and natural manner as to make them appear so probable as to deceive us into persuasion that all is real until we are affected by joy or distress of persons in the story as if they were our own.

2. Contemporary novels are the mirrors of age, but very special kinds of mirror, a mirror that reflects not merely the external features of age, but also the inner face.

करने में व्यक्तियों को शताब्दी लगी है। इसीलिये 'न्यू इंगलिश डिक्शनरी' में उपन्यास को 'वह बृहदाकार गद्य-आख्यान' माना गया है जिसके अन्तर्गत वास्तविक जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले कार्यों को कथानक के द्वारा चित्रित किया जाता है ! अधिकांश आलोचकों ने अपने को उपन्यास के इसी लोकधर्मी स्वरूप तक केन्द्रित रखा है। अतएव इसको समझने और सही रूप में निरूपित करने के लिये हमें कुछ अन्य पक्षों पर भी विचार करना होगा।

उपन्यास और रोमांस हर कला-आंदोलन की एक प्रमुख विशेषता होती है। वे मानव की सामाजिक चेतना से पैदा होते हैं और उसी को परिष्कृत भी करते हैं। इसके मूल में उनका दृष्टिकोण और जीवन-दर्शन क्रियाशील पाया जाता है। मध्य-कालीन सामाजिक व्यवस्था इसका अपवाद न थी। उस समय उच्च और निम्न वर्ग का भेद स्पष्ट था। उच्च वर्ग के लोगों की संख्या कम थी, पर राज्य, सामाजिक व्यवस्था और कला पर उनका एकाधिकार था। उन लोगों का दृष्टिकोण भी अपरि-वर्तनशील, परंपराबद्ध और शास्त्रीय था। गद्य के क्षेत्र में रोमांस का उद्भव इन्हीं की रुचि से हुआ। अतएव यह अयथार्थ और उच्चवर्गीय विशेषताओं से मंडित पाया गया। इसमें जीवन के सत्य के स्थान पर कल्पना की उड़ान पाई गयी और उसका दृष्टिकोण भी आवश्यकता से अधिक आदर्शवादी बन गया। साहित्य जब-जब शासक वर्ग की मनोवृत्ति और जीवन-मूल्यों से प्रभावित हुआ है, तब-तब वह सामान्य व्यक्ति के दिल की दास्तान नहीं बन पाया है। रोमांस उच्चवर्गीय शासकों के हाथों की कठपुतली सिद्ध हुआ। वह उनके समक्ष कल्पना और मनःसृष्टि का ऐसा आदर्श प्रस्तुत करने का साधन बना जो उनकी अतृप्त इच्छाओं को तृप्त करने में समर्थ सिद्ध हुआ। वह उनकी पलायनवादी वृत्ति का भी उचित शरण-स्थल बना। अतएव वह न हमारी चेतना को उद्‌बुद्ध कर सका और न कल्पना को गंभीर और व्यापक बना सका। इसके द्वारा हमारी अनुभूति समग्रता से चित्रित न की जा सकी। वह तो केवल खयाली, कपोल-कल्पित सृष्टि का माध्यम सिद्ध हुआ और उसमें शूरवीरता, साहस, आदर्श-प्रेम, त्याग और बलिदान का अतिरंजित चित्र देखने को मिला। कला और साहित्य में इस प्रकार की प्रवृत्ति बिल्कुल निकम्मी नहीं होती। ऐसा देखने में आया है कि जब-जब व्यक्ति ने वर्तमान से पलायन करके भूत की अनुभूति को कल्पना के द्वारा सँवारा है, तब-तब उससे भविष्य का एक आदर्श चित्र मिला है। मध्यकालीन रोमांस जीवन के समक्ष भविष्य का यही चित्र प्रस्तुत करता है और हमें सभ्यता के निश्चित स्वरूप से अवगत कराता है।

असल में यथार्थवाद सामंती व्यवस्था के ह्रास का परिणाम होता है। इसमें कल्पना के स्थान पर बौद्धिकता और आदर्श के स्थान पर जीवन का विश्वसनीय चित्र मिलता है। समाज में हमें दो तरह के समय देखने को मिलते हैं। जब एक में कविता की प्रधानता होती है तो दूसरे में गद्य की। हर साहित्य का आदि और

मध्य काल काव्य-प्रधान और आधुनिक काल गद्य-प्रधान है। इसे सरलता से समझा जा सकता है, क्योंकि इसके मूल में समाज की बदलती हुई आवश्यकता और उसकी चेतना के परिणाम उपस्थित रहते हैं। कविता बुनियादी तौर पर आरंभिक व्यक्ति के सामूहिक व्यक्तित्व और सामाजिक संवेग की परिचायिका होती है और गद्य उसकी वैयक्तिक चेतना के अंतर्मंथन का परिणाम। हर साहित्य में कविता की रचना पहले इसलिए नहीं होती कि उसे याद करना सरल है, अपितु इसलिए होती है कि वह व्यक्ति को उद्बुद्ध करती है। वह सामूहिक क्षमता पैदा करती है जिससे वह आंशिक रूप में प्रकृति को नियंत्रित कर सके। गद्य बुद्धि पर पलता है और उसके लिए परिष्कृत प्रयोग की अपेक्षा होती है। कविता भावात्मक होती है और गद्य यथार्थ। एक आत्मगत होती है दूसरी अपेक्षाकृत वस्तुगत। एक में व्यक्ति के संस्कारगत श्रद्धा और विश्वास की प्रधानता होती है और दूसरे में वैज्ञानिक तर्क-वितर्क और बुद्धि की। गद्य का अवतरण उस काल में होता है जब व्यक्ति परिवर्तनशील जीवन की कटुता का साक्षात् अनुभव करता है और वस्तुगत दृष्टिकोण से उस दृष्टिकोण को चित्रित करने के लिये अग्रसर होता है। गद्यकार उस अर्थ में परिस्थिति से तादात्म्य स्थापित नहीं करता जिस अर्थ में कवि करता है, वह तो तटस्थ दृष्टि से प्रभाव को विवेचित और विश्लेषित कर देता है। वह सर्वतंत्र-स्वतंत्र और क्रांतिदर्शी विचारक होता है। वह अपनी कृति द्वारा जनता का मन-बहलाव नहीं करता, अपितु संस्कृति के जटिल द्वंद्व का व्याख्याता, समाज का दिशा-निर्देशक और आवश्यकतानुसार विशिष्ट जीवन-दर्शन का स्रष्टा होता है। इस दृष्टि से गद्य विगत शताब्दियों की कठोर साहित्यिक साधना द्वारा उपलब्ध अभिव्यक्ति का वह माध्यम है जो अपने सचेतन स्वरूप में वैज्ञानिक, व्यंजक और युगीन चेतना का पत्रक होता है।

रोमांस गद्य के शैशव की प्रादुर्भूति है, अतएव इसमें संवेग की प्रधानता पाई जाती है; पर उपन्यास गद्य की विकसित अवस्था में यथार्थ का चित्रण करने वाला साहित्य-रूप है, अतएव इसमें विश्वसनीयता और संभाव्यता को ग्रहण करने की कोशिश की जाती है। उपन्यास की रचना उस सामाजिक व्यवस्था की परिचायिका है जब व्यक्ति वैज्ञानिक दृष्टि से उच्चवर्गीय आधिपत्य को चुनौती देकर साहित्य को प्रकृत धरातल पर प्रतिष्ठित करने के लिए उद्यत हुआ है। रोमांस आदर्श, व्यामोह और जीवन से पलायन का परिचायक रहा है, जबकि उपन्यास यथार्थ के प्रति आसक्ति और जीवन की कटुता से जूझने की प्रवृत्ति का द्योतक। 'हार्डी' का कहना है, "उपन्यास हमारी प्रकृति में निहित सामान्य चित्तवृत्ति को संतुष्ट करने के कारण आनंदप्रद होता है। इसका लेखक सामान्य और असामान्य में समन्वय स्थापित करके एक ओर हमारी अभिरुचि को शांत करता है तो दूसरी ओर हमें यथार्थ का ज्ञान भी कराता है। वह असामान्य के सृजन के लिए घटनाओं का सृजन करता है और सामान्य के चित्रण के लिए चरित्रों का। जो उपन्यासकार अपनी घटनाओं के सामान्य

और असामान्य पक्ष से अवगत होता है, वह सफल कलाकार माना जाता है।" इनका यह उद्धरण महत्त्वपूर्ण है। रोमांस असामान्य पर आधारित होता है और उपन्यास सामान्य और असामान्य के समन्वय पर। इस प्रकार उपन्यास में रोमांस के तत्त्व तो होते हैं, पर वह इन्हें इस रूप में नियोजित करता है कि वह अतिरंजना से मुक्त होकर नये अर्थ का वाहक बन जाता है। रोमांस और उपन्यास दोनों गल्प साहित्य के रूप हैं, पर रोमांस में काव्यात्मक, महाकाव्यात्मक और मिथकीय तत्त्व अधिक होते हैं, जबकि उपन्यास में युगीन चेतना के यथार्थ चित्र। रोमांस के चरित्र आदर्श और मूलादर्श पर आधारित होते हैं, जबकि उपन्यास के चरित्र यथार्थ पर। रोमांस में अध्यवसित रूपक का प्रयोग किया जाता है, पर उपन्यास इससे मुक्त होता है। रोमांस पहले हमारे ध्यान को उद्‌बुद्ध करता है और पुनः इस अवधान को किसी उद्देश्य की ओर उन्मुख करता है। रोमांस के उद्‌भव के पूर्व बेसिर-पैर की कथाओं का प्रचलन होता है जो उसकी नसों में प्रेम के अतिरंजित स्वरूप को भर देती हैं। उसमें संघटना की एकता का अभाव पाया जाता है। उपन्यास में घटनाओं का नियोजन मनोरंजक होने के साथ निश्चित कौशल का परिचायक भी होता है। इस दृष्टि से उपन्यास रोमांस से अधिक कलात्मक साहित्य-रूप है। उपन्यास के लिए पहले 'रोमांस' शब्द का प्रयोग न करके 'नोवेल' शब्द का प्रयोग किया जाता था। यह प्रयोग भी इस बात को सिद्ध करता है कि उपन्यास अपने में नवीन का परिचायक ही न था, अपितु नयी साहित्य-विधा भी था। 'क्लारारीव' ने इन दोनों के भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि रोमांस एक वीराख्यानक फेबुल है जो कल्पित पात्रों और कथाओं द्वारा अपने को सजाता-सँवारता है, उपन्यास यथार्थ जीवन और यथार्थ युग-चेतना का चित्र है; रोमांस अलंकृत भाषा के द्वारा जीवन के ऐसे स्वरूप को चित्रित करता है जो न घटित हुआ है और न घटित हो सकता है, उपन्यास हमारे सामने घटित होने वाली घटनाओं का परिचित चित्र प्रस्तुत करता है। रोमांस की कथा कल्पित होती है और इसमें असामान्यता पर बल दिया जाता है, पर उपन्यास में जाने-पहचाने दैनिक स्वरूपों के चित्रण पर। रोमांस की कुछ विशेषताएँ महाकाव्य में पाई जाती हैं। इसमें मानव-चरित्रों के साथ ही अतिमानव-चरित्रों को चित्रित किया जाता है जो हमारे लिए अपरिचित होते हैं। उपन्यास यथार्थ पर बल देने के कारण जिन्दगी की हकीकत की दास्तान होता है। रोमांस का स्वरूप दिवास्वप्न की भाँति मोहक और आकर्षक होता है, पर उपन्यास का मनोरंजक और जाना-पहचाना। रोमांस हमें कल्पना-लोक का चितेरा बनाता है, पर उपन्यास अनुभूत जगत का। रोमांस का लेखक रूमानी कल्पना में रुचि दिखाता है, जबकि उपन्यास का लेखक रूमानी यथार्थ में। व्युत्पत्ति की दृष्टि से रोमांस कल्पित और सजातीय का परिचायक माना जाता है, पर उपन्यास भुक्त जीवन का। पहला सामंतवाद की उपज होता है और दूसरा प्रजातंत्र का। एक में वर्गीय अभिलाषा और आकांक्षा का तरल स्वरूप मिलता है तो दूसरे में मध्यवर्गीय

जीवन की यथार्थ, पर ठोस अभिव्यंजना का। रोमांस में कल्पना का प्रवाह निर्बन्ध और स्वच्छन्द होता है, पर उपन्यास में सीमांकित तथा सुनिश्चित। इससे सिद्ध होता है कि रोमांस उपन्यास का जनक रहा है और उसके कुछ तत्त्व इसमें पाये भी जाते हैं, पर उसे इससे भिन्न साहित्य-रूप मानना ही समीचीन है।

उपन्यास और जीवन

हिन्दी में 'उपन्यास' शब्द उप + न्यास से बना है, जिसका अर्थ होता है—पास रक्खी हुई वस्तु। दरअसल उपन्यास ऐसी साहित्य-विधा है जो जीवन से उभड़ कर उसी को नियंत्रित और निर्देशित करती है। हर साहित्य-रूप जीवन से संबद्ध होता है और इसी को व्यवस्थित करके अपना औचित्य भी सिद्ध करता है। जीवन गतिशील है और साहित्य-रूप इसी गतिशीलता में निहित आकांक्षा, अभिलाषा, स्वतंत्रता और परतंत्रता का परिचायक है। 'आर्नल्ड केटल' ने कहा है कि सफल कलाकृति के रूप में उपन्यास में दो तत्त्व पाये जाते हैं जो आपस में मिले होने के बावजूद अलग-अलग देखे जा सकते हैं। इन तत्त्वों को जीवन और संघटना के नाम से अभिहित किया जाता है। कला का प्रमुख उद्देश्य जीवन की अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना है। यहाँ जीवन को किसी घिरे दायरे में ग्रहण करने की जरूरत नहीं। जब हम 'जीवन' शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारा मतलब केवल किसी जीवन-चित्र, विशेषता या अनुभूति के सम्प्रेषण से होता है। उपन्यास इन तथ्यों को प्रेषित ही नहीं करता, अपितु उसका पूरक भी होता है। इसमें जीवन की संघटना पाई जाती है और प्रच्छन्न रूप से उन सभी कार्य-कारणों का निरूपण मिलता है जो इस संघटना को सजीव बनाते हैं। उपन्यासकार जीवन पर समग्रता से विचार करने के बावजूद चुनाव से काम लेता है। जो चित्र उसके लिये प्रभावोत्पादक या उपयोगी सिद्ध होते हैं, उसके मंतव्य की अभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध होते हैं, वह उन्हें ग्रहण करता है। चुनाव सदैव अभिरुचि से निर्देशित होता है और उपन्यासकार का चुनाव तो विशेष रूप से। वह इन उपलब्ध चित्रों को कार्य-कारण की शृङ्खला में कुछ इस प्रकार सँजो देता है कि वे जीवन से भी अधिक अर्थवान् बन जाते हैं। इस प्रकार उपन्यास की चित्रित जीवन-संघटना व्यक्त जीवन के बोध का सशक्त माध्यम होती है। उपन्यास की संघटना को लेकर भी कुछ प्रश्न खड़े हुए हैं, पर इनका कोई समाधान नहीं मिल सका है। कुछ लोगों की आँखें बाह्य कलाबाजी तक टिक कर रह गई हैं तो कुछ की अनुभूतियों के बाह्य स्तरों तक। यह उसको समझने का नकारात्मक खिलवाड़ मात्र है। कहना न होगा कि संघटना उपन्यास का बाह्य आकार या विषय-विन्यास नहीं होती। वह तो असल में कलात्मक चेतना का ऐसा अंतर्ग्रंथित रूप होती है जो उपन्यास को पूर्णता और सार्थकता प्रदान करने के साथ ही पठनीय बनाती है। उपन्यास की संघटना के संदर्भ में ज्यामितीय संघटना की बात उठाई जाती है, पर यह तभी महत्त्वपूर्ण होती है

जब कथ्य को स्पष्ट बनाने में सहायक हो। हम कहते तो हैं कि उपन्यास मानवीय अनुभूति को चित्रित करता है, पर यह भूल जाते हैं कि वह क्यों और कैसे चित्रित करता है। ध्यातव्य है कि गुण और धर्म की दृष्टि से मानसिक बिंब किसी भौतिक बिंब के सादृश्य द्वारा प्रकट किया जा सकता है। अगर लेखक इसमें सफल है, उसकी परख उपयुक्त और जीवन-बोध कलात्मक है तो उसकी व्यंजना में चार-चाँद लग सकते हैं, अन्यथा यह सब बंध्या की सूनी गोद सिद्ध हो सकता है। हमें यह न भूलना चाहिये कि उपन्यास की संघटना तभी व्यंजक और अर्थपूर्ण होगी जब उसका विषय-विन्यास इसमें सहायक होगा और विषय-विन्यास तब व्यंजक होगा जब जीवन के साथ उसका निकट का संबंध होगा। हर कलाकार और उपन्यासकार का एक जीवन-दर्शन होता है। उपन्यासकार जिस अनुपात में उसकी इस अंतर्दृष्टि को अपने विन्यास द्वारा चरितार्थ करता है, उसी अनुपात में सफल कृतिकार माना जाता है। उपन्यासकार की संघटना उसकी इसी अंतर्दृष्टि का परिणाम होती है। इस संघटना की एक विशेषता है। उसकी व्यंजना व्यापक, सूक्ष्म और तत्त्वाभिनिवेशी होती है। हमें दो तरह के उपन्यासकार दिखाई देते हैं--एक तो वे जो निश्चित जीवन-दृष्टि को आग्रहपूर्वक किसी संघटना से चित्रित करना चाहते हैं और दूसरे वे जो निश्चित संघटना में जीवन-चित्र को भरना चाहते हैं। इस प्रकार का आग्रह बहुत उपयुक्त नहीं होता है। इसमें शक नहीं कि उपन्यासकार को अपने विचार के प्रवाह को बाँधने के लिए संघटना आवश्यक होती है। उसका सत्य भौतिक और मानसिक धरातल से संबद्ध होता है और इस पर उसकी वैयक्तिकता और अभिरुचि के साथ ही चिंतन की छाप होती है। उपन्यासकार किसी भी प्रकार के जीवन-बोध को अपना कर अपने उपन्यास को आरंभ करता है, पर वह अगर इसके सफल निर्वाह में असफल हो जाता है तो बात बन नहीं पाती। वही चिंतन या बोध संघटना का दिशा-निर्देशक होता है जो अंतरंग और बहिरंग दृष्टि से समन्वित होता है। इस समन्वय के लिए सूक्ष्म कौशल और सावधानी की जरूरत पड़ती है। इसे हम एक उदाहरण से और स्पष्ट कर सकते हैं—मान लीजिए कि हमें खेत सींचने के लिए नाली से जल ले जाना है। जिस स्थान से नाली गुजर रही है, वह उतार-चढ़ाव से पूर्ण और ऊबड़-खाबड़ है। ऐसी स्थिति में हमें यह देखना होगा कि नाली को किस स्थान से बनाया जाय। उपन्यासकार को भी अपने विचार-रूपी जल को गंतव्य तक पहुँचाने के लिए संघटना-रूपी नाली का आश्रय लेना पड़ता है। पर, अगर वह अपने अन्वीक्षण, परीक्षण और नियोजन में जरा भी चूकता है तो उसकी स्थिति खोदा पहाड़ और निकली चुहिया जैसी हो जाती है। चिंतन बड़ा आकर्षक और मोहक हुआ करता है तथा प्रसव-वेदना-प्रसूत स्वप्न बड़ा आग्रही और हठी होता है। विन्यास के लिए इसके अतिरेक को नियंत्रित करना पड़ता है। तात्पर्य यह कि जीवन-बोध को अलग करने के लिए कलाकार को समझौते का रास्ता अपनाना पड़ता है। यह समझौता शब्द और अर्थ,

अनुभूति और अभिव्यक्ति, विषय-वस्तु और विषय-विन्यास तथा अंतर्दृष्टि और बहिर्दृष्टि के बीच होता है। ये सूत्र संभवतः उपन्यास और जीवन को समझने में हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं।

उपन्यासकार की पहली आवश्यकता है—विश्वसनीय जीवन-चित्र। यह तभी संभव हो पाता है जब उसका जीवन से निकट का संबंध हो और वह संभव के स्थान पर संभाव्य को निरूपित करे। पर यहाँ भी उसे सतर्क रहने की आवश्यकता है, क्योंकि बोध चक्रिल और गतिशील होता है। उसका आवर्त्त अनगढ़, अस्पष्ट और उलझन से भरा पाया जाता है। इसे तभी चित्रित किया जा सकता है जब कि उसकी उलझन को सुलझाया जाय और जटिलता को सहला-दुलरा कर स्पष्ट बनाया जाय। इसे हम दूसरे रूप में भी प्रस्तुत कर सकते हैं। ऐसा करने के लिये हमें कृति और उसके द्वारा अनुकृत यथार्थ के अंतःसंबंध पर विचार करना होगा। यह सभी मानते हैं कि कृति यथार्थ की अनुकृति है और कलाकार इन दोनों के संबंध को पूर्ण सूक्ष्मता से ग्रहण करने के लिये वर्णन-पटुता और संघटना से संबंधित काल की सीमा पर बल देता है। वह अपने जीवन-बोध को निश्चित प्रभाव, यथार्थ और विश्वास के साथ किसी वैयक्तिक चेतना से संबद्ध करता है जो देश और काल की सीमा से बँधी होती है। इस सृजन के आरंभ होते ही उसे एक प्रकार के आनंद की अनुभूति होने लगती है। पर, वह उसके अतिरेक में 'आर्कमिडीज' की तरह 'युरेका-युरेका' कहकर चिल्ला नहीं उठता है। वह उसे दबाता है, दुलारता और पुचकारता है और ज्वालामुखी की तरह उसके विस्फोट को तब तक अपने अंदर निहित रखता है जब तक कृति अपने अवसान को न पहुँच जाय।

हमें इस बात को सदैव ध्यान में रखना है कि उपन्यासकार पर्यवेक्षक, प्रयोक्ता और उपभोक्ता होता है। उसकी निरीक्षण-क्षमता—किसी वस्तु को देखने की दृष्टि—हमें तथ्य प्रदान करती है और इस तथ्य को चरित्र और घटनाओं के सूत्रों में पिरोती है। इस स्तर के पश्चात् उपन्यासकार का प्रयोग शुरू होता है। वह अपने मानस की प्रतिमा को निश्चित रूप और रंग देता है। 'जोला' ने इसी बात को ध्यान में रखकर कहा था कि उपन्यासकार प्रकृति से अपना तथ्य ग्रहण करता है। इन तथ्यों के मशीनी ढाँचे का अध्ययन करता है और पुनः परिस्थिति और परिवेश की योजना में उन्हें 'फिट' कर देता है। ऐसा करते समय वह प्रकृति के नियमों की अवहेलना नहीं करता। इससे व्यक्ति का वैयक्तिक और सामाजिक स्वरूप विशेष रूप से उभड़कर हमारे सामने आ जाता है। 'मोपाँसा' का कहना है, "पहले का उपन्यासकार आत्मा और हृदय की गंभीर अनुभूति को चित्रित करता रहा है, पर आज का उपन्यासकार आत्मा, बुद्धि और हृदय के सामान्य स्वरूप को चित्रित करता है। वह इस चित्रण में आज के यथार्थ व्यक्ति को पाना चाहता है।

उसका यह निरूपण यथातथ्य निरूपण न होकर उससे संबंधित बोध का प्रस्तुतीकरण होता है। यह सभी जानते हैं कि जीवन विविध अंतर्द्वन्द्वों और अंतर्विरोधों का समुच्चय है, पर उपन्यासकार इनमें से केवल ऐसे तथ्यों को चुनता है जो उसके प्रतिपाद्य के साथ ही विषय-विन्यास के लिए आवश्यक होते हैं। जीवन हर वस्तु को एक धरातल पर ग्रहण करता है, पर कला उन्हें विधि-निषेध से उपलब्ध आवश्यकता के धरातल पर ग्रहण करती है। हमें उपन्यास के आदर्शवादी या यथार्थवादी दृष्टिकोण से कोई झगड़ा नहीं है। हम तो कृति में केवल यह देखना चाहते हैं कि उसमें जीवन का कलात्मक बोध प्रस्तुत किया गया है कि नहीं। इसी को हार्डी ने औपन्यासिक यथार्थवाद के सूक्ष्म निरीक्षण से टपकाई गई कृत्रिमता (artificiality distilled from the fruits of closest observation) कहा है।

जीवन और उपन्यास के संबंध पर विचार करते हुए 'हेनरी जेम्स' ने कहा है, "जीवन सर्वमुक्त, बहुसमावेशक और अस्पष्ट होता है, पर कला विवेकपूर्ण और संवरणशील। कला का संबंध जीवन के अंतराल में निहित प्रच्छन्न मूल्य से होता है। इसीलिये कलाकार जीवन के चारों ओर उसी प्रकार चक्कर काटता है, जिस प्रकार कुत्ता गड़ी हुई हड्डी के चारों ओर चक्कर काटा करता है। अंतर केवल यह है कि कुत्ता हड्डी को बर्बाद करना चाहता है, जबकि कलाकार जीवन को आबाद करना चाहता है।" जीवन की इस आबादी का निश्चित अर्थ है। वह सृजन के दौरान ऐसे जीवन-चित्रों को ग्रहण करता है जिसका महत्त्व होता है और जिस पर अन्य लोग विश्वास भी करते हैं। इस प्रकार "उपन्यास अपने साथ रहने वाले व्यक्तियों के जीवन-क्रम का वह सशक्त प्रभाव है जो कलात्मक कल्पना से निर्मित होकर प्रस्तुत होता है। इसीलिये इसकी चुनी हुई घटनाओं की विश्वसनीयता इतिहास की विश्वसनीयता से भी महान् होती है।" उपन्यासकार को बाह्य दृष्टि से देखने पर घटनाओं और चरित्रों में कुछ साम्य मिल सकता है, पर आंतरिक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मूर्त स्वरूप में जो कुछ भी हमारे सामने है, वह कलाकार के विचारों, प्रभावों और अनुभूतियों का प्रतिफलन मात्र है। ये अनुभूतियाँ छद्मवेष में जीवन के हर कोने से मिलती हैं और जब वे निश्चित प्रभाव में ढलकर उपन्यास का रूप ले लेती हैं तो उपन्यासकार की निजी सम्पत्ति बन जाती हैं। इसीलिये 'बर्जीनिया वुल्फ' ने जीवन की तुलना उस प्रभामंडल से की है जो अर्द्ध-पारदर्शक होने के बावजूद हमारी चेतना को चारों ओर से घेरे रहता है। उपन्यासकार का धर्म यह नहीं है कि वह उस दीप्तिमय प्रभामंडल की चकाचौंध में फँस जाय। उसका काम तो यह है कि वह उसे भेदकर उस कार्य-कारण की शृंखला को पकड़ने की कोशिश करे जो इसके अस्तित्व का प्रमुख कारण है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अब हम कह सकते हैं कि उपन्यास स्वतः में पूर्ण वह जीवंत और सावयव विकास-सम्पन्न गद्य-आख्यान है जो कथा और

चरित्रों के माध्यम से जन-जीवन और युग-चेतना में निहित जीवन-बोध और अनुभूति को विश्वसनीय ढंग से निरूपित करता है।

तकनीक--'तकनीक' के लिये हिंदी में शिल्प-विधि और रचना-पद्धति का प्रयोग किया जाता है। आरंभ में कला में सत्य और सौन्दर्य पर विशेष बल दिया जाता था, पर आधुनिक आलोचना में सत्य के लिये विषय-वस्तु और सौन्दर्य के लिये विषय-विन्यास का खुला प्रयोग होने लगा है। वस्तुतः एक कला का अनुभूति पक्ष है और दूसरा उसका अभिव्यक्ति पक्ष। इस अर्थ में तकनीक कलाकार के अनुभूति पक्ष को अभिव्यक्ति में परिणत करने की पद्धति मानी जा सकती है। कलाकार अपनी अनुभूति से निरंतर प्रमथित होता रहता है और उसकी अभिव्यक्ति के लिये नये माध्यमों की खोज करता रहता है। इसी को ध्यान में रखकर लोगों ने उसे परिभाषित करने की कोशिश भी की है। 'मार्क शोरर' का कहना है, "जब हम तकनीक की बात करते हैं तो प्रायः सभी बातों को उसमें समेट लेते हैं, क्योंकि तकनीक वह माध्यम है जिसके द्वारा लेखक की अनुभूति अथवा विषय-वस्तु लेखक का ध्यान अपने पर केन्द्रित करती है। तकनीक ही वह साधन है जिसके द्वारा वह अपने विषय की गवेषणा, परीक्षण और विकास करता है, अपने अर्थ को प्रेषित करता है और पुनः उसका मूल्यांकन करता है।"[1] उपन्यास के पाठक प्रायः यह मानते हैं कि विषय-वस्तु महत्त्वपूर्ण है और तकनीक इसे सतही धरातल पर अलंकृत करने का प्रमुख साधन है। कभी-कभी इसके साथ और खिलवाड़ होता नजर आता है और उसे कथानक को निर्माण करने वाली घटनाओं की संघटना या कथानक में निहित संघटना को कुतूहल, चरमोत्कर्ष अथवा चरित्र की ओर प्रेरित करने की क्रिया तथा उसके संबंध और विकास की स्थिति से जोड़ दिया जाता है। तात्पर्य यह कि इसे निश्चित सामग्री को संघटित करने का साधन मान लिया जाता है, मूल्य को गवेषित और परिभाषित करने का साधन नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि हम इसका प्रयोग करते समय दो बातों पर ध्यान दें; (१) भाषा का अनुभूति की विशेषता को व्यक्त करने के लिये माध्यम के रूप में प्रयोग और (२) विषय-वस्तु को व्याख्यायित करने वाले दृष्टिकोण का प्रयोग। तकनीक चुनाव, संघटना, विरूपीकरण अथवा भौतिक क्रिया-कलापों को रवानी (Rhythm) से बाँधने का प्रयत्न है। इसके द्वारा यथार्थ-संबंधी हमारा बोध निरंतर नया और समृद्ध बनता जाता है। इस दृष्टि से अनुभूति को कलात्मक अभिव्यक्ति

1. When we speak of technique, then we speak of nearly everything, for technique is the means by which the writer's experience, which is the subject matter, compels him to attend to it; technique is the only means he has of discovering, exploring, developing his subject of conveying its meaning and finally of evaluating it.

में परिणत करने वाली हर पद्धति को तकनीक कहा जा सकता है। हम यथार्थ में विषय-वस्तु और कलाकृति में अभिव्यक्त विषय-वस्तु को एक नहीं मान सकते। विषय-वस्तु (content) अनुभूति की परिचायिका होती है और कलाकृति में अभिव्यक्त विषय-वस्तु (Achieved Content) अनुभूति के तकनीकी निरूपण की परिचायिका। इससे एक बात साफ हो जाती है कि अनुभूति को कला में परिणत करने का कार्य तकनीक करती है। इसीलिए कुछ विचारकों ने तकनीक की परिभाषा देते हुए उसे कलात्मक निरूपण की पद्धति (mode of artistic execution) कहा है। कला में विषय-वस्तु और विषय-विन्यास का प्रश्न उठाया जाता है। पर, ध्यान देने की बात यह है कि रूप तो केवल विचार का बाह्य वस्तुगत निरूपण है और उसकी महत्ता इस बात पर निर्भर करती है कि वह कितना विचारानुकूल और अभिव्यक्ति-सक्षम है। यह अभिव्यक्तीकरण भी तकनीक का मुखापेक्षी होता है। अभी-अभी हमने दृष्टिकोण का उल्लेख किया है। कथाकार और कथा के अंत:संबंध को ध्यान में रखकर दृष्टिकोण को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। यहाँ हम केवल एक बात का संकेत कर सकते हैं। विषय-वस्तु (अनुभूति) जब तकनीक के द्वारा कलात्मक रूप में निरूपित की जाती है तो उससे हमें विषय-विन्यास और निरूपित विषय-वस्तु का दर्शन होता है। तकनीक के दो पार्श्व होते हैं। एक का संबंध परंपरित अथवा अपरंपरित नियम से होता है, दूसरे का अनुभूति से। जब अनुभूति परंपरित तकनीक के लिये 'चैलेंज' बन जाती है तो उसके लिए नयी तकनीक की अपेक्षा होती है। इसीलिये कुछ उपन्यासकारों ने तकनीक को कलाकार के विषय-निरूपण की इच्छा से संबद्ध करके देखा है। इस दृष्टि से तकनीक को परंपरा-पोषक नहीं माना जा सकता। इसका प्रमुख कारण यह है कि जब भी कलाकार अपने विचार को अपने ढंग से प्रस्तुत करना चाहेगा तो उसकी तकनीक में कुछ न कुछ नयापन आ ही जायेगा। संवेदनशीलता की क्रांतिकारी दिशा सदैव नयी तकनीक को जन्म देती है। अतएव हमारे समक्ष एकाधिक तकनीक आती हैं। सुतराम् हम तकनीकों की चर्चा कर सकते हैं। ऊपर के विवेचन को ध्यान में रखने से हमें तीन शब्द मिलते हैं—विषय-वस्तु, विषय-विन्यास और तकनीक। पहले को हम कलाकार की अनुभूति का समुच्चय कह सकते हैं और दूसरे को उसके मन द्वारा विषय-वस्तु पर आरोपित परिधान मान सकते हैं। तकनीक को अंत में ऐसी पद्धति या रचना-कौशल की संज्ञा दी जा सकती है जो विषय-वस्तु पर विषय-विन्यास को आरोपित करती है। इस दृष्टि से इन तीनों शब्दों का महत्त्व है। अब यह स्पष्ट हो गया है कि किसी भी कलाकृति की रचना इन तीनों के अंत:संबंध पर होती है। कला में तो वे एक-दूसरे के प्राय: पर्याय से लगते हैं, पर आलोचना में इन्हें अलग करके देखने की प्रथा चल पड़ी है। कला की विषय-वस्तु में दरअसल कलाकार के उद्देश्य, संवेदना, प्रेरणा, जीवन-दर्शन आदि की समष्टि मिलती है। इसे कला का कच्चा

माल कहा जा सकता है। जब वह इन्हें अपनी विधायक कल्पना से गूँथकर एक मूर्त और आकर्षक रूप प्रदान कर देता है तो वे कलाकृति के रूप में हमारे लिए आस्वाद्य बन जाते हैं। अरूप से रूप तक का यह रूपायन शिल्प का मुखापेक्षी है। 'सीनओ फॉओलिन' का कहना है, "जब कलाकार विषय के बीच से वस्तुओं को चुनता हुआ आगे बढ़ता है तो हमें उसके स्वरूप का ज्ञान प्रज्ञा और संवेदनशीलता से प्राप्त होता है।"

साहित्य में शिल्प और शैली को लेकर तरह-तरह की बातें की जाती हैं। वास्तव में शैली वैयक्तिक विशिष्टता को अभिव्यक्त करने का वह साधन है जिसके द्वारा हम लेखक या उसकी कृति को पहचानते हैं। हर साहित्यकार की एक शैली होती है जिसके द्वारा वह अपने को अभिव्यक्त करता है। तकनीक और शैली का आपस में संबंद्ध ही नहीं होता, अपितु वे एक-दूसरे की पूरक भी होती हैं। पर ध्यान, देने की बात है कि शैली शिल्प का अंग है और इसका दिशा-निर्देशन तकनीक द्वारा ही संभव होता है। तकनीक आवश्यकतानुसार शैली को वर्णनात्मक, भावात्मक, विश्लेषणात्मक, संकेतात्मक या नाटकीय कलेवर प्रदान करती रहती है। यह बात संभवत: कुछ लोगों को कम जँचे, पर उन्हें ध्यान में रखने की ज़रूरत है कि तकनीक रचना-विधि के समग्र ढाँचे की परिचायिका है तो शैली उसकी अभिव्यक्ति की एक पद्धति है। तकनीक में रचना के सभी तत्त्व आ जाते हैं और इसमें कथावस्तु, कथोपकथन, पात्र, दृष्टिकोण आदि के नियोजन का प्रश्न निहित रहता है तो शैली में भाषा-संबंधी नियोजन की समस्याएँ ही मिलती हैं। शैली तकनीक के लिये होती है, तकनीक शैली के लिये नहीं। शैली विषयिगत होती है और तकनीक विषयगत। तकनीक अभिव्यक्ति और रचना दोनों से संबद्ध होती है और शैली केवल अभिव्यक्ति से। तकनीक का संबंध रूप के साथ ही उसके संघटक स्वरूपों से भी होता है, जबकि शैली का केवल वैयक्तिक अभिव्यक्ति से। तकनीक में रचना के तत्त्वों पर विचार किया जाता है, पर शैली में केवल अभिव्यक्ति के तरीकों पर। शिल्प का अध्ययन सम्पूर्ण संघटन का अध्ययन होता है। अतएव उसका धरातल प्रसारपूर्ण और व्यापक बन जाता है। पर शैली का संबंध केवल अभिव्यक्ति के विशिष्ट रूप से होता है, अतएव वह सीमित होती है। शिल्प-विधि में विषय-वस्तु और विषय-विन्यास दोनों का विवेचन आ जाता है, जबकि शैली में केवल उसकी भाषागत अभिव्यक्ति और तकनीकी कारीगरी की बात पाई जाती है तथा वह व्यक्ति-विशिष्ट होती है। सारांश यह कि तकनीक में सृजन के मूल सिद्धांतों पर विचार किया जाता है, पर शैली में केवल अभिव्यक्ति के सिद्धांत की बात उठाई जाती है। शैली कथाकार की रुचि से प्रभावित होती है, जबकि शिल्प उसकी तुलना में कम प्रभावित होता है। सारांश यह कि शैली शिल्प की अनुगामिनी होती है, शिल्प शैली का नहीं।

डाक्टर प्रताप नारायण टंडन ने उपन्यास के कथा-शिल्प पर विचार करते हुए निम्नांकित तालिका दी है—

(१)

कथात्मक पद्धति

- रहस्यात्मक पद्धति
- लोककथात्मक पद्धति
- प्रेमाख्यानक पद्धति
- आत्मकथात्मक पद्धति
- सामान्य वर्णनात्मक पद्धति

(२)

काव्यात्मक या भावात्मक पद्धति

- वीर काव्यात्मक पद्धति
- रीति काव्यात्मक पद्धति
- भावप्रधान काव्यात्मक पद्धति

(३)

नाटकीय पद्धति

- रंगमंचीय नाटकीय पद्धति
- यूरोपीय संघर्षात्मक पद्धति
- ओजपूर्ण संवादात्मक पद्धति

(४)

विश्लेषणात्मक पद्धति

- मनोवैज्ञानिक विश्लेषणयुक्त
- बौद्धिक विश्लेषणयुक्त
- यथार्थपरक विश्लेषणयुक्त
- आदर्श विश्लेषणयुक्त

(५)

फ्लैश बैक तकनीक

वस्तुत: ये उपर्युक्त विभाजन कई दृष्टियों से असमीचीन हैं। कथात्मक पद्धति और काव्यात्मक पद्धति का उपन्यास के क्षेत्र में केवल प्रवृत्तिगत शैली के निरूपण में उपयोग होता है। मेरी दृष्टि में 'टंडन' ने तकनीक और शैली के भेद को न समझने के कारण यह वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। यथार्थ में उपन्यास के क्षेत्र में हमें पाँच प्रकार की निम्नांकित तकनीकों के दर्शन होते हैं—

(१) वर्णनात्मक तकनीक (Narrative Technique)
(२) विश्लेषणात्मक तकनीक (Analytical Technique)

(३) प्रतीकात्मक तकनीक (Symbolical Technique)
(४) नाटकीय तकनीक (Dramatic Technique)
(५) मिली-जुली तकनीक (Mixed Technique)

वर्णनात्मक तकनीक

वर्णनात्मक शिल्प में वर्णन की प्रधानता होती है और इसी के आधार पर जीवन के चित्र प्रस्तुत किए जाते हैं। इस तकनीक को अपनाने वाले लेखक को एक सुविधा होती है। वह पात्रों, घटनाओं, संवादों आदि के द्वारा अपने वर्णन को पुष्ट करता रहता है। इस प्रकार की तकनीक में विश्लेषण का सर्वथा अभाव पाया जाता है। इसमें विविध घटनाओं और पात्रों की अधिकता होती है। इस प्रकार के लेखक प्राय: आधिकारिक कथा के साथ प्रासंगिक कथा की भी अवतारणा करते चलते हैं और इन कथाओं के माध्यम से जीवन की कोई समस्या प्रस्तुत करते हैं। ये समस्याएँ आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक किसी भी प्रकार की हो सकती हैं। मनोविश्लेषण का अभाव होने के कारण इन उपन्यासों में गहराई के स्थान पर प्रसार पाया जाता है। इसकी पात्र संख्या अधिक होती है और ये पात्र किसी न किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस तकनीक के लेखक का दृष्टिकोण सोद्देश्य होता है। इसीलिये अतिरंजना के साथ ही आदर्शोन्मुख यथार्थ का पुट गहरा हो जाता है। इस तरह के उपन्यास की चार प्रचलित शैलियाँ हैं: (१) आत्मकथात्मक शैली, (२) पत्र शैली, (३) डायरी शैली (४) अन्य पुरुष शैली।

विश्लेषण-प्रधान तकनीक

तात्त्विक दृष्टि से इस प्रकार की तकनीक का प्रयोग उपन्यास के लिये नया था, क्योंकि इसका अभ्युदय मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के साथ हुआ था। इसकी कुछ प्रमुख विशेषताएँ थीं। इसमें कथा का अंश विरल हो गया था। इसका प्रमुख कारण यह था कि इस खेवे का लेखक अंतर्मुखी था। कथा और चरित्र का ताना-बाना मानसिक स्तरों के आधार पर निर्मित होने लगा था। इसमें अवचेतन मन तथा अर्द्ध-चेतन मन के स्वरूपों की सृष्टि हुई थी। इसके परिणामस्वरूप उपन्यास में तरह-तरह की कुंठा, संघर्ष, संत्रास आदि का अवतरण हुआ था। इसकी विषय-वस्तु वैयक्तिक थी और उसके वैयक्तिक मन के अचेतन स्वरूप को चेतन मन के संदर्भ में विश्लेषित करती थी। घटनाएँ पूर्णत: आंतरिक सजीवता से अनुप्राणित थीं और चरित्र आदि का निरूपण भी आंतरिक प्रवृत्तियों के संदर्भ में किया जाता था। वर्णनात्मक शिल्प के उपन्यासों में वर्गगत चरित्र की प्रधानता थी, पर इस प्रकार के उपन्यासों में चरित्र को उसकी पूर्ण सबलता और निर्बलता में चित्रित किया गया था। बौद्धिक विकास के साथ उसके अहं की प्रमुखता इसका प्रतिपाद्य थी। इसमें वैयक्तिक पराजय और विद्रोह के स्वर मुखर हुए थे, और यथास्थान दार्शनिकता के पुट भी पाये जाते थे।

इसमें मनोविश्लेषण-प्रधान, दर्शन-प्रधान, चेतना-प्रवाहवादी और पूर्वदीप्ति शैली में लिखे गए उपन्यास विशेष रूप से देखने को मिले। 'फ्रायड' की परिकल्पना के आधार पर चेतन, अचेतन और अर्द्धचेतन मन का जादू सम्पूर्ण साहित्य पर छा गया। इस दृष्टि से 'युंग' और 'एडलर' की मान्यताएँ भी कम सहायक न सिद्ध हुईं। कामग्रंथि की प्रधानता से साहित्य ओतप्रोत हो गया और तरह-तरह के अन्त्यज चित्रों की अवतारणा होने लगी। सारांश यह कि एक विचित्र गड़बड़-घोटाला देखने को मिला—'चले थे हरिभजन को, ओटन लगे कपास'। मनोविज्ञान की इन निष्पत्तियों ने दावा तो किया था स्वर्ग देने का, पर हम फँस गए एक विचित्र प्रकार की मानसिक दलदल में। इन उपन्यासों में जहाँ दार्शनिक चिंतन उभड़कर आया था, वहाँ भी अब उनका स्वरूप पहले से बदल गया। जैनेन्द्र ने इस पर प्रकाश डालते हुए कहा था, "उपन्यास में जैसी दुनिया है, वैसी ही चित्रित नहीं होती। दुनिया का कुछ उठा हुआ, उन्नत, कल्पित रूप चित्रित किया जाता है। वह साहित्य किसी काम का नहीं, जो इतिहास की तरह घटनाओं का बखान कर जाता है...। उपन्यास का काम है कुछ आगे की, भविष्य की झाँकी दिखाना और जो कुछ अब है, उसकी तह हमारे सामने खोलकर रख देना। उपन्यास एक नये अजीब ढंग से रँगे और उपादेय जीवन का चित्र हमारे सामने रखता है। जीवन के साधारण कृत्य और उसकी गुत्थियों को सुलझा और खोल-खाल कर रख देता है।"

चेतना-प्रवाहवादी शैली का उल्लेख हम बाद में करेंगे। यहाँ हम केवल पूर्वदीप्ति शैली (Flash back technique) का उल्लेख करके इस प्रसंग को यहीं समाप्त करेंगे। पूर्वदीप्ति शैली में लिखे गये उपन्यासों में कथाकार कथा को पात्रों की स्मृति में उठी हुई तरंगों के रूप में चित्रित करता है। इसमें वर्तमान से संबद्ध ऐसी घटनाओं को प्रस्तुत किया जाता है जो पात्रों की स्मृति से जुड़ी होती हैं और वर्तमान को हर तरह से सार्थक बनाती हैं। यहाँ पर लेखक पात्रों की स्मृति का सहारा लेकर चलता है और उन्हें मनोवैज्ञानिक पुट देता रहता है। इसकी सम्पूर्ण कथा में आत्मविश्लेषणात्मक शैली की प्रधानता होती है। कथा के प्रवाह में जब किसी तरह का व्यवधान आता है तो वहाँ कलाकार स्वयं उपस्थित होकर कथा के सूत्रों को किसी विगत घटना से जोड़ देता है। इस प्रकार के उपन्यासों का आधार मानसिक स्थिति होता है। इसकी कुछ विशेषताएँ हैं। प्रमुख विशेषता तो यह है कि कलाकार ऐसी स्थितियों को उभाड़कर रखना चाहता है जो व्यक्ति के अंतर्मन से संबद्ध ही नहीं हैं, अपितु उसे निरंतर प्रमथित कर रही हैं। स्मृति के आधार पर प्रस्तुत किए गए चित्रों में प्रभावोत्पादकता के साथ ही जिज्ञासा को प्रबुद्ध करने की क्षमता होती है। इनकी उद्भावना के मूल में मनःसृष्टि और ललित कल्पना की प्रधानता पाई जाती है। लेखक कथा की अवतारणा पात्रों की स्मृति के आधार पर करता है, अतएव उसमें कौतूहल का स्थान होता है, पर वस्तु-संघटन प्रायः विशृंखलित

और शिथिल होता है। इसमें विश्लेषण की प्रधानता के कारण उपन्यास वैचारिक ऊहापोह से ग्रसित पाया जाता है। स्मृतियों को उद्बुद्ध करके वर्तमान को अतीत से सम्बद्ध करने का कार्य कल्पना द्वारा संपादित किया जाता है, अतएव संपूर्ण उपन्यास में कल्पना का ताना-बाना देखने को मिलता है।

प्रतीकवादी तकनीक

कविता में प्रतीक का सफल प्रयोग हो चुका था। उसी से उत्साहित होकर गद्य के क्षेत्र में भी इसका प्रयोग किया गया। यथार्थवादी उपन्यासों में आख्यान, निजन्धरी कथा और मिथक के निरूपण की विशेष गुंजाइश नहीं होती। इसमें आधुनिक वैज्ञानिक और 'स्केप्टिकल' दृष्टि का प्राधान्य होता है। यह निश्चित प्रकार के यथार्थ पर पलता है और निश्चित शैली में लिखा जाता है। अतएव यहाँ प्रतीकों का प्रश्न ही नहीं उठता। ये कलाकार अनुभव को महत्त्व देते हैं और उसी के चित्रों की अधिकता भी इनमें देखने को मिलती है। इनमें प्रतीकों का यथास्थान जो प्रयोग हुआ भी है, वह प्रतीकवादी उपन्यास से सर्वथा भिन्न है। यथार्थवादी प्रतीक ऐसे सुव्यवस्थित बिंब नहीं प्रस्तुत करते थे जो ऐन्द्रिय बिंबों के जनक बनते। इससे साफ जाहिर होता है कि इन दोनों उपन्यासों में प्रमुख भेद भी था। पहले तरह का उपन्यासकार यथार्थ अनुभूति में अर्थ खोजता था, पर दूसरे तरह का उपन्यासकार यथार्थ पर एक अर्थ की पर्त चढ़ा देता था।[1] यथार्थवादी उपन्यासों में प्रतीक का जो प्रयोग किया गया था, वह अर्थ से जुड़ा नहीं होता था। वह किसी प्रच्छन्न कारण से जुड़ा होता था, पर प्रतीकात्मक उपन्यास में यह अभीप्सित अर्थ का अनुभवातीत प्रतिरूप हुआ करता था। यथार्थवादी प्रतीक में कुछ अभिव्यंजनात्मक विशेषताएँ पाई जाती थीं। प्रतीकवाद का जन्म यथार्थवाद से नहीं, अपितु स्वच्छंदतावाद से हुआ है। यथार्थवादी तकनीक कार्यकारण-शृंखला पर आधारित होती है, पर प्रतीकवादी तकनीक इससे परे आनुभविक संभावनाओं पर आधारित होती है, अथवा यों कहा जाय कि अप्रत्यक्ष अनुभवों पर आधारित है। इसमें बिंब ऐसे अर्थ का पारिचायक होता है जिससे इसका सीधा संबंध नहीं होता। इसी लिये इसके बिंबों को नया अर्थ-सन्दर्भ देना पड़ता है। इन प्रतीकों का प्रयोग हमें मिथक, धर्म और निजंधरी कथा में मिलता है। प्रतीक की दो आवश्यक शर्तें होती हैं, (१) बिंब-सृजन-सक्षम कल्पना और (२) यह भावना कि हमारा जीवन कुछ ऐसे मूलभूत रहस्यों से अनुशासित होता है, जिनकी कार्य-कारण-संम्मत शृंखला नहीं होती, फिर भी उनकी आन्तरिक व्यंजना को बाह्य घटनाओं के बल पर चित्रित किया

---

1. The former seeks meaning in actual experience, the latter imposes a particular meaning on reality, correspondingly the symbol in the realistic novel is always casually related to its meaning—the symbol represents the hidden cause, whereas in the symbolic novel it is the transcendent embodiment of intended meaning.

जा सकता है। अपनी अन्तरात्मा में हर व्यक्ति स्वच्छन्द होता है और वह पृथ्वी और आकाश के कुलावे मिलाया करता है। इस स्थिति में उसके अनुभव-क्षेत्र में प्रातिभ ज्ञान के पूर्ण अस्पष्ट और अग्राह्य स्वरूप भी आते रहते हैं। इनको मूर्त रूप में चित्रित करने के लिये प्रतीक की अपेक्षा होती है। प्रतीकवादी उपन्यास अपने अर्थ को तत्त्वों के सहयोग से स्पष्ट करते हैं। बिंब, सन्दर्भ, संकेत, अन्तर्निहित समन्वय में परिवर्तन और व्यंजना आदि के सहारे वह अपने उद्देश्य की ओर उन्मुख होता है। कार्य-कारण-शृंखला पर आधारित यथार्थवादी प्रतीक और सर्वातिशायी प्रतीक, दोनों कल्पना की उपज हुआ करते हैं और निश्चित अर्थ की गवेषणा को हमारे सामने रखते हैं। पर इन दोनों के भेद की ओर पहले भी संकेत किया जा चुका है। धर्म, समाज और दर्शन के साथ ही सर्वातिशायी प्रतीकों की एक विशेषता होती है। इन सबमें अर्थ और घटना में एक साधर्म्य पाया जाता है और यह किसी भी रूप में यथार्थ के बंधन से मुक्त होता है। "प्रतीक लेखक के दृष्टिकोण का परिचायक होता है। उसके माध्यम से वह पूरी क्रिया को पुनःविश्लेषित करता है। वह वस्तुगत और आत्मगत स्वरूपों को एकसाथ ही अभिव्यक्ति की पद्धति से संबद्ध करता है।" प्रतीक प्रत्यक्ष उपादान के माध्यम से परोक्ष की व्यंजना करता है। यह अमूर्त को मूर्त बनाने का प्रमुख साधन है। प्रतीक पद्धति में अभिव्यंग्य को सांकेतिक रूप में प्रकट किया जाता है और उसमें सूक्ष्म निर्देशन की अमित शक्ति होती है। यह सूक्ष्म निर्देशन कार्य-व्यापार की शृंखला से मुक्त होता है, अतएव इसमें दुरूहता का पाया जाना स्वाभाविक होता है। गहन चिन्तन और अन्तर्मंथन को इसके द्वारा सरलता से अभिव्यक्त किया जा सकता है। कलाकार उसकी अनुभूति को प्रतीक से सरलता से सुलझाता है। कभी-कभी अनुभूति का सहज उच्छलन स्वयं रूपक और प्रतीक के रूप में प्रकट होता है।

नाटकीय शिल्प-विधि

उपन्यास में नाटकीय तत्त्वों का प्रयोग किया जाता है। जब ये तत्त्व अधिक हो जाते हैं तो उसे नाटकीय शिल्प-विधि कहा जाता है। इस प्रकार के उपन्यास में कथानक और चरित्र-चित्रण में संतुलन पाया जाता है और उसमें नाटकीय विधि का यथोचित निर्वाह भी किया जाता है। घटना और चरित्र के इस संबंध से दृश्य गत्यात्मक बन जाते हैं।

मिली-जुली शैली

यहाँ हम उपन्यास की मिली-जुली शैली का विशद निरूपण मेरा उद्देश्य नहीं है। शैली और उसके स्वरूप और उपलब्धि तक ही अपने को सीमित रखना चाहते हैं। शैलियों को दो रूप में विभक्त किया जा सकता है : (१) विषय-निरूपण के पूर्व-स्वरूपों से संबद्ध शैली (Fore-ground style) और (२) उसके पर-स्वरूपों से

संबद्ध शैली (Back-ground style)। ये शैलियाँ परस्पर-विरोधी हैं। पहली में वस्तुगत वर्णन और स्वतंत्र अभिव्यक्ति मिलती है। इसमें सब कुछ सामने रहता है और इसका अर्थ भी स्पष्ट होता है। इसमें ऐतिहासिक विकास और मनोवैज्ञानिक संदर्भ विरल होते हैं। पर शैली में कुछ बातें पूर्ण रूप से स्पष्ट और कुछ पूर्ण रूप से अस्पष्ट रहती हैं और अप्रत्याशित को विशेष महत्त्व दिया जाता है तथा अभिव्यक्त स्वरूपों को संकेत द्वारा प्रकट किया जाता है। इसमें जो भी युक्ति काम में लाई जाती है, उसका संबंध अर्थ-वैविध्य और उसके स्पष्टीकरण से होता है।[1] प्रथम के अन्तर्गत वर्णनात्मक तकनीक आती है और दूसरे के अन्तर्गत विश्लेषणात्मक प्रतीक और नाटकीय तकनीक। अगर हम इस विभाजन को स्वीकार कर लें और उपन्यासों पर विचार करें तो हमें दो बातें मिलेंगी : (१) ऐसे उपन्यासों का दर्शन होगा जिनमें केवल एक शैली का प्रयोग किया गया है, और (२) ऐसे उपन्यास भी देखने को मिलेंगे जिनमें एक से अधिक शैली का प्रयोग किया गया है। यह बात स्वतःसिद्ध है कि उपन्यास महाकाव्य का वंशज है और सबसे लचीला साहित्य रूप माना जाता है। इसकी सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि वह किसी भी अनुभूति को कलात्मक ढंग से हमारे सामने रख सकता है। उपन्यास उस स्थिति में विशेष महत्त्वपूर्ण होता है जब उसके प्रतिपाद्य से संबद्ध प्रायः उसके सभी स्वरूप उसमें उपस्थित रहते हैं। इसका संबंध दुनियावी अनुभूति से ही होता है जो निश्चित देश और काल में घटित होती है। अन्य कलाओं की तुलना में साहित्य का संबंध काल से अधिक होता है। इसमें अन्य कलाओं के तत्त्व भी मिल जाते हैं। अतएव मिलावट की गुंजाइश अधिक होती है। वह जान-बूझकर किस्म-किस्म की शैलियों को आपस में नहीं मिलाता, बल्कि उनकी आवश्यकता का ध्यान रखकर उनका प्रयोग करता है। वर्णनात्मक उपन्यासों में प्रथम पुरुष की शैली में लिखे गए उपन्यास शैली के अच्छे उदाहरण होते हैं। इसमें कथाकार इच्छानुसार पात्र-घटना और भाषा का प्रयोग करता है। प्रकृतिवादी उपन्यासों की भी यह प्रमुख विशेषता है। इसके अतिरिक्त ऐसे उपन्यासों में भी इसका सफल निर्वाह देखने को मिल जाता है जो घनत्व के स्थान पर विस्तार को महत्त्व देते हैं। प्रकृतवादी उपन्यासों में भी बाद में शैली के मिले-जुले स्वरूप का दर्शन हुआ है। मसलन हम चेतनावादी उपन्यास को ले सकते हैं। इसमें कथाकार विश्वसनीय भाषा के प्रयोग पर बल देता है और आंतरिक गतिशीलता को ग्रहण करने के लिए भाषा और भाव के विविध प्रयोग करता है। अतएव इसमें मिली-जुली शैली का प्रयोग प्रमुख हो जाता है। चूंकि ये उपन्यास चरित्रों के आंतरिक विचार-प्रवाह को महत्त्व देते हैं, अतएव एक उपन्यास में उतनी शैलियाँ देखने में मिल सकती हैं जितने कि चरित्र होते हैं। एक प्रकार की शैली विन्यास की क्रियाशीलता से उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिए, हम प्रथम पुरुष में लिखे गए उपन्यास को ले

1. *Perspectives on Fictions*, p. 26.

सकते हैं। इनमें चरित्र, कथानक या परिवेश के एकीकरण या इनमें से किसी एक तत्त्व पर निर्भर रहने से भी इसका उद्भव होता है। इसमें समान शैली का प्रयोग किया जाता है और लेखक अपनी सामग्री को एकोन्मुखी चिंतन और स्पष्ट दृष्टि-कोण से उपन्यास में निरूपित करता है। इसके लेखन में उपन्यासकार अन्य स्वरूपों से अपना ध्यान हटाकर केवल एक स्वरूप पर केन्द्रित करता है। अतएव समरसता और दृष्टिकोण की एकता इसकी प्रमुख विशेषता बन जाती है। इसकी पाचन-शक्ति अद्भुत होती है, क्योंकि भाषा के एक स्वरूप से यह यथार्थ के कई स्वरूपों को एक ढाँचे में ढालकर उन्हें संश्लेषित करता है। लेखक यहाँ यह मानकर चलता है कि पाठक उसके द्वारा प्रतिपादित दृष्टिकोण को स्वीकार करके चलेगा।

मिली-जुली शैली उस विविधता को स्वीकार करके चलती है जो पात्र, कथा-नक और कथोपकथन आदि की विभिन्न अन्तर्शक्तियों को विश्लेषित और विवेचित करने से प्राप्त होती है। 'आइरनी' और 'पैरोडी' के लेखक इसे विशेष महत्त्व देते हैं। किसी निश्चित आदर्श के प्रति कम निष्ठावान् लेखकों के लिये भी यह ढाल सिद्ध होती है। मिली-जुली तकनीक से हमारे समक्ष परस्पर-विरोधी चित्तवृत्तियाँ उपस्थित होती हैं। यह कोई एक निश्चित आदर्श नहीं प्रस्तुत करती जिससे हम लेखक के दृष्टिकोण से भली प्रकार परिचित हो सकें। यह अनुकरणमूलक होती है और वस्तुओं में निहित ऐसी विविधता और चित्तवृत्ति की विशेषता का अनुकरण करती है जिसके माध्यम से यथार्थ को सही रूप में परखा जा सके। उपन्यासकार यथार्थ को परखने के लिये कई युक्तियों को अपनाता है। स्थानीय चित्रण के लिये वह विवरण का प्रश्रय लेता है, तो स्थिति या मानसिक दशा का चित्रण करने के लिये विश्लेषणात्मक पद्धति को अपनाता है। सामान्य चित्तवृत्तियों के लिये प्रतीक पद्धति को अपनाता है तो प्रभावपूर्ण संतुलन और परिस्थिति का यथार्थ उद्घाटन के लिये नाटकीय पद्धति को। कभी-कभी ये सभी तकनीकें एक उपन्यास में मिल जाती हैं। मिली-जुली शैली के उपन्यासों में परिस्थिति-वैविध्य और पात्र-वैविध्य को निरूपित करने में सुविधा होती है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस तकनीक में उनके टाइप वैयक्तिक और प्रतीक स्वरूपों का उल्लेख किया जाता है। उपन्यासकार समाज के व्यापक स्वरूपों को विशिष्ट चरित्र के द्वारा उसके सूक्ष्म अध्ययन को वैयक्तिक चरित्र के द्वारा तथा रहस्यमय और अभिव्यक्ति-अक्षम स्वरूप को प्रतीक चरित्रों के द्वारा अभिव्यक्त करता है। इसमें व्यक्ति के आन्तर और बाह्य, दोनों स्वरूपों को समग्रता के साथ परखा जाता है, इसीलिये यह उसके मूर्त और अमूर्त जीवन-स्पन्दन को प्रकट करने का प्रमुख साधन होती है। भाव-संवेग तथा उनके परिष्कार, दमन, मनोग्रंथियों, सामाजिक और वैयक्तिक कुण्ठाओं का निरूपण इसके द्वारा सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

उपन्यास के तत्त्व

तत्त्वों के सन्दर्भ में हम कथानक पात्र, कथोपकथन, भाषा, शैली वातावरण और उद्देश्य आदि का उल्लेख कर सकते हैं।

कथानक

'कथानक' शब्द अंग्रेजी के 'प्लॉट' की अर्थसंगति का पर्याप्य है। इसका प्रयोग पहले नाटक में क्षेत्र में किया गया था और उसी को ध्यान में रखकर इसकी व्याख्या भी की गई थी। उपन्यास के उद्भव के समय इसे वहीं से ग्रहण किया गया और निश्चित अर्थसंगति का वाहक भी बनाया गया। इसके विवेचन के दौरान एक बुनियादी सवाल सामने आता है कि क्या हर प्रकार के साहित्य में कथानक मौजूद रहता है ? इसका उत्तर भी हम कुछ उसी लहजे में दे सकते हैं, नहीं। लेकिन इस उत्तर-प्रत्युत्तर से कुछ सधता नहीं। गंभीरता से सोचने-विचारने से पता चलता है कि कथानक केवल उस प्रकार के लेखन का आधार है जिसका संबंध संघटना, कार्य-व्यापार और कालक्रम के प्रसार से होता है। इसे अन्य साहित्य-रूपों के उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। निबंध का संबंध विचार से है, अतएव वह कालक्रम से मुक्त होता है; गेय कविता मानस की क्षणिक कौंध होती है और पुनः कालातीत बन जाती है; पर नाटक, कहानी, उपन्यास, महाकाव्य और वीरगाथा काव्य में यह बात नहीं पाई जाती। इसमें कथासूत्र का ऐसा कालक्रम-सापेक्ष संघटन प्रस्तुत रहता है जो वर्णनात्मक होने के साथ ही व्यंजनापूर्ण भी होता है। इस दृष्टि से कथानक एक विशिष्ट अर्थ का वाहक बन जाता है। सामान्य अर्थ में इसे कालक्रम में प्रस्तुत कार्य-व्यापार के सुनिश्चित संघटन की संज्ञा दी जा सकती है। इसे जीवन के संघर्ष को वर्णनात्मक कलात्मकता के साथ प्रस्तुत करने और उनसे संबद्ध सहज और जटिल घटनाओं के निरूपण का बाह्य साँचा माना जा सकता है। 'अरस्तू' ने कहा था कि कथानक महाकाव्य या नाटक की प्रमुख आवश्यकता है। उनकी दृष्टि में यह किसी ऐसे कार्य-व्यापार पर आधारित होता था जो स्वतःपूर्ण था और जिसमें आदि, मध्य और अन्त की व्यवस्था होती थी। यह बात पण्डिताऊ थी, इससे संघटन का आभास तो मिलता था, पर उसके अतिरिक्त और किसी बात का ज्ञान नहीं होता था।

आज के जमाने में कथानक पर गंभीरता से विचार किया गया है। 'एडविन म्यूर' के शब्दों में कथानक किसी भी कहानी की घटना-शृङ्खला और उसको संग्रथित करने के सिद्धांत का परिचायक होता है।[1] इस उद्धरण से कथावस्तु और कथानक की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। 'ई० एम फार्स्टर' ने भी इनकी भिन्नता पर प्रकाश डाला है। उनके शब्दों में कहानी, काल के अनुक्रम में, व्यवस्थित घटनाओं का वर्णन

1. It designates the chain of events in a story, and the principle which knits it together.

मानी जा सकती है।[1] कथानक[2] में भी घटनाओं की शृङ्खला पाई जाती है, पर यह शृङ्खला आकस्मिक होती है। कथानक में काल के प्रवाह की व्यंजना निहित रहती है, पर उसका स्वरूप तर्कसंगत होता है। कार्य-कारण की इस शृङ्खला को इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है कि वह तर्कसंगत होने के साथ ही समन्वित और अर्थ-पूर्ण ज्ञात हो सके। कथानक विचार-प्रधान होता है और उसकी यही विशेषता घट-नाओं के सूक्ष्म तंतुओं को जोड़ती भी है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि कथानक, काल के प्रसार में, नियोजित घटनाओं की वह आकस्मिक शृङ्खला है जो 'मोटिव' (motive) को समृद्ध बनाती है और 'ड्यूरेशन' की भावना को विकसित करती है।[3] कथानक में तकनीक और रचना-पद्धति का सहयोग पाया जाता है। यह लेखक का प्रमुख उपादान है और इसी के द्वारा वह कृति के मनो-वैज्ञानिक, सामाजिक और परिवेशीय स्वरूप का अन्वेषण करता है। कथानक की चर्चा करते समय संघटना और 'रिद्म' की बात उठाई जाती है। इसमें शक नहीं कि इसका मूल केन्द्र-बिन्दु भी उपन्यास है और इनमें अर्थ, बिंब, चरित्र और दृष्टि-कोण की बात निहित पाई जाती है कथानक ऐतिहासिक, मिथकाश्रित, अनुकरण-मूलक और कल्पना-प्रधान, किसी भी तरह का हो सकता है।

साहित्य के सन्दर्भ में कथानक और विषय-विन्यास के संबंध की चर्चा की जाती है। कथानक विषय-विन्यास को रूपायित करने का प्रमुख साधन है और इसी के द्वारा हम यथार्थ को कलात्मक ढंग से परखते भी हैं, पर इसके लिये यह आवश्यक है कि हम किसी भी कहानी के संबंध में इसके संकोच और विस्तार को समझ लें। चरित्र कार्य-व्यापार को गतिशील बनाता है, फिर भी इसे कथानक का सहायक मानना विशेष उचित है। साहित्य के क्षेत्र में प्रायः तनाव (Tension) और सुलझाव (Resolution) की बात की जाती है। कथानक में लेखक अपने मानसिक तनाव को बिखेर या फैलाकर अन्त में उसे सुलझा लेता है। इस दृष्टि से इसका अपना अलग महत्त्व होता है। वैसे इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि कथानक के द्वारा घटनाओं की शृङ्खला को प्रस्तुत किया जाता है और घटनाओं की भी अपनी निजी विशेषता होती है। अब यह स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं हो सकती कि घटना-विशेष भी कथानक की किसी न किसी विशेषता से संदर्भित रहती है, अतएव उसका

---

1. A narrative of events arranged in their time sequence.

2. Plot is also the narrative of events, the emphasis falling on casuality.

3. A plot is merely a casual sequence of events arranged in some measure of time that allows a proper growth of motives and sense of devotion.

अपना निजी कथानक होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यास के प्रमुख कथानक का स्वरूप घटना, चरित्र और वार्तालाप के कथानक के संश्लेषण का प्रतिफलन होता है।[1] आरम्भ के उपन्यासों में यह दिशा बिलकुल स्पष्ट है। इसमें कथानक के आरंभ, मध्य और अन्त की पुरानी मान्यता स्पष्ट रूप से मिलती है, पर बाद में यह बदल गई है और पुरानी मान्यता के स्थान पर अब क्रमबद्ध विकास (Sequential Evolution) की बात उल्लेखनीय बन गई है। समसामयिक उपन्यास में एक नयी बात देखने को मिलती है। यहाँ उपन्यासकार कथानक को इस रूप में चित्रित करता है कि वह लेखक के मानस में दृश्य से लेकर यथार्थ तक के बोध के विकास को स्पष्टता से रेखांकित कर सके। यथार्थ की सूक्ष्म पकड़ की दृष्टि से लेखक अब काल की पुरानी मान्यता के स्थान पर चेतना-प्रवाह की बात सोचता है। इसके फलस्वरूप कथानक में परस्पर-विरोधी और निश्चित परिणाम को चित्रित करने वाले तत्त्वों की बहुलता हो जाती है जो हमारी अनुभूति के लिये नया अर्थ-संदर्भ ग्रहण करते रहते हैं।

कथानक के विचार-क्रम में हमने तनाव और सुलझाव की चर्चा की है। कहना न होगा कि तनाव दो विरोधी शक्तियों में होता है और सुलझाव उनके विरोधों के शमन और समन्वय की स्थापना में। कथानक में हमें एक विशेष प्रकार का तनाव और सुलझाव मिलता है। इसका संबंध यथार्थ के वस्तुगत और आत्मगत तत्त्वों के तनाव और सुलझाव से होता है। बाह्य घटना हमारी आन्तरिक भावदशा को प्रभावित करती है और यह प्रभावित भावदशा सृजन के समय उस घटना को नयी दीप्ति और नया अर्थ प्रदान करती है। इस प्रकार कथानक के निर्माण की स्थिति में हम वस्तुगत से आत्मगत और आत्मगत से वस्तुगत यथार्थ का अन्वेषण करते रहते हैं। जब वस्तुगत पक्ष आन्तरिक भावदशा के बीच होकर गुज़रता है तो उसमें एक निश्चित प्रकार की सप्राणता और जीवन्तता का संचार हो जाता है। यह जीवन्तता पुनः उसी वस्तुगत यथार्थ को नये परिवेश और नये रूप-रंग में देखने को बाध्य करती है। इसी के घात-प्रतिघात से कथानक में परिवर्तन और विकास होता रहता है। इस बात का संकेत किया जा चुका है कि कथानक कार्य-कारण की शृंखला का द्योतक हैं। इस शृंखला का मूल केन्द्र वस्तुगत और आत्मगत की 'डाइलेक्टिक' और उसका 'सर्कुलर मूभमेण्ट' होता है। वस्तुगत रूप कलाकार के आत्मगत चिन्तन की भट्ठी में तपकर जिस रूप में हमारे सामने आता है, उसे अनुभूति की एक कड़ी माना जा सकता है। यह कड़ी कुछ अंशों में अपने पूर्ववर्ती कच्चे माल की तुलना में अधिक परिष्कृत और

---

1. The particular temporal synthesis affected by the writer of the element of action, character and thought, that constitute the matter of his invention,

भावसबल होती है। सारांश यह कि वह कुछ बदल जाती है। यह बदलाव नये संबंध की खोज की बाध्यता के साथ अवतरित होता है। बाह्य वस्तुगत स्थिति से लेकर आन्तरिक विषयिगत स्थिति तक के इस अभियान—चक्रिल और द्वन्द्वात्मक अभियान—के पगचिह्न को कथानक में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। आरंभ में यह अस्पष्ट ज्ञात हो सकता है, पर कथानक के विकास के साथ यह स्पष्ट होता जाता है। इस दृष्टि से कथानक को संघटना न मानकर उस गतिशील संग्रथन का स्वरूप माना जा सकता है जो बाह्य और आभ्यान्तरिक संबंधों को वैज्ञानिक ढंग से उद्घाटित करता है। कथानक के सन्दर्भ में किसी संयोग द्वारा उत्पन्न उस घटना का, जो प्रस्तुत परिस्थिति को उद्घाटित करके हमारी संवेदनशीलता और बोध को परिष्कृत करे, विशेष अर्थ होता है। इस दृष्टि से घटना परिस्थिति का ज्ञान कराती है और परिस्थिति घटना का। इन दोनों में आन्तरिक संबंध होता है। यही अन्तःसंबंध परिवर्तन का दिशासूचक होता है। संघटना में हमें 'स्टेटिक' संबंध मिलता है, पर उपन्यास में प्रवहमान गतिशील अन्तःसंबंध। यही संबंध नाटक के अभिघटकों में भी होता है। इसकी तुलना जल के प्रवाह से की जा सकती है। जिस प्रकार जल के प्रवाह के लिये यह आवश्यक है कि उसकी धारा में सातत्य पाया जाय, वह अविच्छिन्न बना रहे और वह एक दिशा में बढ़ता जाय, उसी प्रकार उपन्यास के प्रवाह के लिये भी आवश्यक है कि उसके संघटक तत्त्व आपस में मिले रहें और एक दिशा की ओर उन्मुख हों। कथानक के इस विकासमय प्रवाह में बाह्य परिस्थितियों, घटना-क्रमों के परिवर्तन के सुनिश्चित मोड़ सरलता से देखे जा सकते हैं। ये सब आपस में समन्वित और मिले होते हैं। प्रायः लोग यह मान सकते हैं कि यह समनव्य सामान्य जीवन-में वस्तुओं की सजावट के सदृश होगा, पर यह बात ग़लत है। उपन्यास के कथानक का संघटन विशिष्ट अर्थों में कलात्मक होता है। इसमें कार्य-कारण-शृंखला पाई जाती है। यह संघटन आंशिक रूप में लेखक के दृष्टिकोण से भी प्रभावित होता है। कथानक की चर्चा के समय हम प्रायः लेखक की मानसिक स्थिति का उल्लेख नहीं करते जो माले के सूत्र की तरह उसके संपूर्ण कार्य में विद्यमान रहती है। हमें यह ध्यान देने की बात है कि कथानक केवल चरित्र, विचार और कार्य-व्यापार के तत्त्वों का निरुद्देश्य संश्लेषण नहीं होता, अपितु सोद्देश्य सश्लेषण होता है। वह शब्द के माध्यम से उस घटना की शृंखला को चित्रित करता है जो हमारे विचारों और भाव-संवेगों का अभिव्यक्तिकरण होती है। कथानक में कुतूहल बढ़ाने वाली शैली का उपयोग भी किया जाता है। हमारे सामने इसके द्वारा एक ऐसी दुनियाँ का चित्र उपस्थित होता है जो मनोरंजक होने के साथ ही विश्वसनीय भी होता है। यह विश्वसनीयता अनुभूति के खरेपन की विश्वसनीयता होती है। कथानक, अनुभूति और कल्पना में भी घनिष्ट संबंध होता है। कल्पना अनुभूति के कुछ तत्त्वों को सँजोकर कथानक में पिरोती है। यह एक मान्य सत्य है

कि कला-सृजन के पूर्व की अनुभूति कला में बहुत कुछ कट-छँट कर उपस्थित होती है। कला द्वारा व्यंजित अनुभूति का पाठक से सीधा संबंध होता है। उपन्यासकार की स्मृति भी घटनाओं को सुव्यवस्थित करने में सहायक सिद्ध होती है। उसकी अभिरुचि किसी भी रूप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं मानी जा सकती। सबसे बुनियादी सवाल कथानक का नहीं, उसके निर्वाह का होता है। लेखक का विषय अधिक महत्त्वपूर्ण अथवा कम महत्त्वपूर्ण किसी भी तरह का हो सकता है, पर अगर वह उसके निर्वाह में असफल हो जाता है तो उपन्यास प्रभावोत्पादक नहीं बन पाता। अच्छे उपन्यासकार के कथानक में ऐसे अनेक स्थल देखने को मिलते हैं जिनसे जीवन की संभावनाओं के नये भावकोण झलकते रहते हैं। ऐसी स्थिति में पाठक कुछ ऐसा प्राप्त करने में सफल होता है जिसकी उसे अपेक्षा थी। पर यह तभी संभव होता है जब कथानक लेख की अन्तर्दृष्टि और उसके सहजबोध का परिचायक होता है।

कथानक घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान या वातावरण-प्रधान किसी भी तरह का हो सकता है। संपूर्ण उपन्यास या तो परिच्छेदों में बँटे रहते हैं, या किसी अन्य रूप में विभाजित होते हैं। कथानक की दृष्टि से यह बँटवारा भी महत्त्वपूर्ण होता है। इससे लेखक मुख्य कथा में समन्वय स्थापित करता है और नये प्रसंगों को समाविष्ट करने में सफल होता है। घटना-प्रधान कथानक वर्णन के अंचल में पलता है। परिच्छेदों के द्वारा उस पर अंकुश रखा जा सकता है।

संगठित कथानक की कुछ विशेषतायें होती हैं। उसमें कार्य-कारण संबंध, वैचारिक नवीनता और चिन्तन-प्रसूत मौलिकता पाई जाती है। घटनायें जीवन से ग्रहण की जाती हैं और वे विश्वसनीय ज्ञात होती हैं। कलाकार की निर्माण-क्षमता उसके प्रत्येक अंश से टपकती है और वर्णनगत रोचकता उसका प्रमुख उपजीव्य होती है। इसका निर्माण सोद्देश्य होता है और उसमें जीवन की विविधता ओतप्रोत मिलती है।

शिथिल वस्तु-विन्यास-प्रधान उपन्यास

१९वीं शताब्दी के अन्त में पाश्चात्य साहित्य में कथानक के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई।[1] कई प्रमुख लेखक और विचारक इसका विरोध करने लगे। 'ई० एम०

1. The writer seems too constrained, not by his own free will, but by some powerful and unscrupulous tyrant, who has him in thrall to provide a plot, to provide a comedy, tragedy, love, interest and an air of probability, embalming the whole so impeccably that if all his figures were to come to life, they would find themselves dressed down to the last button in the fashion of the hour. But sometimes... we suspect a momentary doubt, a spasm of rebellion. Is life like this, must novels be like this.

फॉर्स्टर' ने तो कथानक के स्थान पर केवल कहानी की खोज शुरू की, पर अन्य लेखक सैद्धान्तिक रूप से इसके विरुद्ध लिखने लगे। 'आन्द्रे जाइड' ने शुद्धता की बात उठाते हुए कहा, "मैं उपन्यास को उन सभी तत्त्वों से मुक्त करना चाहता हूँ जो इसके कार्यक्षेत्र में नहीं आते। बाह्य घटनायें सिनेमा का विषय हैं, उपन्यास का नहीं।" 'वुल्फ' ने भी भिन्न स्वर में इसी बात को प्रतिपादित किया था। यह विरोधी स्वर उपन्यास में ही नहीं बुलन्द हुआ, अपितु नाटक में भी देखने को मिला। इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से मनोवैज्ञानिक और सामाजिक कारण थे जिनसे विन्यास का महत्त्व घटा। इसका एक प्रभाव पड़ा। बंधन से मुक्त होते ही लेखकों को जैसे कुछ छूट मिल गई, उन पर लदा हुआ भार कुछ हल्का हो गया। वे अब स्वतंत्र होकर अपने आन्तरिक स्वरूप की ओर उन्मुख हुए और वैयक्तिक चित्रण बिना रोकटोक के उपन्यास में आने लगे। इसके परिणामस्वरूप कथानक कुछ असंबद्ध हो गया और उसका सूत्र बिखर गया। इनमें घटना की इतनी अधिकता हो गई कि उन्हें कार्य-कारण-संबंध से बाँधना कठिन हो गया। कथानक में एकसूत्रता का अभाव होने से वर्णित घटनाओं का महत्त्व स्वत: बढ़ गया, पर ये घटनायें भी विशेष महत्त्व-पूर्ण न सिद्ध हुईं। इस आन्तरिक प्रयाण में असंबद्ध चित्रणों की बाढ़-सी आ गई। अब लेखक जीवन के किसी सुसंघटित कार्य-व्यापार के स्थान पर ऐसे जटिल जीवन-चित्रों को प्रस्तुत करने लगा जो पहले के उपन्यासों में नहीं पाये जाते थे। फिर क्या था, आज के उपन्यासों का कथानक आवश्यकता से अधिक दुर्बल हो गया। कथानक के क्षीण होने पर लोगों का ध्यान चरित्र के विश्लेषण की ओर गया। इससे एक बात देखने को मिली। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में कथानक परिस्थिति के चित्रण या चरित्र के विकास का सहायक बन कर उपस्थित हुआ। उपन्यासकार ने कथा के उन्हीं सूत्रों को रूपायित किया जो चरित्र को उभाड़ने या उसके पक्ष-विशेष पर प्रकाश डालने में सहायक सिद्ध हुए।

चरित्र-चित्रण

कहा जाता है कि उपन्यास जीवन का चित्र या चरित्र है। क्यों? इसीलिये न कि अन्य साहित्य-विधाओं की तुलना में इसमें जीवन का यथार्थ चित्रण अधिक पटुता और कौशल के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। उपन्यास एक विकास-संपन्न जीवन-चित्र होता है। जिस तरह हम जीवन पर भिन्न-भिन्न कोणों से विचार करते हैं, उसी तरह इस पर भी विचार करने के कई पहलू हैं। जब हम कथानक या उसकी संघ-टना की बात उठाते हैं, या उस पर विचार करते हैं तो हमारा ध्यान प्रमुख रूप से कला के उन तत्त्वों पर केन्द्रित रहता है जो उसकी संघटना को संभव बनाते हैं, उसकी बनावट-बुनावट के विधायक तत्त्व होते हैं, पर जब हम चरित्र पर विचार करते हैं तो बुनियादी तौर पर उन मूलभूत विशेषताओं को चित्रित करना चाहते हैं जो

व्यक्ति का निर्माणक ही नहीं, अपितु उनका उन्नायक भी होती हैं। हमारी चरित्र-संबंधी अवधारणा भी हमारे दैनिक जीवन में हमारी क्षमता के आधार पर बदलती रहती है। हम दूसरे व्यक्तियों के जीवन में वही देखते हैं जिसे हम देखना चाहते हैं। हम चरित्र की विशेषताओं को देखना चाहते हैं, कलात्मक सत्यों को देखना चाहते हैं। अतएव चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इन बातों का महत्त्व भी होता है। चरित्र को परखने के दौरान उस सन्दर्भ का ज्ञान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता जिसके बीच हम उसे देखते हैं। सन्दर्भ के अतिरिक्त परिस्थिति और संबंध का अनुभूति-मय प्रत्यय भी उल्लेखनीय है। ये बातें अपने समग्र प्रभाव से चरित्र को अर्थवान् बनाती हैं। सारांश यह कि चरित्र संन्दर्भ से जुड़ा होता है, अतएव वह स्वतंत्र नहीं होता। जिस तरह व्यक्ति के सन्दर्भ की बात होती है और उसका जीवन-क्रम विविध सन्दर्भों का एक समुच्चय होता है, उसी प्रकार उपन्यास के सन्दर्भ की बात भी होती है और संपूर्ण उपन्यास को विविध सन्दर्भों का एक समुच्चय माना जा सकता है। भेद केवल यह है कि जीवन के सन्दर्भ यथार्थ होते हैं और उपन्यास के सन्दर्भ कल्पना-प्रसूत और बनावटी। पर इसका यह मतलब नहीं कि वे अयथार्थ होते हैं। वे कल्पना के पुट के कारण यथार्थ से भी अधिक यथार्थ होते हैं। हमें ध्यान रखना है कि उपन्यासकार और उपन्यास का एक संबंध होता है। वह अपने उपन्यास में अप्रत्यक्ष रूप से अपने पात्रों के माध्यम से सदैव उपस्थित रहता है। जीवन की एक विशेषता है। हम अपने बोध द्वारा उसका सहजज्ञान कर लेते हैं, पर दूसरे व्यक्ति का ज्ञान निश्चित सन्दर्भ में होता है। उपन्यास में यह सहजज्ञान और सन्दर्भ-ज्ञान साथ ही मिलता है, पर इससे उसका सम्मोहन किसी भी रूप में कम नहीं होता। उसके द्वारा निरूपित जीवन-चित्र हमें यथार्थ से अधिक मोहक और आकर्षक ज्ञात होता है। उपन्यास की विशेषता इस बात पर निर्भर रहती है कि वह किस मात्रा में अविश्वास को स्थगित रखता है। इसमें एक विश्वसनीय मूल संवेदना होती है। उपन्यास हमें चरित्रों के सहज और आंतरिक स्वरूप से परिचित कराता है। अतः वह अधिक मोहक और आनंदप्रद होता है। यह सहज और स्वाभाविक सचेतन व्यापार हमें तब मिलता है जब हम किसी निश्चित दृष्टिकोण से उसकी आंतरिक मनोदशा का पर्य-वेक्षण करते हैं। इस स्थिति में उसके संबंध-वैविध्य को अनुभव-प्रधान रूप में प्रस्तुत किया जाता है, अतएव संदर्भ किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। दुनियाँ के संबंध पर्याप्त व्यापक होते हैं। उपन्यासकार अपनी विशिष्ट अनुभूति के आधार पर इन संबंधों को सीमांकित करता है। यह सीमांकन इस रूप में होता है कि उसकी सीमा में आए हुए चरित्र और पात्र और जीवंत हो उठते हैं और वे हमें एक अंतर्दृष्टि प्रदान करने लगते हैं। उसकी सीमा कुछ इतनी प्रच्छन्न होती है कि पात्रों और चरित्रों के प्रत्यक्ष स्वरूप के अतिरिक्त हमें और भी ज्ञान प्राप्त होता है। चरित्र-चित्रण में व्यक्ति सामान्य जीवन-स्वरूपों, मानवीय आदर्शों, आंतरिक

गतिशीलताओं के साथ ही जीवन की कुंठाओं तथा अनाम और अरूप स्वरूपों को भी प्रस्तुत कर सकता है। वह चरित्र के माध्यम से जीवन की विसंगति को भी द्योतित कर सकता है। वह उन आंतरिक संघर्षों को भी निरूपित कर सकता है जो आज की सभ्यता और संस्कृति पर प्रश्नवाची चिह्न लगा सके हैं। यहाँ चरित्र बाह्य संदर्भों से कटे हुए नज़र आते हैं, फिर भी उनका एक अपना संदर्भ होता है। जो लोग इस बात पर ध्यान नहीं देते, वे सफल उपन्यासकार नहीं हो पाते। 'केनेथ वर्क' ने एक बार कहा था कि वस्तुगत यथार्थ शब्दों की सापेक्षता से प्राप्त होने वाले बदलते परिवेशों से कुछ विगलित हो जाता है। ऐसा सोचना स्वाभाविक है। परन्तु यह बात सत्य नहीं है। हम दरअसल विभिन्न परिदृश्यों की सही समझ के आधार पर ही चरित्र के यथार्थ को स्थापित कर सकते हैं।[1]

ऊपर हमने संदर्भ और चरित्र का उल्लेख किया है। यथार्थ में परिदृश्य-वैविध्य दूसरे से संबद्ध संदर्भमय ज्ञान और उसमें निहित संबंधों के घात-प्रतिघात का परिचायक है। उपन्यास में यह बात विशेष रूप से देखने को मिलती है। उपन्यास में चरित्रों की बहुलता होती है। उसका संबंधमय ताना-बाना होता है और कोई भी चरित्र उसी से बुरी तरह घिरा रहता है और हर पात्र से स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में प्रभाव और प्रेरणा ग्रहण करता है। इससे संदर्भ जीवंत बनता है। यथार्थ में जीवन कृत्रिमता, आडम्बर और आरोपित तथ्य पर विशेष रूप से पलता है। हर व्यक्ति अपने अहं के कारण अपने को एक संकीर्ण दायरे में बन्द कर लेता है। उसकी कुछ सामान्य विशेषताएँ होती हैं जो सामान्य व्यक्ति में वितृष्णा उत्पन्न करती हैं। पर उपन्यास में ये चरित्रगत विचित्रतायें भी आनन्दप्रद बन जाती हैं। परिदृश्य-वैविध्य, विश्व-वैविध्य और अनुभूति-वैविध्य का मुखापेक्षी होता है। 'डब्लू० जे० हारवे' ने परिदृश्य को भी दो प्रकार का माना है। प्रथम को हम परिदृश्य का बाह्य लक्ष्य-विस्तार (perspective of range) और दूसरे को परिदृश्य का आंतरिक लक्ष्य-विस्तार (perspective of depth) कह सकते हैं। प्रथम का संबंध लक्ष्य के बाह्य विस्तार और उसके अभिघटकों से होता है और दूसरे का लक्ष्य के अन्तर्विस्तार और उसके संघटकों से होता है। दूसरे प्रकार का परिदृश्य गतिशील और प्रवहमान होता है। कुछ चरित्र स्पष्ट होते हैं और कुछ अस्पष्ट। उपन्यास के पात्रों को भी तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है: (१) नायक (Protagonist), (२) सहायक पात्र (Back-ground Character) और (३) फिसेले (Ficelle)। नायक प्रमुख माना

It is customary to think that objective reality is dissolved by such relativity of terms as we get through shifting of perspectives (the perception of one character in terms of another character). It is by approach through a variety of perspective that we establish a characters reality.

जाता है। इसका निरूपण स्पष्ट रूप में किया जाता है। जीवन के महत्त्वपूर्ण मसले इन्हीं से संबद्ध दिखाये जाते हैं और इनके उत्थान और पतन के साथ लेखक का सीधा लगाव होता है। इनमें लक्ष्य स्पष्ट होता है। सहायक पात्रों का अपना अलग अस्तित्व नहीं होता। इनका स्वरूप प्रासंगिक होता है और ये चरित्र तथा कथानक को उचित दिशा प्रदान कर अदृश्य हो जाते हैं। तृतीय प्रकार के चरित्रों की दो श्रेणियाँ हैं। (१) एक तो वे चरित्र होते हैं जो सहायक चरित्रों से विशिष्ट रूप में चित्रित किये जाते हैं और इनके साथ निश्चित उद्देश्य जुड़ा रहता है और (२) दूसरे वे होते हैं जिन्हें माध्यमिक चरित्र (Intermediate Character) अथवा 'कार्ड' (Card) कहा जाता है। 'कार्ड' को हास्य और करुणा प्रधान पात्र माना जाता है। ये अन्य पात्रों की तुलना में कुछ स्वतंत्र होते हैं। पाठक अथवा दर्शक के समक्ष ये प्रमुख पात्र की उलझन को दूर करते हुए दिखाये जाते हैं। फिसेले (Ficelle) का उपन्यास में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। वे कथानक के विकास में सहायक हो सकते हैं और प्रमुख पात्र के कुछ अंशों को प्रकाशित कर सकते हैं।

दीप्तिमय अनुभूति को ग्रहण करने के क्षण का भी उपन्यास में महत्त्व होता है। इस असामान्य स्वरूप को जीवन के सामान्य स्वरूप से बँधा होना आवश्यक है। इसी सहसंबंध के कारण अनुभूति का यह असामान्य क्षण संपूर्ण उपन्यास में बिखर जाता है और उसके महत्त्वपूर्ण अंश हमें पात्रों के माध्यम से भी मिलते हैं। प्रमुख पात्र, सहायक पात्र, हास्य-प्रधान पात्र और विशिष्ट पात्रों के माध्यम से उपन्यासकार अन्तर्विस्तार का अवगाहन करता है। चरित्रों का मानवीय संदर्भ होता है। वे अनेक पात्रों और व्यक्तियों से संवद्ध होते हैं और उनके घात-प्रतिघात से इनका विकास होता है। सृजक के रूप में वह निश्चित पात्रों के समुदाय को प्रस्तुत करना चाहता है और इसके द्वारा वह महत्त्वपूर्ण तथ्य निरूपित करता है। इस निरूपण में कल्पना और तथ्य का सामंजस्य रहता है। उपन्यासकार जीवन को देखता है, इससे अनुभूति ग्रहण करता है और पुनः कल्पना के माध्यम से इन्हें मूर्त्त स्वरूप प्रदान करता है। कल्पना इन्हें अधिक जीवंत और सप्राण बना देती है। यह बाह्य क्रियाकलापों के महत्त्व को कम करने के साथ ही मानसिक चित्रों को भी सरल बनाती है और लेखक को विवेकानुशासित रूप में एक भाव-संवेग से दूसरे भाव-संवेग तक पहुँचाती रहती है। इसी विशेषता के कारण उपन्यास जीवन का सफल चित्र उरेहता है। ऊपर हमने प्रमुख, विशिष्ट और सहायक चरित्रों का उल्लेख किया है। उन्हें एक भिन्न श्रेणी में बाँटा जा सकता है : (१) पूर्ण चरित्र, (२) सपाट चरित्र, (३) पूर्ण सुगठित वर्तुल चरित्र। पूर्ण चरित्रों में व्यक्तियों की अप्रतिम व्यंजना पाई जाती है। इसमें सभी व्यक्तित्व-व्यंजक स्वरूपों का समावेश रहता है। यह तीन आयामों वाला होता है। सपाट चरित्र, पूर्ण चरित्र से भिन्न होता है। इसमें चरित्र

के किसी एक पक्ष पर विचार किया जाता है। इस प्रकार चरित्रों में चित्त-वृत्तियों के घात-प्रतिघात, असामंजस्य, संघर्ष तथा शक्ति और सफलता का संयुक्त रूप देखने को मिलता है। इसको अपनाने वाले उपन्यासकार का निरीक्षण सूक्ष्म होता है। वह अपनी पूरी शक्ति किसी एक चरित्र को सँवारने में लगा देता है, पर उसके चरित्र के वे सूक्ष्म तंतु हमारे सामने उभड़ कर नहीं आ पाते जो कई दृष्टियों से विशेष महत्त्वपूर्ण होते हैं। सपाट चरित्र निश्चित दृष्टिकोण से मानस की गहराई को नापने के सफल माध्यम होते हैं। इसीलिये सभी सफल चरित्र प्रायः सपाट होते हैं। हास्य-प्रधान चरित्र भी इसी श्रेणी में आते हैं। पूर्वसुगठित और वर्तुल चरित्रों का निर्माण विभिन्न स्थायी तत्त्वों के सहयोग से होता है। ये हमें आश्चर्य-चकित कर देते हैं और इनका कार्य अप्रत्याशित हो सकता है, पर असंभव नहीं।

इस बात का संकेत किया जा चुका है कि चरित्र देखने में यथार्थ लगते हैं, पर वे असल में यथार्थ नहीं होते। उपन्यास के चरित्र जीवन में नहीं, उपन्यास में क्रियाशील पाये जाते हैं। वे निश्चित कथासूत्र के अंग होते हैं। उपन्यासकार इन चरित्रों को जीवन से ग्रहण करता है, पर आवश्यकता के वशीभूत होकर वह उनसे उतना ही ले पाता है जितना कि उपन्यास के सफल निर्वाह के लिये आवश्यक है। वह विधि-निषेध अथवा चुनाव और त्याग से काम लेता है। वह दरअसल उन्हीं तत्त्वों को उभाड़कर रखता है जो उसके अवधान को केन्द्रित करने अथवा उसकी कल्पना को उद्बुद्ध करने में सक्षम होते हैं। वह यथातथ्य चित्रण के स्थान पर यथासंभव चित्रण को महत्त्व देता है और यह चित्रण विश्वसनीय होने के साथ ही अजीबो-ग़रीब नहीं होता। हर विचार अथवा पात्र का आदि स्रोत अवश्य होता है, पर उपन्यास में चित्रित होने के बाद पात्र का उस आदि स्रोत से संबंध हो भी सकता है, और नहीं भी हो सकता। प्रायः लोग डायरी और नोटबुक की बात उठाते हैं, पर ऐसा करते समय वे भूल जाते हैं कि उपन्यासकार सृजक भी है और वह अपने कथासूत्र को अपनी सर्जनात्मकता के आधार पर विकसित करता है। इस क्रिया में यथार्थ एक जीवन-चरित्र के रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है। 'राबर्ट लिडिल' (Robert Liddle) ने चरित्र-निर्माण की क्रिया को 'बटलर' के मिथक-निर्माण की क्रिया के सदृश माना है। इस मिथक में ऐसा देखा जाता है कि अजन्मे लोग जन्म लेने की दृढ़ प्रतिज्ञा करते हैं और अपने भविष्य के पिता के मस्तिष्क को तब तक प्रमथित और उद्विग्न बनाते रहते हैं जब तक वे जनम नहीं जाते। चरित्र-निर्माण के साथ भी यही बात घटित होती है। अमूर्त स्मृतियाँ और विचारधाराएँ उसके मस्तिष्क को तब तक निरंतर उद्विग्न बनाये रहती हैं जब तक उन्हें सजा-सवाँर कर हमारे सामने रख नहीं देता।

उपन्यास में चरित्र-निर्माण के दो रूप होते हैं। पहला रूप वह है जब लेखक

घटनाओं के समूह को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करके इन्हीं के संदर्भ में चरित्रों की प्रतिक्रिया नोट करता है। दूसरा रूप वह है जब वह कहानी के किसी बिंदु पर चरित्र को प्रस्तुत करके उसका पूर्ण विवरण देता है। घटनाओं के प्रतिक्रियास्वरूप प्रस्तुत किया जाने वाला चरित्र उपन्यास के अंत में पूर्ण होता है। इस प्रकार के चरित्र को घटनाओं के बीच से होकर गुजरना पड़ता है और पात्र प्रत्येक घटना के प्रति अपनी प्रतिक्रिया प्रदर्शित करता रहता है। इस प्रकार घटनाओं की शृङ्खला के स्थान पर कार्य-व्यापार की एक शृङ्खला भी देखने को मिलती है जो चरित्र के आरोह-अवरोह को उद्‌घाटित करती है। दूसरे प्रकार के चरित्र-चित्रण में लेखक किसी निश्चित स्थान पर पात्रों के रहन-सहन, रुचि, शिक्षा-दीक्षा, मानसिक परिवेश तथा उसकी घृणा और प्रेम आदि का वर्णन करता है और इन चरित्रगत विशेषताओं को चित्रित करने के लिये घटनाओं की सर्जना करता है। मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण की पद्धति में हम इन दोनों स्वरूपों के समन्वित रूप का प्रयोग करते हैं। हम कुछ अंशों में पात्र के चरित्र को वर्णनात्मक ढंग से प्रस्तुत करते हैं तो उसके शेष अंश को घटनाओं के प्रति उसकी प्रतिक्रिया द्वारा पूरा करते हैं। इस प्रकार इन दोनों प्रकार की पद्धतियों के समावेश से उपन्यास में एक ऐसा बिन्दु आता है जहाँ हम यह मजे में समझ सकते हैं कि पात्र अपने पूर्ण अस्तित्व में हमारे सामने प्रस्तुत है। चरित्र-चित्रण में इन तीनों पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है। पर हर स्थिति में चरित्र-चित्रण की शैली और चरित्र की पूर्णता के बिंदु में भेद होता है। मनोविज्ञान के आविर्भाव के पूर्व इसमें केवल दो पद्धतियों का प्रयोग किया जाता था। पर बाद में चेतना की आंतरिक गतिशीलता को ग्रहण करने की दृष्टि से वे अपर्याप्त सिद्ध होने लगीं। इसी समय चेतना-प्रवाहवाद का भी सूत्रपात हुआ। यह विचारधारा काल को निरंकुशता से बचने का एक उपक्रम मात्र थी। विशिष्ट स्मृतियों के माध्यम से भूत वर्तमान को प्रभावित तो करता ही है, पर इसके प्रभाव का एक अन्य अनिश्चित और सूक्ष्म तरीका है। हमारा मस्तिष्क गतिशील रहता है और इस गतिशीलता में वह घटनाओं की प्रतिक्रिया भी प्रदर्शित करता रहता है। इस प्रतिक्रिया का संबंध चरित्र से होता है। इसकी एक प्रमुख विशेषता होती है। घटनाओं के प्रति चरित्र की प्रतिक्रिया को प्रस्तुत करते समय उपन्यासकार ऐसी मन:स्थितियों को चित्रित करता है जो वर्तमान परिस्थितियों से प्राप्त अनुषंगों और स्मृतियों से परिष्कृत होती रहती हैं और भूत की सतत् परिवर्तनशील घटनाओं का संकेत भी करती हैं। इससे लेखक चरित्र की वर्तमान मन:स्थिति का संकेत तो करता ही है, साथ ही उसके जीवन से संबद्ध भूत की घटनाओं को भी द्योतित करता जाता है। इस खेवे के उपन्यासों का काल-विस्तार सीमित होता है। इस प्रकार के चरित्र-चित्रण में मानसिक स्वरूप भौतिक स्वरूप के माध्यम से व्यंजित किया जाता है। इस पद्धति के सहारे चरित्रों के परिवर्तन को सरलता से रेखांकित किया जा सकता है।

चेतना-प्रवाहवाद के साथ ही चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में विवेक के प्रवाह (The stream of conscience) की बात भी उठाई जाती है । इसके प्रतिपादक 'एलेन फ्रीडमन' महोदय हैं । उनकी धारणा है, "हर प्रमुख पात्र को उपन्यास के आरंभ में सापेक्ष दृष्टि से निष्कलुष होना चाहिए । इसी आधार पर नायक और नायिका का संबंध होता है । यह निष्कलुषता या अबोधता घटनाओं के नियोजन से उत्पन्न होती है, अतएव उपन्यास के लिये विशेष सहायक सिद्ध होती है । आरंभ में यह आवश्यक है कि जो कुछ भी घटित हो रहा है, उससे पात्र अनभिज्ञ रहें । पात्र की अबोधता से उसके आंतरिक परिदृश्य का निर्माण होता है और वह बाद में बाह्य प्रभाव के कारण आने वाली अनुभूति को सरलता से मूल्यांकित भी कर सकता है । बाह्य प्रभाव की निष्कलुषता को वह अंतःकरण की ओर उन्मुख करता है । इसके परिणामस्वरूप चरित्र की दृष्टि से हर क्षण प्रतिचेष्टा की एक शृङ्खला बनाता जाता है जो बोध और कार्य से संबद्ध होती है । यही विशेषता चरित्र और उसके परिवेश का निर्माण करती है ।" इस प्रकार उपन्यास की प्रमुख आत्मगत शक्ति वह दबाव है जो केवल अनुभूति से संबद्ध नहीं होता, बल्कि उसके प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित करके उसकी व्याख्या भी करता है । प्रतिचेष्टा अनुभूति को व्याख्या और पात्रों की विशेषता को चित्रित करती है । इस प्रकार उपन्यास के पात्र अपनी व्याख्या करने के साथ ही उस परिवर्तनशील अनुभूति की व्याख्या भी करते हैं । यह व्याख्या की दुहरी क्रिया उपन्यास की कल्पना-प्रधान गति अथवा विकास का सूचक है । यह क्रिया एक अनुभूति को दूसरी अनुभूति पर लादती नहीं, बल्कि निष्कलुषता से उसे दूसरी अनुभूति की ओर प्रेरित करती रहती है । पात्रों के प्रति चेष्टा की शृङ्खला व्याख्या की शृङ्खला भी होती है । अतएव इसे उपन्यास की प्रमुख नैतिक क्रिया माना जा सकता है ।

हम इसका संकेत कर चुके हैं कि उपन्यास के आरंभ की अवस्था—निष्कलुषित अथवा अनभिज्ञ पात्रों के सन्निवेष की अवस्था—पूर्वतत्परता की आवश्यकता नहीं होती । इस अवस्था में जब परिस्थितियों और अनुभूतियों का दबाव पड़ता है तो प्रतिचेष्टा के साथ ही पात्र, व्याख्या और घटना का आविर्भाव होता है । उपन्यास के अस्तित्व की चर्चा करते समय 'मार्क शोरर' ने सामाजिक इतिहास के प्रवाह और आत्मा के प्रवाह के परस्पर विभाजन का उल्लेख किया है । उनकी दृष्टि से इस विभाजन से ऐसे तनाव उत्पन्न होते हैं जो विषय-विन्यास को संभव बनाते हैं । इससे हम दो कदम आगे बढ़ कर कह सकते हैं कि आत्मा के बहाव और सामाजिक इतिहास के बहाव का यही कटाव हर वैयक्तिक घटना में तनाव उत्पन्न करता है जिससे उपन्यास अस्तित्व में आता है । आत्मा सामाजिक इतिहास के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करती है । यह अवरोध अन्तर्द्वन्द्व का मूल कारण होता है । हर चरित्र में एक आंतरिक शक्ति पाई जाती है और उसके समक्ष बाह्य आदर्श भी होता है । इस

आंतरिक शक्ति और बाह्य आदर्श के अन्तर्द्वन्द्व से भी उपन्यास लाभान्वित होता है। इसे उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। मान लें, एक युवती है जिसे प्रेम का भूत लगा है। उसका प्रेमी आता है और उससे प्रेम दिखाने में उसकी कमर के चारों ओर हाथ डाल देता है। ऐसी परिस्थिति में उसकी प्रेम-संबंधी प्रतिक्रिया विभक्त हो जाती है। उसकी प्रतिचेष्टा से हमें दो बातें देखने को मिलती हैं—(१) वह क्या अनुभव कर रही है और (२) उस अनुभव को कार्य रूप मे कैसे परिणत कर रही है। जब उपन्यासकार इस रूप में मानव-जीवन की प्रतिक्रिया का सूक्ष्म अध्ययन करता है तो इससे व्याख्या-बोध और कार्य-व्यापार का आविर्भाव होता है और उसके आत्मगत और वस्तुगत का यही द्वन्द्व उपन्यास की प्रमुख शक्ति भी सिद्ध होता है। पात्रों और घटनाओं के इसी सम्मिलन से उपन्यास में प्रवाह उत्पन्न होता है। उसकी स्थिति नदी के प्रवाह के सदृश हो जाती है। जिस प्रकार नदी विभिन्न स्रोतों से जल ग्रहण करने के बावजूद अपने प्रवाह की अविच्छिन्नता को बनाये रखती है, उसी प्रकार उपन्यासकार भी अपने उपन्यास के प्रवाह को निरंतर गतिशील रखता है। जिस प्रकार नदी के प्रवाह का किसी स्थान-विशेष से दृश्यांकन किया जा सकता है, उसी प्रकार उपन्यास में निहित घटना-विशेष को भी सरलता से परखा और देखा जा सकता है। इस प्रकार उपन्यास में प्रस्तुत घटना का भी प्रवाह होता है जो आत्मगत और वस्तुगत के संघर्ष से उत्पन्न होता है।

यहाँ आधुनिक उपन्यासों के चरित्र-चित्रण पर भी दो शब्द कह देना अनुचित न होगा। 'मेरी मेकार्थी' ने इन पर विचार करते हुये लिखा है—"ये उपन्यास संवेदनशील होते हैं और इनमें चेतना की टिमटिमाहट मन:सृष्टि का प्रमुख केन्द्र-बिन्दु होती है। घटनाओं को छोटे-छोटे ऐन्द्रिय प्रभाव-सम्पन्न टुकड़ों में बाँट दिया जाता है। इस प्रकार के उपन्यास कम परिष्कृत और अधिक तथ्यात्मक होते हैं। पुराने उपन्यासों के नायक और चरित्रों में—हमारे आत्मगत और वस्तुगत स्वरूप में—एक अस्थिर संबंध देखने को मिलता है। व्यक्ति के रूप में हम शंकाग्रस्त जीवन व्यतीत करते हैं, फिर भी हम अपनी कहानी के नायक बने रहते हैं। जीवन की करुण कहानी को हम झेलते हैं और इसी दृष्टि से दुनियाँ को देखने की कोशिश भी करते हैं। आधुनिक उपन्यास में यह बात बदल गई है। अब हम वस्तु को विषय के रूप में और विषय को वस्तु के रूप में चित्रित करने लगे हैं। हम अपने लिए विषय हैं और दूसरे के लिये वस्तु। इसके कुछ अच्छे-बुरे परिणाम भी देखने को मिले हैं। प्रयोग की निरंतरता के साथ नायक दृश्य-पट से अदृश्य होने लगा है। इस कारण उपन्यास में इसके पहले जो स्थायित्व पाया जाता था, वह समाप्त हो गया है। पहले के उपन्यास को जीवन का व्यवस्थित अनुकरण माना जाता था और उनमें जीवन के चित्रों को खोजने की कोशिश की जाती थी। पर, बीसवीं शदी में यह दृष्टिकोण भी पूर्ण रूप से बदल गया है। अब वक्रता (obliquity), ऐच्छिक विरूपीकरण (Deliberate

distortion) और मूर्त निरूपण से पलायन को अभीप्सित महत्त्व दिया जाने लगा है। जब सर्जक का ध्यान इस विचित्रतापूर्ण अठखेलियों से उलझ गया है तो पुराने चरित्र-चित्रण की बात उठाना कितना तर्कसंगत है, यह पाठक ही समझ सकते हैं।

आज चरित्र-चित्रण पर भी तरह-तरह से प्रहार किया जाने लगा है। मिसेज 'क्यू० डी० लेविस' ने अपनी पुस्तक 'फिक्शन एण्ड रीडिंग पब्लिक' में इस पर कई रूपों में आक्षेप किया है। उनका कहना है कि चरित्र-चित्रण-प्रधान उपन्यास की तुलना चित्रकक्ष से की जाती है। कोई भी उपन्यास जब विचार का विषय बनता है तो हमारा ध्यान अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्यों से हटकर उसी पर केन्द्रित हो जाता है। ऊँची कोटि के उपन्यासकार विश्वसनीय चरित्रों को नहीं प्रस्तुत करते। उपन्यास और जीवन में अनावश्यक सूत्र की खोज के कारण उससे प्राप्त होने वाले आनंद से भी हम वंचित रह जाते हैं। असल में ये ऊपरी आक्षेप बहुत तर्कसम्मत नहीं हैं। उपन्यास और उसके संदर्भ की बात इसके पहले के पृष्ठों में उठाई जा चुकी है। जीवन-चित्रण और उपन्यास के संबंध की भी चर्चा की गई है। यहाँ इस प्रसंग में केवल इतना कहना पर्याप्त है कि अगर जीवन आरोपित नहीं, अनुभूत है और पात्रों का प्रयोग आदर्श की प्रतिष्ठा के रूप में नहीं, बल्कि जीवन-क्रम के विकास के रूप में किया गया है तो ये समस्याएँ उठ ही नहीं सकतीं। चरित्र के संदर्भ में भाषागत आदर्श की भी बात उठाई जाती है। इसमें शक नहीं कि इनका अपना महत्त्व होता है और ये सूक्ष्म प्रत्ययों को संदर्भों से जोड़ते हैं। पर, इस बुनियादी सवाल पर विचार करते समय हम अनुभूति के खरेपन को आँख से ओझल नहीं कर सकते। हमें ध्यान रखने की जरूरत है कि अनुभूति जितनी ही अधिक खरी और प्रभावोत्पादक होती है, भाषा का निरूपण भी उतना ही सहज और स्पष्ट तथा चरित्र भी उतने ही साफ-सुथरे बन जाते हैं। अनुभूति की व्याख्या के लिये हम केवल मनोविज्ञान के ऋणी नहीं होते, अपितु प्रातिभ ज्ञान का भी सहारा ग्रहण करते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि मनोविज्ञान या तो चरित्रों को आवश्यकता से अधिक प्रकृतवादी बना देता है, या भावों का अमूर्त संश्लेषण उपस्थित करता है। इसमें खंड के चित्रण में अखंड की बलि दी जाती है। असल में मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण अगर हमारी यथार्थ मानसिक दशा, विश्वास, संबंध, सहानुभूति और बोध की आवश्यकता से अधिक अवहेलना करता है तो हमारे लिये विशेष उपयोगी नहीं सिद्ध होता। मनोविज्ञान का उपयोग चरित्र के आवश्यक सूक्ष्म स्वरूपों के लिये किया जाना चाहिये, न कि चरित्र का उपयोग मनोविज्ञान की निष्पत्ति को सिद्ध करने के लिये। यह हमारा साधन होना चाहिये, साध्य नहीं। जब मनोविज्ञान को साध्य मानकर चरित्र-चित्रण किया जाने लगेगा तो वह आग्रह-मुक्त नहीं बन सकेगा। कला जीवन का निश्चित दृष्टिकोण से ग्रहण किया गया चित्र है और इसी चित्र के आधार पर हम जीवन की उपयुक्तता और अनुपयुक्तता पर विचार करते हैं।

पर आज के लोग नयी गवनहारिन और नयी तान अथवा नयी बाँसुरी और नये राग को अलापना अपना जीवन-धर्म समझते हैं। जरा उनकी बात तो सुनिये—"व्यक्ति कलाकृति से आनंद न ग्रहण करके अपने भाव-संवेग से आनंद ग्रहण करता है। इस प्रकार कलाकृति उस आनंद का कारण मात्र है। जीवन और कला भिन्न हैं। जहाँ जीवन का अंत है, वहाँ से कला शुरू होती है।" बात तो पते की है और कला-संबंधी सूक्ष्मताओं का मजे में पता भी लगाया गया है। पर इस प्रकार की उक्तियों से साहित्य का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। हमें ध्यान रखना चाहिये कि साहित्यकार 'मरजीवा' होता है। वह अपनी कृतियों में न मालूम कितनी बार मरता और जीता रहता है। यही जीवन और मरण की क्रिया तो उसके सृजन का रहस्य है। कहा जाता है कि आज जीवन विघटित हो रहा है, व्यक्ति अपने में टूट रहा है, उसकी भावनाएँ बिखर रही हैं और वह अपने अंदर ही अंदर घुटन महसूस कर रहा है। जब उसका कोई चरित्र ही नहीं रह गया है तो फिर चरित्र-चित्रण का प्रश्न ही कहाँ उठता है? यह बात कुछ हद तक ठीक भी है। सब कुछ खंडित हुआ है और बिखरा है। व्यक्ति टूटा है और अपने को अपांग महसूस कर रहा है। उसकी आस्था डिगी है और वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ स्थिति में हमारे समक्ष उपस्थित है। वह शव है और दूसरों की लाश अपने कंधे पर ढो रहा है। उसका अस्तित्व है भी या नहीं। पर यह भी सत्य है कि इस नारेबाजी के बावजूद व्यक्ति अभी दो हाथ-पाँव वाला, हिलता-डुलता, खूबसूरत, जवान, वृद्ध या बालक बना हुआ है। वह कार्य करता है जो उसके जीने का उपक्रम है। उसका एक चरित्र है जो ढुलमुल स्पष्ट या अस्पष्ट किसी भी तरह का हो सकता है; तो फिर इसके होते हुये भी चरित्र पराङ्मुखता क्या सत्य से पलायन नहीं है?

भाषा—उपन्यास में कथोपकथन का प्रयोग कई दृष्टियों से किया जाता है। जब लेखक किसी बात को वर्णनात्मक शैली में प्रभावोत्पादक ढंग से नहीं स्पष्ट कर पाता, अथवा किसी ऐसे मनोभाव को चित्रित करना चाहता है जो उपमानों से नहीं बन पाता तो ऐसी स्थिति में कथोपकथन का सहारा लिया जाता है। कथानक के विकास, पात्रों की मनःस्थिति के सूक्ष्म चित्रण अथवा उपन्यास के उद्देश्य को स्पष्टतापूर्वक निरूपित करने के लिये इसका उपयोग किया जाता है। उपन्यास में प्रयुक्त कथोपकथन सारगर्भित, सहज, स्वाभाविक, संक्षिप्त और परिस्थिति के अनुकूल होता है। इसमें भावात्मक संस्पर्श पाया जाता है, अतएव यह सजीवता और चमत्कार उत्पन्न करने का प्रमुख साधन सिद्ध होता है। इसी के सहारे उपन्यासकार हास्य और व्यंग्य को सरलता से अभिव्यक्त करता है। इस अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा होती है। इसके अध्ययन के समय एक बात देखने को मिलती है कि कथा प्रस्तुत करने की भाषा; विचार, प्रत्यय और विश्लेषण को प्रस्तुत करने की भाषा

और चरित्रों द्वारा बोली जाने वाली भाषा में प्राय: अंतर होता है। कुछ ऐसे उपन्यास देखने को मिलते हैं जिनमें ये तीनों तत्त्व पाये जाते हैं। इन उपन्यासों को हम उपकथा-विषयक (Episodic) उपन्यास कहते हैं और उसमें प्रयुक्त शैली को उपसंयोगीय (Paratactic) शैली कहते हैं। इसमें विविध प्रकार की सामग्री का उपयोग किया जाता है जो पूर्ण रूप से समन्वित नहीं होती, अतएव किस्म-किस्म की शैलियों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। उपन्यास में अन्य साहित्यिक विधाओं का समावेश भी रहता है और उसके अनुरूप शैली का प्रयोग भी किया जाता है। उपन्यास की भाषा-शैली संप्रेषण का कार्य करती है। 'रिचर्ड एम० ईस्टमैन' का कहना है कि अगर हम भाषा को उपन्यास का प्रमुख निर्देशक तत्त्व मानें तो इसमें कोई अतिरंजना न होगी। भाषा का उपन्याम से सीधा संबंध होता है और उपन्यासकार इसी के माध्यम से जीवन की अन्तर्निहित क्षमता को स्पष्ट भी करता है। भाषा का प्रमुख निर्माणक तत्त्व शब्द है। यह दो प्रकार का होता है—विशिष्ट और सामान्य। इस दृष्टि से हम पद-शैली को भी विशिष्ट और सामान्य दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। विशिष्ट पद-विन्यास का प्रमुख कार्य ऐन्द्रिय अनुभूतियों के सूक्ष्म वर्णन द्वारा ऐन्द्रिय-बोध को जागृत करना है और सामान्य पद-विन्यास का कार्य उसे संक्षिप्त करना है। प्रथम जहाँ औपन्यासिक वर्णन को रंगीन, विविध और संवेदनपूर्ण बनाता है, वहीं दूसरा उसको सीमांकित करता है। पद-विन्यास को औपचारिक और अनौपचारिक दो अन्य भागों में भी विभक्त किया जा सकता है। औपचारिक पद-विन्यास कृत्रिम, अलंकृत और अस्वाभाविक होता है और अनौपचारिक सहज और स्वाभाविक। इनका संबंध भाषा के अलंकृत और अनलंकृत स्वरूपों से स्थापित किया जा सकता है। उपन्यास की वाक्य-रचना भी आवश्यकतानुसार सहज और जटिल होती है। जहाँ उपन्यासकार वर्णन को प्रस्तुत करता है, वहाँ वह वर्णनात्मक भाषा का उपयोग करता है, पर जहाँ वह मनोभावों को चित्रित करता है वहाँ जटिल और भावपूर्ण भाषा का। पुराने उपन्यासों में समन्वित वाक्य-रचना का प्रयोग किया गया है, पर नये उपन्यासों में विशृंखलित और असंबद्ध वाक्य-रचना का। ध्वनि के प्रभाव को ध्यान में रखकर भी भाषा का प्रयोग किया गया है। अंतिम धरातल पर यह भाषा-शैली बोध का परिचायक बन गई है और यह यथार्थ को निर्मित करने और उसे सुव्यवस्थित करने का साधन सिद्ध हुई है। यह उपन्यास में निहित मूलभूत तथ्यों को प्रतिच्छायित करती और प्रशस्त बनाती है, अतएव इसे हम उपन्यासकार के मूल्यों के संदर्भ में विवेचित और विश्लेपित कर सकते हैं।

1. At a final level style is cognitive—it is a way of organising and creating reality, it reflects and extends the basic vision of life contained by the novel, tous it can be examined as the evidence of novelists own values.

उपर्युक्त मान्यता के आधार पर उपन्यास के विकास-क्रम में हम शैलियों के विकास-क्रम को भी सरलता से चित्रित कर सकते हैं। आरंभ के उपन्यासों में आलंकारिक भाषा का प्रयोग मिलता है, पर बाद के उपन्यासों में यह कुछ सहज और सरल हो गया। उसका यह स्वरूप तीसरे चरण तक बना रहता है। यह भाषा मुख्य रूप से बातचीत की भाषा होती है। अतएव इसमें 'डाइरेक्ट अपील' की क्षमता पाई जाती है। इसमें प्रवाह और गति होती है और यह अपनी व्यंजना में स्वत:पूर्ण भी होती है। बाद के उपन्यासों में इसका प्रयोग विरल हो गया है। इसके कुछ प्रमुख कारण हैं। आज का उपन्यासकार उस कोण को समझने में समर्थ नहीं है जहाँ से वह जीवन का हरा-भरा-खासा-आला चित्र देने में समर्थ हो। अब के उपन्यासों में आत्मगत और मानसिक चित्रों की बहुलता होती है। इस प्रकार के चित्रण में पुरानी आलंकारिक भाषा उपयोगी नहीं सिद्ध होती है। आज जीवन को समझने और समझाने के पुराने प्रतिमान भी मैले पड़ गये हैं। अब जीवन का खंड चित्रण प्रस्तुत किया जा रहा है जो परम निराशापूर्ण, यथार्थग्राही और असंबद्ध है। इसके पीछे दौड़ने वाली भाषा-शैला भी अस्पष्ट और दुरूह हो गई है। यथार्थवाद के अभ्युदय के साथ विश्वसनीय और यथातथ्य-निरूपक भाषा पर बल दिया गया। 'मार्क ट्वेन' ने विशिष्ट बोली पर आधारित शैली (Special dialect style) का उल्लेख किया है तो 'हेमिंग्वे' ने सामान्य जनभाषा का। इस आग्रह में फँसकर बाद के प्रकृतवादी उपन्यासों की भाषा और भी अधिक निरास्थापूर्ण और व्यंजनाहीन हो गई है। पहले के उपन्यासों में भाषा के शास्त्रीय और नियमबद्ध स्वरूप पर बल दिया जाता था, पर आधुनिक उपन्यासों में उसे ऐसे सतत् गतिशील और परिवर्तनशील माध्यम के रूप में स्वीकार किया जाता है जो आंतरिक भावबोध का यथार्थ चित्रण कर सके। भाषा सरल या जटिल होकर भी सही भावबोध की पकड़ मे मुक्त हो सकती है। आवश्यकता इस बात की है कि उसे ऐसे साँचे में ढाला जाय जो विषम से विषम मानसिक स्थिति को अभिव्यक्त करने में सक्षम हो। वह भावानुकूल, पात्रानुकूल और परिस्थिति के अनुकूल हो। उसमें उपयुक्तता, संक्षिप्तता, व्यंजकता और सूक्ष्म वर्णन की क्षमता हो। सारांश यह कि वह स्पष्ट और सरल हो। 'गुस्टाव फ्लावेयर' के शब्दों में "उपन्यास की भाषा पद्य की तरह लयात्मक, विज्ञान की तरह तथ्यात्मक और सितार की तरह ध्वन्यात्मक हो। वह अपने अलंकृत और अनलंकृत रूप में विचारों के मर्म का स्पर्श कर सके। उसका प्रवाह वेगपूर्ण, अनुकूल हवा में नदी में पड़ी नाव की गति की तरह सुनिश्चित और प्रवाहपूर्ण हो।" वे पुन: कहते हैं कि "अच्छी तरह लिखी गई कृति ऊब नहीं उत्पन्न करती। यथार्थ में शैली ही जीवन है। यही विचार की नसों में प्रवाहित होने और उसको जीवंत बनाने वाला रक्त है। लोग निर्जीव आदर्शों का अनुकरण करते हैं, पर उसमें चेतना और अनुराग की लाली नहीं होती। वह आत्मा नहीं होती, जिसकी विच्छिप्ति हमें तथ्यों को समझने में सफल बनाती है···।

लोग बेकार विषय-वस्तु और विषय-विन्यास का पचड़ा खड़ा करते हैं। मेरी दृष्टि में उनमें विशेष भेद नहीं है। विचार जितना सुन्दर होता है, उसका आबंटन भी उतना ही सुरुचिपूर्ण बन जाता है।'' विचार की उपयुक्तता ही शब्दों को उपयुक्त अर्थ-संदर्भ प्रदान करती है। लोग कहते हैं कि अगर आप में आत्मबल है तो आप पहाड़ को हिला सकते हैं। मैं कहता हूँ कि अगर आपका कथ्य स्पष्ट है तो आप उसे स्पष्टता से निरूपित कर सकते हैं। कभी-कभी लोग केवल भाषा की बात उठाते हैं, पर वे भूल जाते हैं कि भाषा सम्पूर्ण सृजन का एक अंग है। अगर रचना सचमुच भावपूर्ण और सुन्दर है तो शुद्ध और सहज भाषा के प्रयोग से भी काम चल सकता है। उपन्यासकार भाषा का प्रयोग निरर्थक नहीं करता, सार्थक करता है। वह उसके माध्यम से चरित्र, कथोपकथन और भाव-संवेग को चित्रित करता है। इसमें उसकी कल्पना, निरीक्षण-क्षमता, अध्यवसाय और आंतरिक गतिशीलता का सहयोग पाया जाता है। पर इन सबके बावजूद, अगर वह कथ्य को छोड़कर केवल शिल्प से उलझ जाता है और भाषा की सतही आँखमिचौनी को कला का सर्वस्व मान बैठता है तो वह अपने उद्देश्य से च्युत हो जाता है। वह न घर का होता है, न घाट का होता है। उसकी स्थिति आवारे कुत्ते की हो जाती है जो निरर्थक दर-दर की ठोकरें खाया करता है। याद रखना है कि वाक्यों के तारतमिक विकास और विचारों के शृंखला-बद्ध स्वरूप का उपन्यास के लिये बड़ा महत्त्व होता है। कहीं-कहीं विसंगति के चित्रण के लिये अटपट बानी का प्रयोग किया जाता है, व्यंग्य और सूक्ति का सहारा लिया जाता है, पर उसकी व्यंजना भी तलस्पर्शी व्यंजना हुआ करती है जो मनो-भावों को उनकी अतल गहराई से पकड़कर मूर्त रूप में प्रस्तुत करने का एक साधन सिद्ध होती है। अतएव उस अटपटी व्यंजना के बावजूद उनके सूत्र एक-दूसरे से जुड़ते चले जाते हैं और उनकी एक शृंखला बन जाती है। अत: प्रयोग के नाम पर संघटना पर विविधता को आरोपित क'ने का काम लेखक की अदूरदर्शिता का ही परिचायक माना जा सकता है। कहना न होगा कि हर शब्द स्वत: में प्रतीक होता है और उसका समुच्चय बिंब। यह तभी संभव होता है जब हमारा बोध खरा और दृष्टि तत्त्वस्पर्शिनी हो, और शब्दों का प्रयोग अनुभूति से लिपटा हुआ प्रयोग की सार्थकता को चरितार्थ करता हो। जीवन जटिल होने के बावजूद भी अपने अलग-अलग स्वरूपों में सरलीकरण की एक क्रिया है। जो कथाकार जीवन को उसके विविध स्वरूपों में सुलझाकर उसकी अभिव्यक्ति को रोजमर्रा शब्दावली में स्पष्ट करने की कोशिश करता है, वह यथार्थ में साधक कलाकार होता है। जीवन को सरलता में ग्रहण करना ही तो उसकी साधना है। इस प्रकार की शैली पाठक के मर्म को छूती है, उसके कलेजे पर चोट करती है—उसको हिलाती है, दुलराती और पुचकारती है और अंततोगत्वा बिना किसी अवरोध के अपने गंतव्य पर ले जाकर पटक देती है। वह पाठक के बोध को खरा बनाती है और दृष्टि को व्यापक। यही तो है

भाषा और शैली की वह दास्तान जिसके सीने पर युगों से विवाद के बादल मँडराते रहे हैं और अपनी घुमड़ से अपने सुलझाव का उपक्रम ढूँढ़ते रहे हैं।

परिवेश—परिवेश की चर्चा करते समय देश-काल और वातावरण का उल्लेख किया जाता है। आज के पहले इनका नाम तो गिनाया गया है, पर इनका गंभीरतापूर्ण विवेचन करने से लोग कतराते नजर आये हैं। उपन्यासों के विवेचन की दृष्टि से इनका विवेचन अपेक्षित है। कोई भी कथावस्तु, चरित्र-चित्रण या कथोपकथन निःसहाय होकर अधर में नहीं लटकता, बल्कि उसका एक निश्चित देश-काल और वातावरण होता है। इसी को आज की शब्दावली में परिवेश कहा जाता है।

स्थान—देश-काल और स्थान का चित्रण उपन्यास का प्रमुख विवेच्य है। हर देश की एक अन्तर्निहित विशेषता होती है जो कला द्वारा जितनी स्पष्टता से प्रस्तुत की जा सकती है, उतनी स्पष्टता से अन्य किसी साधन द्वारा नहीं। कला में मानव-जीवन के घात-प्रतिघात, आशा-निराशा तथा उपलब्धि और सीमा का सफल चित्रण संभव होता है। इसीलिये प्रमुख गद्य रूप उपन्यास में आरंभ से ही स्थानीय संस्पर्श की प्रधानता रही है, और उसके सहारे वैयक्तिक जीवन-स्पन्दन को रूपायित किया जाता है। इस पर एक दूसरे पक्ष से भी विचार किया जा सकता है। हर प्रकार की अनुभूति किसी न किसी स्थान की सीमा से बँधी होती है और उसके बोध में स्थान का निजी योगदान भी होता है। प्रभाववादी चित्रकला ने तो जीवन-सादृश्य का निरूपित करने के लिये स्थान की विशेषता को अधिक स्पष्टता के साथ उभाड़ा था। उपन्यास में भी स्थान का संबंध उसकी अंतरंग विशेषताओं को चित्रित करने के लिये किया जाता है। हर स्थान के साथ एक इतिहास जुड़ा होता है। हमारी जबान पर हल्दीघाटी, चित्तौड़, ताजमहल, मथुरा, वृन्दावन और अयोध्या का नाम ज्यों ही आता है, त्यों ही इनसे सम्बद्ध अनुषंग हमारी स्मृति में कौंध जाता है। इतिहास एक-एक करके अपने पन्नों को उलटता नज़र आता है और हम भाव-विह्वल होकर अतीत के गर्भ में डुबकी लगाने लगते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसीलिए तो कि स्थान हमारे अंदर एक ऐसा अनुषंग उत्पन्न करता है जो उससे जुड़े न मालूम कितने भूले-बिसरे चित्रों को एकसाथ मूर्त बना देता है। इस प्रकार स्थान वैचारिक या क्रियात्मक उपयुक्तता ही प्रदान नहीं करता, अपितु प्रेरणा का प्रमुख कार्य भी संपादित करता है। उपन्यास बाह्य कलेवर में जितना ही झूठा होता है, अपनी आंतरिक व्यंजना में उतना ही सच्चा। इस प्रकार की व्यंजना के खरेपन के मूल रहस्य में स्थान सदैव विद्यमान पाया जाता है। इसे दूसरे रूप में भी समझा जा सकता है। हम कह सकते हैं कि उपन्यास का एक आंतर स्वरूप होता है और दूसरा बाह्य। आंतर स्वरूप क्रियाकलाप और गतिविधि से जुड़ा होता है और बाह्य स्वरूप स्थान से। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक होते हैं। आर्यावर्त के मिथकों में 'वैतरणी'

की कल्पना की गई है । मृत्यु के बाद जीव को कर्मफल भोगने के लिये स्वर्ग या नरक को प्रस्थान करते समय यह प्रमुख मार्ग-विरोधक के रूप में उपस्थित पाई जाती हैं । हम लौकिक जीवन में जिस गाय का दान करते हैं, वही गाय वैतरणी पार करने में हमारी सहायता करती है । जो व्यक्ति गोदान नहीं करता, उसे उसको पार करने में बड़ी कठिनाई होती है । 'गोदान' शब्द मिथक का मूल केन्द्र-बिन्दु है । 'गो' माने इन्द्रिय होता है और 'दान' माने देना । उपन्यासकार को भी अपने सृजन के दौरान तरह-तरह की वैतरणियों को पार करना पड़ता है और उसका साधन भी यही गो-दान-- ऐन्द्रिय संवेदन का निष्कलुष दान होता है जो स्थान की सीमाओं से बँधा पाया जाता है । स्थान का सन्निवेश ही उसके मूर्त चिंतन को, उसकी वायवीय परिकल्पना को सीमांकित करता है और अलौकिक को लौकिक आधार प्रदान करता है । देश के चित्रण के सहारे मनोसृष्टियों की व्याख्या सरल हो जाती है और वे यथार्थ ज्ञात होने लगती हैं । हर कार्य-व्यापार के भी दो छोर होते हैं । एक ओर अगर वह कार्य-कारण की शृंखला से बँधा होता है तो दूसरी ओर स्थान से जुड़ा होता है । इस दुहरे संबंध को उभाड़ कर रखना उपन्यासकार का प्रमुख धर्म है । स्थान उपन्यासकार की संवेदना को निश्चित आवास प्रदान करता है । जिस प्रकार व्यक्ति अपने स्थान की विशेषताओं से प्रभावित होता है, उसी प्रकार चरित्र भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्थान से प्रभावित होता रहता है । स्थान देखने में तो कुछ मील तक फैला हुआ भौतिक प्रसार है जिस पर जंगल या फसल उगती है, घर बनाये जाते हैं या पहाड़ और नदी अपनी गाथा कहती हुई आगे बढ़ती रहती है, पर इसका जीवन, संस्कृति और रहन-सहन के तौर-तरीकों से सुपरिचित संबंध होता है । इसके साथ जन-जीवन की न मालूम कितनी लोकगाथाएँ अपनी अतृप्त लालसा में लिपटी रहती हैं । उपन्यासकार अपने उपन्यास में केवल स्थान को ही नहीं चुनता, अपितु उससे जुड़ी हुई चेतना की अनंत समग्रता में से कुछ तत्त्वों को ग्रहण करता है जो व्यक्ति को थोड़े समय के लिये आंदोलित कर सकते हैं । उदाहरण के लिये, दिल्ली स्थान नहीं है, अपितु जानकार व्यक्ति के लिये न मालूम कितनी सल्तनतों के उद्भव और पराभव का इतिहास है । दिल्ली का चित्रण करते समय उपन्यासकार भूत के कुछ सूक्ष्म तंतुओं की बनावट-बुनावट का उपयोग कर सकता है, या वर्तमान के उलझे स्वरूपों के लेखाजोखा की सामग्री प्रस्तुत कर सकता है, अथवा वह भविष्य को कोई संदेश दे सकता है । यह तो उसकी रुचि का सवाल है । पर दिल्ली से जुड़ा हुआ उसका यह वर्णन केवल उसकी सोंधी मिट्टी का वर्णन नहीं होगा, अपितु उस प्रच्छन्न चेतना का वर्णन होगा जिसने दिल्ली को दिल्ली बनाने में न मालूम कितनी बार अपने सपनों को सँजोया और मिटाया है । इससे साफ जाहिर होता है कि स्थान अनुभूतिमय होता है और अनुभूति स्थानमय । यही युगपत संबंध उपन्यासकार को स्थान के साथ खिलवाड़ करने की अनुमति नहीं

दे सकता । लेखक के दृष्टिकोण और प्रतिपाद्य के संदर्भ में स्थान की चर्चा कम महत्त्व-पूर्ण नहीं होती । ऐतिहासिक अथवा मनोवैज्ञानिक उपन्यास में स्थान चरित्र की अदा के साथ उपस्थित पाया जाता है । उसके साथ लेखक की संवेदना लिपटी रहती है। अतएव वह जड़ नहीं, अपितु चेतन रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है । महान् युद्धों, घटनाओं, क्रांतियों और बलिदानों के स्थल अब भी हर देश की धरोहर बने हुए हैं । उन्हें देखने से व्यक्ति की वेदना घनीभूत हो उठती है और उसकी आँखों से अचानक आँसू की कुछ बूदें ढुलक पड़ती हैं । यहाँ वर्तमान अतीत से जुड़ जाता है और उस संदर्भ में इसे विश्लेषित करके एक नया संदेश देता है । उसके समक्ष अनुभूति के दो पक्ष क्रियाशील रहते हैं और उन दोनों में आदान-प्रदान की स्थिति चला करती है । ऐसी स्थिति में यह आवश्यक नहीं कि वह किसी एक के चंगुल में फँस जाय, या किसी एक पक्ष का चितेरा बन जाय । वह तो अपनी दृष्टि से उसका समग्रता में आलोड़न करता है और उसके नवनीत से लोगों को अवगत कराता है। यहाँ इस बात को समझ लेना आवश्यक है कि दृष्टिकोण साधन है, साध्य नहीं। स्थान का प्रयोग लेखक द्वारा गृहीत यथार्थ को और विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत करता है । इसके द्वारा पाठक को लेखक की संवेदना को ग्रहण करने का सूत्र मिलता है। स्थान और तर्कशील बुद्धि में भी संबंध होता है और वह विषय-वस्तु को भी प्रभावित करता है ।

इधर एक नये प्रकार के उपन्यास का दर्शन हुआ था, जिसे हम आंचलिक उपन्यास कहते हैं । इसमें अंचल-विशेष के जन-जीवन और विशेषता को चित्रित किया जाता है । उपन्यासकार अंचल को एक वैशिष्ट्य प्रदान करता है । पात्र व कथानक का स्वरूप उस भूभाग की विशेषता को चित्रित करने के लिये काम में लाया जाता है । इसमें व्यक्तिगत पात्रों के स्थान पर समूह पात्रों का चित्रण किया जाता है और नायक का अंशतः अभाव होता है । पात्रों के अंतरंग और बहिरंग दोनों चित्रणों पर बल दिया जाता है। इसके लिये अंचल-विशेष की भाषा, जीवन, रहन-सहन, सांस्कृतिक चेतना, बौद्धिक धरातल और संवेदना के स्तर आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता है ।

काल —नाटकों में काल का विवेचन अन्विति-त्रय के संदर्भ में बहुत पहले किया गया था और तब से आज तक इसके विविध स्वरूपों का दर्शन हुआ । सृजन और विवेचन की दृष्टि से इधर उपन्यास के क्षेत्र में भी इसका महत्त्व बढ़ने लगा है । कलाओं के विवेचन में भी कुछ समय से इसकी चर्चा हो रही है । असल में काल का निरूपण उपन्यास की कला के लिये बहुत ही जीता-जागता सवाल रहा है और आधुनिक उपन्यासों के प्रायः सभी प्रयोगों का संबंध देश-काल के निरूपण के किसी न किसी पक्ष से अवश्य रहा है । 'हेनरी जेम्स' का कहना है कि काल का प्रश्न

शाश्वत है और यह उपन्यासकार के समक्ष निरंतर उपस्थित रहता है। 'लेसिंग' ने 'लैकूम' में इस बात पर बल दिया है कि संगीत और साहित्य कालाश्रित कलाएँ हैं और वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला स्थानाश्रित कलाएँ। 'ए० ए० मेनडीलोअ' की दृष्टि में "स्वच्छन्दतावादी और परंपरादर्शवादी कला के भेद का प्रमुख कारण कालगत संवेदना है। परंपरादर्शवादी कला में हमें स्थानगत भाग मिलता है। वह भूत को उन स्वतंत्र सम्बद्ध घटनाओं और मन:स्थितियों का पुंज मानती है जो स्वत: में पूर्ण हैं और जिन्हें उनकी पूर्णता में वर्तमान में भी ग्रहण किया जा सकता है। स्वच्छन्दतावाद उस मानसिक अवस्था को महत्त्वपूर्ण मानता है जो मन:स्थिति के विकास का केन्द्र-विन्दु है। यह मानव-प्रकृति और मानव-विकास के मूल में उस सावयव एकता को महत्त्व देता है जो इतिहास की क्रिया, व्यक्ति के विकास और सतत् बने रहने वाले आत्म-समन्वय में निहित है और व्यक्ति का एक समुदाय के अंग के रूप में विश्लेषण करता है।"

काल उपन्यास के विषय-विन्यास को प्रभावित करता है। मनुष्य काल की सीमा में सोचता और कार्य करता है। हर कदम पर रुक कर संघर्षों से लड़ने को उद्यत होता है। उसके समक्ष काल अपनी संपूर्ण विषमता में बिखरा होता है। काल का प्रवाह अजस्र प्रवाहिनी सरिता के प्रवाह की तरह निरंतर गतिशील होता है। इसका पूर्वापर संबंध इस प्रवाह का जनक माना जाता है। क्रियाशीलता की स्थिति में मनुष्य अपनी विगत अनुभूतियों से प्रभावित होकर वर्तमान का अन्वेषण और परीक्षण करता है और भविष्य के लिये आशाप्रद संदेश देता है। उपन्यासकार अपनी कृति को कार्य-कारण की शृंखला से बाँधता है और तकनीक के प्रयोग के द्वारा वह पाठक के कुतूहल को बनाये रखने की कोशिश करता है। काल का प्रवाह इन सबको नियंत्रित करने का प्रमुख साधन होता है। भाषा को उपन्यास का प्रमुख साधन माना जाता है। इसकी गति, प्रवाह, शृंखला और व्यंजना काल-बाधित होती है।

काल का एक सापेक्ष महत्त्व है। उसका प्रवाह निरंतर गतिशील रहता है, पर व्यक्ति उसे निश्चित संदर्भ में ग्रहण करता है। यह आवश्यक नहीं है कि यह संदर्भ हर व्यक्ति के लिये समान हो। लेखक के सृजन, नायक की क्रियाशीलता और पाठक के अध्ययन के काल और संदर्भों में भिन्नता हो सकती है। अतएव उपन्यासकार को इन्हें समन्वित करने के लिये प्रयत्नशील होना आवश्यक है। लेखक काल को निरूपित करने की कई पद्धतियाँ अपनाता है। यथास्थान वह बाह्य क्रियाकलापों का वर्णन करने लगता है और निहित क्रियाओं और मानसिक पक्षों पर कम ध्यान देता है। कहीं-कहीं वह भूत में घटी घटना को ग्रहण करके उसका पुनपर्रीक्षण और व्याख्या करने लगता है। चेतना-प्रवाहवादी लेखक एक भिन्न पद्धति अपनाते हैं। वे बाह्य घटनाओं को मानसिक धरातल से सम्बद्ध करके उन्हें आनुषंगिक स्मृतियों के

संदर्भ में विवेचित करने लगते हैं और इस प्रकार बाहर के समय की नाप-जोख से बच निकलते हैं। काल-परिवर्तन (Time-shift) का उपयोग संप्रकाशन की सामग्री को सम्पूर्ण उपन्यास में बिखेरने के लिये किया जाता है। इससे काल का 'गैप' सरलता से आँखों से ओझल हो जाता है। 'Purposed longueur' भी काल-प्रवाह का ज्ञान कराने के लिये काम में लाया जाता है। इस पद्धति के लोग कथा या चिंतन को वातावरण से सम्बद्ध करके देखते हैं। इसके परिणामस्वरूप ये तत्त्व मूल काल-प्रवाह से कुछ समय के लिये मुक्त हो जाते हैं, और साथ ही उपन्यास को कई रूपों में विकसित करने में भी सहायक सिद्ध होते हैं। काल के संदर्भ में ऊपर की कोई पद्धति अपनाई जा सकती है। उपन्यास में प्रयुक्त काल भी वह काल-प्रसार होता है जिसमें घटनाएँ घटती हैं या चरित्र विकसित होते हैं। उपन्यास को पढ़ते समय हम उसमें निरूपित काल-प्रसार से परिचित रहते हैं। उसमें यह काल शताब्दियों तक बिखरा हो सकता है, या कुछ घंटों तक सीमित। उपन्यास तो हम कुछ घंटों में समाप्त कर देते हैं, जबकि उसमें निरूपित काल दिनों और वर्षों तक बिखरा रहता है। इससे पाठक की कल्पना प्रभावित नहीं होती। वह अपनी चेतना के अनुसार उस काल का संकोच या विस्तार करता जाता है। उपन्यास में कहीं-कहीं कालातीतता की बात (Timelessness) भी देखने को मिलती है। हम प्रायः देखते हैं कि उपन्यासकार यथासमय काल को अनुपस्थित या बाधित होने का भाव पैदा करता है। ऐसा करते समय वह अपने कथानक या पात्र को बाह्य परिवेश से काट देता है। जब उसका बाहर से कोई संबंध नहीं रह जाता तो समय का प्रवाह उसके लिये स्वयं रुक जाता है। ऐसी स्थिति में हमें योगियों और उनकी समाधि की स्मृति हो आनी स्वाभाविक है। प्रायः सुनने में आता है कि जब योगी बाह्य संसृति के क्रियाकालापों से मुक्त होकर अपने को समाधि की दशा में तल्लीन कर देता है तो वह काल के प्रवाह से मुक्त हो जाता है। यही स्थिति उपन्यासकार की भी होती है। ऐसी स्थिति में वह आत्मस्थ रहता है और अपने समन्वित रूप में अपनी स्मृति की घटनाओं पर विचार करता है। 'बर्गसाँ' ने भी उस प्रातिभ कौंध की कल्पना की थी, जिसमें यथार्थ (Duree) का अनुभव किया जा सकता है। 'वुल्फ' महोदय ने 'एक्स्ट्राटेम्पोरल (Extratemporal) बोध को दो प्रकार का माना है। पहला स्थगित क्षण और दूसरा बहुसमावेशक क्षण। पहली स्थिति में दर्शक के लिये काल का प्रवाह स्थगित ज्ञात होता है और दूसरी स्थिति में वर्तमान के व्यापक स्वरूप में भूत की सभी स्थितियाँ विलीन होकर **उसे** शाश्वत वर्तमान के रूप में बदल देती हैं। 'वुल्फ' की कृतियों में काल के तीन तत्त्व मिलते हैं। पहला तत्त्व यथार्थ में उपस्थित काल या वर्तमान के काल का होता है जो कहानी को विकसित करता है और घटनाओं तथा चरित्रों को सजीव रूप में चित्रित करके आसन्न भविष्य में गतिशील दिखाता है। दूसरा तत्त्व भूतकाल से संबद्ध होता है और

यह उन्हीं चरित्रों को क्रियाशील दिखाता है, या मनुष्य की एकत्रित अनुभूतियों की उन पर प्रतिक्रिया को चित्रित करता है और इस बात को निरूपित करने की कोशिश करता है कि उनके जीवन का हर क्षण केवल उनकी अनुभूति के उस क्षणिक स्वरूप से ही नियंत्रित नहीं होता, अपितु उन सबसे नियंत्रित होता है जो उस समय तक सोचा गया है। इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरा तत्त्व भी होता है जिसे काल की स्थिरता का तत्त्व कहा जाता है। यह कालक्रम का शाश्वत और अपरिवर्तनशील स्वरूप होता है जिसके चित्रपट पर मनुष्य के जीवन की क्षणभंगुरता और उसके दिनों की ससीमता चित्रित की जाती है। काल के इन्हीं तीनों स्वरूपों से संवद्ध समस्या ने मुझे भूत में कई बार पराजित किया और विगत वर्षों में निरन्तर मेरे अन्तर्मथन का विषय बनी हुई थी।[1] उपन्यासों में आदर्श काल की बात भी पाई जाती है। 'काफ्का' की कृतियों में उपन्यास का काल, जिसमें उसके क्रिया-कलाप घटित होते हैं और मनोवैज्ञानिक काल, जिसे हम आंतरिक काल-प्रवाह की संज्ञा दे सकते हैं, चरित्रों के ऐसे लयात्मक काल-प्रवाह से संबद्ध हैं जिन्हें हम कालजनित रवानी की संज्ञा दे सकते हैं। इस तरह के काल-प्रवाह को किसी निश्चित प्रतिमान द्वारा बाँधा नहीं जा सकता। इसके स्वरूप को देखने से पाठक को यह भ्रम होता है कि सभी घटनाएँ एक दुःस्वप्न के द्वारा प्रधान काल-चेतना से जुड़ी हुई हैं जहाँ कालगत अनुभूति की तीव्रता तो है, पर लंबाई-चौड़ाई नहीं। 'काफ्का' घटनाओं को शृङ्खला प्रदान करता है, उन्हें नियंत्रित और चित्रित भी करता है। पर यह सब कुछ काल के 'वैक्युअम' में घटित होता है। इससे केवल ध्वन्यात्मकता, रवानी या संवेगात्मक

---

1. The first and most obvious element was an element of actual present time, an element which carried the narrative forward, which represented characters and events as living in present and moving forward into immediate future. The second time element was of the past time, one which represented these same characters as acting and being acted upon by all accumulated impact of man's experience, so that each moment of their lives was conditioned not only by what they experienced in that moment but by all that has been experienced up to that moment. In addition to these two time elements there was a third which I conceived as being time immutable...a kind of eternal and unchanging universe of time, against which would be projected the transience of man's life, the bitter briefness of his day. It was the tremendous problem of these three time elements that almost defeated me and that cost me countless anguish in years that were to follow. *The Story of Novel*—p.p. 51-52.

लयात्मकता द्वारा ही समझा या परखा जा सकता है। सारांश यह कि इस स्थिति में काल अनस्तित्वपूर्ण होता है। 'टॉमस मैन' ने काल-खड्ड (Time coulisses) की बात उठाई है। उनका यह सिद्धांत युंग के मूलादर्श से प्रभावित है। मूलादर्श के अनुसार वर्तमान भूत से अलग नहीं, अपितु उसी का एक अंग है। ऐसा इसलिये होता है कि संस्कृति के कुछ मूलादर्श अपने निश्चित स्वरूप में शताब्दियों तक प्रचलित रहते हैं। ये मूलादर्श व्यक्ति की सामूहिक चेतना के परिचायक होते हैं, अतएव इन्हें अभिव्यक्त करने में कठिनाई नहीं होती। मूलादर्श मिथ के द्वारा सरलता से व्यक्त किये जा सकते हैं और मिथ का प्रयोग हमें उस क्रमबद्ध संघटना से परिचित कराता है जो अपने को निरंतर दुहराया करती हैं। 'मैन' ने इसी दुहराव को 'काल-खड्ड' की संज्ञा दी है। इस प्रकार के उपन्यासों का काल दुहरा होता है। इसे विशिष्ट व्यंजना से सम्बद्ध स्वरूप की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार के उपन्यासों में चरित्र काल की सीमा में जीने वाला व्यक्ति नहीं होता, अपितु इस अनन्त शृङ्खला द्वारा परिवर्तित और निर्मित होता है जो सृष्टि के आरंभ से ही चली आ रही है। जिस प्रकार खड्ड में पूर्ववर्ती प्रवाह जाकर विलीन हो जाता है, उस प्रकार इस खड्ड में भी चरित्र से सम्बद्ध काल का पूर्ववर्ती स्वरूप विलीन हो जाया करता है। इसमें भूत का प्रवाह दिखाई तो देता है, पर वह वर्तमान में आकर एक स्थान में पुंजीभूत हो जाता है।

इधर के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में क्षण को काल की इकाई मानने की प्रवृत्ति बढ़ गई है। चेतना-प्रवाहवादी उपन्यासों का आविर्भाव इसी मान्यता पर आधृत है। 'ईलियट' ने भी एक स्थान पर परंपरा और प्रतिभा के विवेचन के संदर्भ में क्षण को काल की इकाई माना था और इसी के आधार पर अपनी वस्तुगत प्रतिरूपता का सिद्धांत प्रतिपादित किया था। वे क्षण को ऐसी स्वतन्त्र इकाई मानते थे जिसमें भूत, भविष्य और वर्तमान मानव-जीवन के सूत्र देखे जा सकते थे। 'ईलिएट' के बाद 'प्रूस्त' (Proust) ने इसको उठाया। पर इन दोनों की दृष्टि में बुनियादी अंतर था। 'ईलियट' ने जहाँ एक ओर क्षण को ऐतिहासिक संदर्भ में देखने की कोशिश की थी, वहीं 'प्रूस्त' ने उसे वैयक्तिक संदर्भ में देखने का प्रयत्न किया। इनकी दृष्टि में भी भेद था। प्रथम वस्तुगत दृष्टिकोण से उस पर विचार करता था और दूसरा आतमगत दृष्टिकोण से। हाँ, एक बात जरूर देखने को मिलती थी कि इन दोनों की चेतना में क्षण के उदात्त बोध की सघनता विद्यमान थी। उपन्यास के क्षेत्र में इसका सूत्रपात 'वुल्फ' और 'ज्वायस' की कृतियों के साथ हुआ। 'ज्वायस' ने 'एपीफैनी' (Epiphany) की कल्पना की थी और इसे परिभाषित करते हुए कहा भी था, "यह अनगढ़ भाषा असम्बद्ध आंगिक चेष्टा और अविस्मरणीय शब्दावली में अभिव्यक्त मानस के निश्चित स्वरूप की आंतरिक और नैसर्गिक व्यंजना है। यह

व्यंजना कोमल और क्षणिक होती है। अतएव इसे सावधानी से पकड़ना जरूरी है। इसके पहले 'एक्वीनस' ने अपने सौन्दर्य सिद्धांत के विवेचन में समग्रता, सामंजस्य और दीप्ति को रोखांकित किया था। स्पष्ट है कि जहाँ समग्रता और सामंजस्य होगा, वहीं दीप्ति भी होगी। यही कौंध, विच्छित्ति, प्रतिभास और दीप्ति 'एपीफैनी' कहलाती है। समग्रता का अर्थ है कि उपादान की स्वत: में एक स्वतंत्र सत्ता है और समन्वय की व्यंजना है कि उसके सभी अवयव अथवा अभिघटक आंतरिक और वाह्य दृष्टि से आपस में सम्बद्ध हैं। इसीलिये इस संदर्भ में दीप्ति एक निश्चित अर्थ-संदर्भ का परिचायक बन जाती है। दीप्ति की यह प्रमुख विशेषता होती है कि वह दृश्य-पटल को भेद कर अपनी चमत्कृति में हमारे पास पहुँचने की कोशिश करती है। इसे आत्मगत धरातल पर ऐसे बोध की भी संज्ञा दी जा सकती है जो अपने उस काल के निश्चित स्वरूप में सातत्य का बोध कराता है। उपन्यास में कार्य-कारण संबन्ध होता है जो उपयुक्त बोध की ओर उन्मुख करता है। यहाँ समग्रता और सामंजस्य को हम कारण मान सकते हैं और दीप्ति को उसका परिणाम। यह कारण-सम्मत परिणाम सरलता से व्यक्त नहीं हो पाता। यह गूँगे का गुड़ सिद्ध होता है जो 'अन्तर्गत ही भावे' और 'परमतोष उपजावे' की बात को चरितार्थ करता है। व्यंजित होकर जो बात हमारे सामने नहीं आ सकती, वह हमारे लिए निरर्थक और वेहूदी सिद्ध होती है। इसका ज्ञान इस खेवे के उपन्यासकारों को था। इसीलिए वे उस 'एपीफैनी' को सही बिन्दु पर पकड़ने अथवा उस प्रतिभास को शब्द और अर्थ की व्यंजना देने के लिए भाषा के साथ नित नये प्रयोग करते रहते थे। यही चेतना प्रवाहवाद की दास्तान है। इस खेवे के उपन्यासकार चरित्र या घटना के माध्यम से प्रतिक्षण प्रवाहित होने वाले उस क्षण की दीप्ति को बांधने को उद्यत थे जो पूर्ववर्ती लेखकों के लिए एक 'चैलेंज' बनी हुई थी। ऐसा करने के लिए उन्हें काल की नयी व्याख्या प्रस्तुत करनी पड़ी। 'वुल्फ' ने क्षणों को मूर्त करने के लिये पृथ्वी और आस-मान के कुलावे मिलाए। इस दौरान उसे बोध हुआ कि क्षण में दीपित होने वाली घटना को अगर कुछ समय तक बनाये रखा जा सके तो इससे मानस में एक तनाव पैदा हो सकता है जो सृजन को नयी दिशा दे सकता है। इस क्षण की दीप्ति के साथ ही उस आंतरिक तनाव को चित्रित करने के लिए तरह-तरह के मिथकों का सहारा लिया गया।

पृष्ठभूमि—देश और काल के अतिरिक्त परिवेश के संदर्भ में पृष्ठभूमि का उल्लेख कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्राय: यह देखने में आता है कि परिदृश्य का चित्रण सभी आलोचकों की आँखों से ओझल हो गया है। उन्होंने इस पर लेखनी चलाने का कष्ट कम किया है। उपन्यासकार वातावरण को चित्रित करता है और ऐसा करते समय वह प्रकृति या घटना के अंतर या वाह्य स्वरूप पर मुनहसर रहता है। पर यह चित्रण तभी महत्त्वपूर्ण बन पाता है जब उसे चरित्र या कार्य-व्यापार का सबल

आधार प्रदान किया जाय। जो उसकी अनुभूति का विषय बनकर उसके प्रत्यक्ष बोध को हमारे सामने रख सके। कुछ लोगों ने इस प्रकार के चित्रण को महत्त्व नहीं दिया है, पर इससे समस्या सुलझने के बजाय उलझ जाती है। जिस तरह जीवन की एक पृष्ठभूमि होती है, संदर्भ होता है, उसी तरह उपन्यास की भी एक जीवनधर्मी पृष्ठ-भूमि होती है। उसका भी एक लोकधर्मी परिवेश होता है। अतएव इसको इन्कार करना तर्कसंगत नहीं ज्ञात होता। आज के आंचलिक उपन्यासों में भी इनका प्रयोग किया गया है और इन्हें अभीप्सित उद्देश्य की सिद्धि का साधन बनाया गया है। इस प्रकार के चित्रण में प्रकृति और मानव-प्रकृति का विशेष हाथ होता है। कलाकार पात्र या परिस्थिति के अनुकूल इन स्वरूपों को चुनता है और उनके सहारे पात्र या घटना के सुख-दुःखात्मक स्वरूप को उद्घाटित करता है। उदाहरण के लिए, कुछ स्वरूप लिये जा सकते हैं—उषा, चाँदनी, हरियाली, कल-कल निनादिनी सरिता, वसंत, आदि को उल्लास या सुख का प्रतीक माना जाता है। दुर्भेद्य अंधकार, अस्ता-चलगामी सूर्य, पतझड़ आदि को अवसाद का। उत्तुंग शृङ्ग को औदात्य का प्रतीक माना जाता है और अतलगामी जल-प्रसार को रहस्य का। कभी-कभी इन रूढ़ियों से विरोधी प्रभाव की उपलब्धि भी होती है। ये कथानक-रूढ़ियाँ बहुत सीमित हैं और लेखक कुछ परिवर्तन के साथ इन्हीं का उपयोग अपनी कृतियों में करता नजर आता है। इससे चरित्र के विकास, चित्तवृत्ति के निरूपण, घटना के वर्णन, सही संदर्भ-निर्धारण और मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक चित्रण में सहायता मिलती है।

इससे देशकाल की समस्यायें सुलझती हैं। लेखक घटना के प्रवाह से अपने को अलग कर के कुछ समय तक ऐसे प्रकृति-चित्रों को प्रस्तुत करने में तल्लीन रहता है जिससे उपन्यास में चारुता और विश्वसनीयता आ जाती है और वह अमूर्त से अमूर्त स्वरूपों को उद्घाटित करने में सक्षम सिद्ध होता है। व्यक्ति, प्रकृति से जो संवेदना प्राप्त करता है, उसे जीवन में बिखेर कर इसे हरा-भरा बनाता है। यही संवेदना उपन्यासकार की भी सहायक होती है। इससे वह अपने उपन्यास को कलात्मक बनाता है। नाटक दृश्य-काव्य है और उसके प्रभाव में अभिनय, रंगमंच और प्रेक्षागृह से भी सहायता मिलती है। उपन्यास इससे वंचित रह जाता है। आरंभ में इस कमी को पूरा करने के लिये स्थानीय चित्रण का सहारा लिया जाता था और उस के जरिये वर्णनात्मक ढंग से कथ्य को स्पष्ट किया जाता था। बाद में विकसित धरातल पर प्रतीक को इसका माध्यम बनाया गया।

लिरिकल नोवेल

यह उपन्यास की एक विशिष्ट विधा है। इसे पहले के उपन्यासों में भी पाया जा सकता है, पर आज के उपन्यासों में कुछ समय के लिये यह सर्वथा नये रूप में उपस्थित हुई है। काव्य के क्षेत्र में गेय कविता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। काव्य की

प्रमुख विशेषता रवानी है। अतएव 'लिरिक' या प्रगीत का प्रयोग हमें खटकता नहीं। उपन्यास को 'लिरिकल नोवेल' कहना कुछ विरोधाभासी है। नामकरण से ऐसा ज्ञात होता है कि इस तरह के उपन्यास में 'लिरिक' की विशेषतायें पाई गई होंगी, अतएव उसे इस विशेषण से अभिहित किया गया होगा। गेय कविता की अपनी निजी विशेषतायें हैं; अव्वल यह कि वह आत्मगत होती है और दोयम यह कि इसमें वैयक्तिक अनुभूति की भावशबलता को चित्रोपम एवं गेय शब्दों में रख दिया जाता है। 'लिरिक नोवेल' भी वैयक्तिक, आत्मगत और भाव-प्रधान होता है। वह व्यक्ति और समाज के संबंध को 'सब्जेक्टिव' दृष्टिकोण से ग्रहण करके नये रूप में प्रकट करता है। इसका समूचा कार्य-व्यापार बिंब-प्रधान होता है और इसमें एक अनूठी रवानी पाई जाती है। गेय कविता की खसूसियत यह है कि वह अपने स्वर के आरोह-अवरोह से बँधी होती है और एक बिंब से दूसरे बिंब तक होती हुई अपने अन्त की ओर बढ़ती है। भावावेग-प्रधान अन्त में कवि का स्वप्न साकार होता नज़र आता है। 'केनेथ बर्क' ने इसे गुणात्मक विकास (Qualitative progression) और 'वुल्फ़ गैंगकेज़र' ने इसे प्रगीतात्मक क्रिया का नाम दिया है।[1] प्रगीतात्मक उपन्यास में यह गुणात्मक विकास वर्णनात्मकता का सहयोगी होता है। हम यह भी कह सकते हैं कि इस तरह के उपन्यास में वर्णनात्मकता में निहित संभावना का प्रगीतात्मक ढंग से उपयोग किया जाता है। इसके चित्र लेखक की मनोसृष्टि की उपज होने के कारण आत्माभिव्यक्ति-प्रधान होते हैं। अनुभूति को विकासशील बिंबों के द्वारा प्रकट किया जाता है, अतएव इसके प्रायः सभी पात्र प्रतीक बन जाते हैं। इस तरह के उपन्यास में शुद्ध वर्णन-शैली का अभाव होता है और लेखक नायक के जीवन से जुड़े हुए महत्त्वपूर्ण भावस्थलों को उद्घाटित करने के लिये प्रयत्नशील रहता है। चेतना-प्रवाहवादी उपन्यास में इस शैली का प्रयोग मिलता है, पर इसका यह मतलब नहीं कि ये उपन्यास केवल मनोवैज्ञानिक होते हैं। घटना-प्रधान रोमांस और रूपक के साथ ही 'पिकारेस्क नोवेल' में भी ये विशेषतायें पाई जाती हैं। प्रगीतात्मक उपन्यास में एक दृष्टिकोण की प्रधानता होती है और इसमें स्वगत कथनों का उपयोग भी किया जाता है। लेखक अपने दृष्टिकोण को नायक के सहारे प्रकट करता है। अनुभूति की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम बिंब होता है। ये उपन्यास स्वच्छन्द मनोवृत्ति की उपज होते हैं। स्वच्छन्द धारा आत्म और अनात्म के संघर्ष के द्वारा पूर्ण-व्यक्तित्व के विकास में विश्वास करती है। 'लिरिक नोवेल' भी इसी विरोधाभास के चित्रण और सुलझाव द्वारा अपने प्रतिपाद्य को स्पष्ट बनाते हैं। उपन्यास का नायक लेखक की 'ट्रू कॉपी' होता है। उपन्यास-कार कल्पना की संश्लेषणात्मक क्षमता के जरिये उपन्यास के साँचे को तैयार करता

1. Ralph Freedman—*The Lyrical Novel*, p. 1.

है, उसका ताना-बाना बुनता है और मानसिक स्वरूपों को प्रतीक के द्वारा प्रकट करता है। 'लिरिकल नोवेल' के 'टेक्श्चर' और 'स्ट्रक्चर' से एक 'सेल्फ' उभड़कर हमारे सामने आ जाता है। 'हरमैन हेस' ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि उपन्यासकार अपनी आन्तरिक चेतना और द्वन्द्व को नायक पर आरोपित करता है और नायक अपने अपूर्ण ऐन्द्रिय स्वरूप को उदात्त बनाकर इसे सामंजस्यपूर्ण प्रतीक में बदल देता है। आत्म और अनात्म का यह संघर्ष ऐसे अहं के रूप में प्रकट होता है जो उन्हें समन्वित करके कला के रूप में परिणत कर देता है। कलाकार जुमलों के द्वारा भाव के रहस्यमय स्वरूप को बाँधता है और प्रतीकों के सहारे अपनी अनुभूति को गतिमय बनाने में समर्थ होता है।

इस प्रकार के उपन्यास की संरचना 'एलीगोरिकल' हो सकती है। इसका प्रमुख कारण यह है, "प्रतीक-प्रधान नायक प्रगीत के 'मैं' के सदृश होता है। वही उपन्यास के परिवेश का निर्माण करता है। वह नायक होने के साथ ही उपन्यास के कई दृश्यों को आपस में जोड़ता भी है।...उसकी अनुभूति की निर्णायक बाहरी जगत् की घटनायें नहीं होतीं, अपितु उसे प्रतीक-रूप में निरूपित करने वाले प्रतीक होते हैं। इसलिये इसका रूप एलीगोरिकल हो जाता है।" 'हरमैन हेस' के उपन्यासों में इस तरह की बुनावट मिलती है। वह आन्तरिक स्वप्नों को बाह्य घटनाओं पर आरोपित करने में कुशल है। उसके 'लिरिकल नोवेल' में रूपकात्मक, मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक चित्रण में समन्वय रहता है। इससे अभिव्यक्तीकरण भी सरल और सुकर बन जाता है।

आन्द्रेग्राइड के उपन्यास भी इसी कोटि में आते हैं। उन्होंने उसमें चेतना के धरातल पर चलने वाले अन्तर्द्वन्द्वों को पकड़ा और परखा है। इसके लिये वस्तुगत शैली अपनाई गई है। चेतना-प्रवाहवादी नाटकों में भी यह विशेषता पाई जाती है। गेय कविता का 'मैं' इस उपन्यास में नायक के रूप में बिखर जाता है और वही बोध और कल्पना के सहारे उसके ताने-बाने को बुनता है। इस उपन्यास में वैयक्तिक भाव बोध के कई कोण रूपायित होते हैं। इसका दृष्टिकोण भावात्मक होता है और अमूमन भाव-प्रधान उपन्यासों में इसकी कुछ विशेषतायें मिल जाती हैं। ये उपन्यास प्रगीत की ही तरह स्वच्छन्द वातावरण में विशेष रूप से फूलते-फलते हैं। लेखक इनके द्वारा मानस के गतिशील चित्रों को ग्रहण करने की कोशिश करता है। इस उपन्यास की विचारधारा जर्मन स्वच्छन्दतावाद और फ्रांसीसी प्रतीकवाद से विशेष रूप से प्रभावित रही है। यह औपन्यासिक परंपरा कुछ कारणों से आज अशक्त है ! आज का जीवन विशृङ्खल और कुण्ठित है, अतएव उसमें किसी भी तरह की एकतानता की खोज बेकार है।

उपन्यास और रवानी (Novel and Rhythm)

चेतना-प्रवाहवाद[1] की चर्चा के समय गति और प्रवाह तथा 'लिरिकल' उपन्यास की चर्चा के समय रवानी की चर्चा की गई है। रवानी (Rhythm) साहित्य की प्रमुख विशेषता है। प्रायः यह देखने में आता है कि सामान्य उपादान के अवलोकन और कलाकृति के अवलोकन में काफी भेद है। हर देखने की क्रिया से हमारे चित्त पर दो तरह का प्रवाह उत्पन्न होता है। या तो वह इतनी मोहक और आकर्षक है कि उसे हम स्तब्ध होकर देखते रह जाते हैं, या वह इतनी भोंडी है कि हम उसकी ओर से आँख फेर लेते हैं। यह आकर्षण कथ्य और शिल्प दोनों से जुड़ा होता है। कथ्य में लेखक का आत्म तत्त्व और शिल्प में अनात्म तत्त्व क्रियाशील रहता है। एक भावगत है और दूसरा वस्तुगत। हम यह भी कह सकते हैं कि दोनों की पारस्परिक स्थिति से आत्मगत के वस्तुगत निरूपण की बात सामने आती है। इनके अन्तर्ग्रंथन में एक स्थिर या गतिशील रवानी देखने को मिलती है जो मणि के पानिप की तरह हमें अनायास आकर्षित करती रहती है। 'कोनार्ड' ने कहा है, "कला के रूप में उपन्यास हमारी चित्तवृत्ति और प्रकृति को प्रभावित करता है। दरअसल इसे संगीत या अन्य कलाओं की तरह एक प्रकृति का दूसरी अनन्त प्रकृतियों पर प्रभाव माना जा सकता है। इसमें निहित क्षमता घटनाओं को अर्थवान् बनाती है और देश-काल से संबंधित नैतिक वातावरण का निर्माण करती है।" यहाँ कोनार्ड ने प्रकारान्तर से उपन्यास की उसी आन्तरिक क्षमता का उल्लेख किया है जो उसे जीवन्त साहित्य-रूप देती है। उनके उद्धरण में 'संगीत या अन्य कलाओं की तरह' जुमले का प्रयोग मिलता है। आप पूछ सकते हैं कि उन्होंने 'संगीत' शब्द का प्रयोग क्यों किया है? इसका सीधा और सरल उत्तर यही है कि वह 'रिद्मिक' होती है, अतएव हमें प्रभावित करती है। संगीत का यह 'रिद्म' क्या है? इसके जवाब के लिये कुछ लोग शास्त्रीय तंत्र का सहारा ले सकते हैं, पर मेरी दृष्टि में उसमें समस्वरता, लयात्मकता, एकतानता, सामंजस्य आदि के द्वारा जो पदमैत्री या स्वरमैत्री पैदा हो जाती है, उसमें एक रवानी होती है। संगीत इसीलिये मनचाहा प्रभाव डालता है। संगीत की तरह ही उपन्यास के कथ्य और शिल्प की बनावट-बुनावट में पाई जाने वाली रवानी भी हमें प्रभावित करती है। 'ई० एम० फार्स्टर' ने अपने उपन्यास-संबंधी विवेचन में संघटना और 'रिद्म' की बात की चर्चा की है। बुनियादी तौर पर उनका यह विवेचन उनकी अभिरुचि का परिचायक है। वे संगीत की एकतानता के विशेष प्रेमी रहे हैं और विवेचन के समय बात उनके दिमाग में उपस्थित भी रही है। इसीलिये उन्होंने यह नतीजा निकाला है कि संगीत की ही तरह उपन्यास को भी हमें प्रभावित करना चाहिए। उन्होंने इसे और स्पष्ट करते हुए लिखा भी है, "जब गीत ख़त्म हो जाता

---

१. देखिये लेखक की कृति–हिन्दी आलोचना के वाद—(प्रेस में)

है तो हमें ऐसा लगता है कि उसके निर्माणक स्वर-संगम मुक्त हो गये हैं, और वे संपूर्ण रवानी में अपने व्यक्तिगत अस्तित्व की साकार प्रतिमा बन कर उपस्थित हैं।" यह बात उनकी सूक्ष्म परख की परिचायक है। सच यह है कि उनके ज़माने में चित्रकला और संगीत का महत्त्व बढ़ रहा था। 'जेम्स' जैसे लोगों ने साफ-साफ लिखा था कि वे चित्रलेखन और उपन्यास-लेखन में कोई भेद नहीं समझते। वास्तव में उनकी यह बात कला के विषय में बढ़ते हुए ज्ञान और सूक्ष्मताओं के बोध के द्वारा प्राप्त साम्य-वैषम्य का संकेत करती है। इस परिदृश्य में 'रिद्म' शब्द विशेष सार्थक और व्यंजक बन जाता है। कुछ लोगों की दृष्टि में उपन्यास के सन्दर्भ में 'रिद्म' शब्द का प्रयोग विशेष सार्थक नहीं है। इसका उत्तर देने के लिये हमें थोड़ा विषयान्तर करना पड़ेगा। मान लीजिये, एक संगीतज्ञ है जो गाता है, "ऐसो को उदार जग माँहीं।" वह इसे गाते-गाते ख़ुद तो बेसुध हो ही जाता है, सुनने वालों को भी बेसुध बना देता है। पद के आरोह-अवरोह के साथ उसका 'रिद्म' हमें भुलावे में डालकर कुछ समय तक आत्मस्थ कर देता है। अगर हम इसी पद के क्रम को बदल दें और उसे 'ऐसो माँहीं जग उदार को' करके परम सिद्धहस्त गायक से गाने के लिये कहें तो वह प्रभाव न उत्पन्न कर पायेगा। क्यों? इसीलिये न कि रवानी के लिये पदों का अपेक्षित लयात्मक संघटन बिगड़ गया है, अतएव वे प्रभावहीन हो गये हैं। इससे क्या यह नतीजा नहीं निकलता कि पदों के लयात्मक संघटन का रवानी से संबंध होता है? अगर बात ऐसी है और वह सच भी है तो फिर कुकुर-झाँव से क्या मतलब! साफ ज़ाहिर है कि 'फार्स्टर' के 'रिद्म' के प्रयोग में यह संरचनात्मक कौशल प्रभावी पार्ट अदा कर रहा था। पर इसका मतलब यह नहीं कि 'रिद्म' के लिये केवल संरचना के कौशल की अपेक्षा होती है, केवल बाह्य नियोजन ज़रूरी होता है। सच यह है कि पदों का संबंध संवेदन से भी होता है और वे उसे स्पष्ट करने के प्रमुख साधन भी हैं। इस तरह पद और संवेदन के साधन-साध्य की बात ही हमारे सामने नहीं आती, अपितु रवानी रूप प्रभाव की बात भी आती है। बहरहाल शायद यह बात कुछ विशेष अकेडेमिक हो गई। तो लीजिये दूसरा नुस्ख़ा। हम जल के प्रवाह को लें। जब तक उसमें सातत्य होता है, वह आपस में बाह्य और आन्तरिक दृष्टि से गुँथा होता है, तब तक वह लगातार तरल रहता है, एक प्रवाह के रूप में आगे बढ़ता रहता है, पर जब धारा का क्रम टूट जाता है तो उसका सातत्य बिखर जाता है, उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है। यही हालत जीवन की भी होती है। जिस समय उसे बाँधने वाली रवानी उससे दूर हो जाती है, उस समय वह टुकड़ों में बँट जाता है, उसकी गंभीरता और ओजस्विता क़ाफूर हो जाती है और वह कंकालों का ढूह बन जाता है। इससे यह प्रमेय सिद्ध होता है कि रवानी गाने और विकास की ही सूचक नहीं है, वह स्वतः में 'स्ट्रक्चर' और 'टेक्श्चर' के संग्रथन की आवश्यक शर्त भी है।

रवानी को परिभाषित करने की कोशिश भी की गई है। 'फार्स्टर' ने इसे

repetition plus variation, अर्थात् आरोह-अवरोह अथवा उतार-चढ़ाव से गुंथी हुई पुनरावृत्ति कहा है। इस उतार-चढ़ाव में सधी हुई ध्वन्यात्मक व्यंजना का संगीत में ही नहीं, साहित्य में भी स्थान होता है। इससे हास्य, व्यंग्य, करुणा आदि के भावों को उत्पन्न करने में काफी सहायता मिलती है। हर प्रकार के साहित्य में भावशबलता और प्रभावोत्पादकता के लिये इसका सफल प्रयोग किया जाता है। बात पर बल देने के लिये भी इसका उपयोग किया जाता है। कभी-कभी प्रभाव के लिये पूर्ण वाक्य या दृश्य दुहरा दिया जाता है। उदाहरण के लिये, 'मैकबेथ' या 'स्कन्दगुप्त' की कुछ पंक्तियों को लिया जा सकता है। ये पंक्तियाँ अपने कार्यरूप में संपूर्ण नाटक की संघटना में बिखरी नज़र आती हैं और पात्र तथा कार्य-व्यापार भी उनसे प्रभावित होते रहते हैं। कभी-कभी एक सन्दर्भ में कहे गये वाक्य को दूसरे सन्दर्भ में हूबहू दुहरा कर मनचाहे फल की प्राप्ति की जाती है। ज़ोला ने इसका संकेत करते हुए लिखा है, "पुनरावृत्ति किसी न किसी रूप में हमारे हर उपन्यास में पाई जाती है। यह एक साहित्यिक कौशल है, जिसका आरंभ में मैंने संकोच के साथ उपयोग किया था, पर अब वह प्रकारान्तर से अधिक से अधिक प्रयोग में आने लगा है। 'वैगनर' ने जिस उद्देश्य से कथानक-रूढ़ि का उपयोग किया है, उसी उद्देश्य से मैंने पुनरावृत्ति का उपयोग किया है। अगर आप किसी संगीतज्ञ से पुनरावृत्ति की चर्चा करें तो आप साहित्य में उसके उपयोग से भली प्रकार परिचित हो जा सकते हैं।" स्पष्ट है कि संगीत में पुनरावृत्ति जिस तरह प्रभावान्विति को स्पष्ट करती है, उसी तरह साहित्य में भी यह अन्विति प्रदान करती है। जिस तरह संगीत की पुनरावृत्ति के द्वारा उसकी व्यंजना सरल और सुकर हो जाती है, उसी तरह साहित्य में भी यह पुनरावृत्ति सहायक होती है। जीवन में प्रायः हम देखते हैं कि कोई सुखद या दुःखद विचार घूम-फिर कर हमारे दिमाग में चक्कर काटने लगता है। उसके दिमाग में आते ही हमारा ध्यान उसी पर केन्द्रित हो जाता है और हम उस पर सोचने लगते हैं। हमारे चिन्तन से वह नया अर्थ-सन्दर्भ ग्रहण कर लेता है और नये रूप में विकसित होने लगता है। जो क्रिया जीवन के लिये सत्य है, वही उपन्यास या कला के लिये भी सत्य है। कला को 'द्विज' कहा जाता है। 'द्विज' का अर्थ द्विजन्मा होता है। इसीलिये मैंने यथास्थान कलाकार को 'मरजीवा' शब्द से अभिहित किया है और यह प्रायः उपयुक्त भी है। कला के क्षेत्र में सृजन ही नहीं पुनर्सृजन भी पाया जाता हैं। हमारी भावनायें जब उद्दीप्त होकर प्ररोचन के सन्दर्भ में स्मृति और कल्पना द्वारा ढल कर नये रूप में हमारे सामने उपस्थित होती हैं तो यही ऊपर की बात चरितार्थ होती है। इन भूले-बिसरे चित्रों का पुनरानयन और पुनर्स्थापन कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होता है। तो फिर पुनरावृत्ति की बात कैसे टाली जा सकती है। हाँ, यहाँ एक बात को ध्यान में रखना ज़रूरी है। हर पुनरावृत्ति अपने मूल रूप में घटना या स्मृति के समान ही नहीं होती, अपितु वह सन्दर्भ और परिवेश के अनुसार बदल जाती है। इस तरह वह अपने आप में समन्वय और विकास की जनक बन जाती है।

उपन्यास में विकासशील प्रतीकों का प्रयोग भी किया जाता है। ये प्रतीक रवानी को समृद्ध बनाते हैं। उदाहरण के लिये, यशपाल की 'दिव्या' को लिया जा सकता है। उसमें मधुपर्व के अवसर पर दिव्या के नृत्य को प्रतीक-रूप में प्रस्तुत किया गया है। जो प्रतीक आरंभ में आया है, उसे भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में अन्त तक देखा जा सकता है। कहीं-कहीं उपन्यास पात्र और घटनाओं को भी प्रतीक रूप में उपस्थित किया जाता है। इस तरह के प्रतीक का प्रयोग वहाँ पर किया जाता है जहाँ पर सूक्ष्म भाव कलाकार के शब्दों में नहीं बँध पाता है। विकासशील प्रतीकों के प्रयोग के दो फायदे हैं, (१) हमें इस बात का ज्ञान होता है कि उसकी अभिव्यक्ति के परे एक रहस्यमय क्षेत्र है जिसका आभास पाया जा सकता है, पर अन्वेषण नहीं किया जा सकता। (२) इस क्षेत्र का अपना नियम और क़ानून है जिससे वह अनुशासित होता है, अतएव हमें इन्हें जानने की आवश्यकता है। इस प्रकार के प्रतीक हमें ऐसे रहस्यमय लोक से परिचित कराते हैं जो मानवता को समझ सकता है, पर मानवता उसे नहीं समझ सकती।

ई० के० ब्राउन ने विषय-वस्तु की रवानी का संकेत किया है और 'वार एण्ड पीस' इसका अच्छा उदाहरण माना गया है। हिन्दी में 'गोदान' को इसी तरह का उपन्यास माना जा सकता है। इस तरह के उपन्यास की विषय-वस्तु विविध और चित्रफलक व्यापक है। इसके सहारे वह तत्कालीन देश-काल को समग्रता से चित्रित करता है। इस उपन्यास की विशेषता यह है कि वह हमें जीवन के संकीर्ण दायरे से निकाल कर उस लम्बे-चौड़े मार्ग पर लाकर बैठा देता है जहाँ से हम जीवन में चलने वाले घात-प्रतिघात को सरलता से देख सकते हैं। इस तरह विषय-वस्तु का चयन और उनका संघटन जीवन की आन्तरिक भावधारा को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होता है।

रवानी की चर्चा करते समय जीवन के आन्तरिक स्वरूप में पाये जाने वाले समन्वय को आँख से ओझल नहीं किया जा सकता। आज यह बात सिद्ध है कि जड़ और चेतन को एक संबंध-सूत्र में बाँधने वाली कोई भौतिक अथवा आध्यात्मिक शक्ति अवश्य विद्यमान है। यह सभी उपादानों में किसी न किसी रूप में उपस्थित है। हम अपने सृजन में चाहे-अनचाहे उस समन्वयपूर्ण शक्ति के लिये प्रतिबद्ध हैं, और अपनी प्रतिबद्धता को पूरा करने और उसकी रक्षा करने के लिये जो विधान करते हैं, वही कला या कौशल के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। चूँकि यह सुनियोजित होता है, अतएव उसमें एक तरह की रवानी पाई जाती है। उपन्यास भी घटनाओं, चरित्रों और अनुभूत भावनाओं को एक नियोजित ढंग से पेश करता है और उसकी व्यंजना नियोजन द्वारा उद्‌भूत प्रभाव की व्यंजना होती है। सृजन ही

‘रिद्मिक’ नहीं होता, विनाश भी ‘रिद्मिक’ होता है। हमने जीवन के लास्य को ग्रहण करने की इच्छा तो की है, पर उसके ताण्डव को गर्ह्य माना है। इसी लास्य और ताण्डव के समन्वय के विघटन-स्वरूप आज सर्वत्र ताण्डव ही दिखाई दे रहा है। हमें इसकी रवानी को समझना होगा, उसकी चेतना तक जाना होगा, क्योंकि वही एक साधन है जिससे हम लास्य के रहस्य को समझ सकते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास

‘स्टाडर्ड’ ने ‘इवाल्यूशन ऑव इंगलिश नोवेल’ में लिखा है, “ऐतिहासिक उपन्यास स्वयं में विरोधाभास का परिचायक है। इतिहास सत्याश्रित होता है, पर उपन्यास गल्पाश्रित। ऐतिहासिक उपन्यास तभी उपन्यास माना जा सकता है जब वह कोरी ऐतिहासिकता के दलदल में न फँसे। उसमें इतिहास से भिन्न रूप में ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत किये जायँ।”[1] यहाँ एक बुनियादी सवाल उठाया गया है। सवाल है इतिहास के तथ्य प्रस्तुत किये जायँ, पर उस रूप में नहीं जिस रूप में वे इतिहास में प्रस्तुत किये जाते हैं। फिर आप पूछ सकते हैं कि उनका रूप क्या हो? बहरहाल हम इतिहास को लेते हैं। उसका एक स्वरूप वह है जब उसमें घटना और तिथिक्रम के सत्य पर विशेष बल दिया जाता है और कल्पना विरल होती है। इस स्थिति में वह इतिहास होता है और कुछ नहीं। उपन्यास इतिहास से भिन्न है। वह भावात्मक दृष्टि से जीवन की अनुभूति की गाथा होता है। उसमें कल्पना द्वारा जीवन के चित्र को उरेहा जाता है। भाव और कल्पना के संयोग से एक ऐसा चित्र उपस्थित किया जाता है जो विश्वसनीय, व्यापक और गहन होता है। हमारी अनुभूति जितनी खरी और तीव्र होती है, उपन्यास भी उतना ही प्रभावोत्पादक और विश्वसनीय बन जाता है। इस माने में उपन्यास जीवन की भावानुभूति का कल्पना के सहारे निरूपित चित्र होता है। तो फिर ऐतिहासिक उपन्यास में क्या इन बातों के अलावे कुछ और चीजों पर बल दिया जाता है? ऐतिहासिक शब्द से इस बात का संकेत मिलता है कि इसमें इतिहास का पुट पाया जाता है, पर अनुभूति और कल्पना तिरस्कृत नहीं होती हैं। ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास नहीं होता, इतिहास में निहित जीवन-सत्यों की अनुभूति का वैज्ञानिक निरूपण होता है।

ऊपरी बात को हम थोड़ा और स्पष्ट करें। इसे समझने के लिये हम कला और इतिहास के संबंध की चर्चा करना चाहेंगे। हमें यह कहने में रंचमात्र हिचक

---

1. Historical novel is a contradiction in terms...Fiction is underlying basis of the novel, fact the underlying basis of history. The historical novel apparently becomes a novel, by virtue of departure from history and in so far as it is a history, it is less than perfect as history.

नहीं कि इतिहास और कला का संबंध होता है और देश-काल से संबंधित चित्रण इससे प्रभावित भी पाया जाता है। वास्तुकला और चित्रकला तो ऐतिहासिक सन्दर्भ से भरी हुई हैं। इनमें ऐतिहासिक पुरुषों, उनकी जीवन-पद्धतियों के निश्चित शैली में बने चित्रों की प्रधानता है। महाकाव्यों और खण्डकाव्यों में ऐतिहासिक लोगों की गाथा भरी पड़ी है। इसका क्या कारण है? यही न, कि व्यक्ति जहाँ भविष्य की परिकल्पना से प्रभावित होता है, वर्तमान को जी भर कर जीना चाहता है, वहीं वह अपने भूत की सफलता या असफलता से भी एक 'लेसन' लेना चाहता है। वह देश-काल को उसके सातत्य में पकड़ना चाहता है और उसके बीच रखकर अपने को समझना चाहता है। वह अपने को ही संरक्षण नहीं प्रदान करना चाहता, अपितु अपनी उस संपूर्ण विरासत को संरक्षण देना चाहता है जो विश्लेषण के द्वारा उसकी आत्मोपलब्धि बन चुकी है। इस परिधि में इतिहास का कलात्मक निरूपण उपन्यासकार के वैयक्तिक सन्तोष और उपलब्धि का प्रमुख साधन बन जाता है। सृष्टि के आरंभ से लेकर आज तक व्यक्ति आत्मरक्षण की भावना से चिपका है और इस दृष्टि से किये गये प्रयास राष्ट्रीय ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय धरोहर बन चुके हैं। वाल्मीकि कालिदास आदि से लेकर आजतक यह भावना बनी हुई है और क्षणभंगुरता के अनन्त नुस्खों के बावजूद इन्सान अपनी कलाओं और कृतियों के द्वारा अपने को स्थायी ख्याति प्रदान करने में लिपटा हुआ है। क्या इससे यह नहीं सिद्ध होता कि इतिहास से हमें ऐसी जीवन-दृष्टि मिलती है जो अन्य क्षेत्रों से मयस्सर नहीं होती। फिर इतिहास के कलात्मक निरूपण और ऐतिहासिक उपन्यास के अस्तित्व पर यह मीन-मेख क्यों?

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि ऐतिहासिक उपन्यास के सृजन के मूल में इतिहास की अपूर्णता पाई जाती है। इतिहास में तिथि, घटना, स्थान तथा देश और काल का यथातथ्य चित्रण तो मिल जाता है, पर उस अन्तर्निहित स्रोतस्विनी को छोड़ दिया जाता है जो इन सब के लिए जिम्मेदार है। इतिहास की खोज करते समय इतिहासकार प्राचीन शिलालेखों, मुद्राओं, परवानों तथा अन्य स्रोतों से उत्पन्न साक्षियों का वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण तो करता है, पर सामान्य जन-जीवन के स्वरूप तथा व्यक्तियों को सही रूप में प्रभावित करने वाले विचारों को वह छोड़ जाया करता है। इससे तिथि, घटना, युद्ध, शासन-प्रबन्ध, राज्याभिषेक आदि का सिलसिलेवार वर्णन तो हमें मिल जाता है, पर इन्सान को इन्सान के रूप में प्रभावित करने वाले तथ्यों का उसमें अभाव हो जाता है। इतिहास की इसी अपूर्णता से ऐतिहासिक उपन्यास का सूत्रपात होता है। इसीलिए 'लेस्ली स्टीफेन' ने ऐतिहासिक उपन्यास को वर्णसंकर कहा है। उनकी धारणा है कि इसे न तो इतिहास माना जा सकता है और न उपन्यास। इसमें दोनों तत्त्वों का समावेश रहता है। अगर

ऐतिहासिक तत्त्व प्रमुख हो जाता है तो यह उपन्यास की दृष्टि से अपूर्ण रह जाता है और अगर औपन्यासिक तत्त्व प्रमुख हो जाता है तो इतिहास के रूप में अपूर्ण। उनकी कुछ बातें सामयिक और महत्त्वपूर्ण हैं। इसकी वर्णसंकरता तो उसके नाम से ही टपकती है। उसको लेकर झख मारने की जरूरत नहीं। दूसरी बात विचारणीय अवश्य है कि ऐतिहासिक उपन्यास में न तो इतिहास की अधिकता पायी जानी चाहिए, न कल्पना की। इन दोनों में संतुलन होना चाहिए।

अधिकांश लोग ऐतिहासिक उपन्यास और ऐतिहासिक रोमांस के भेद को रेखांकित नहीं कर पाते। इन्हें समझना जरूरी है। ऐतिहासिक उपन्यास में सत्य और कल्पना की मिलावट मिलती है। घटनाएँ सामाजिक परिवेश से ली जाती हैं। अतएव उनका एक यथार्थ स्वरूप होता है। पर ऐतिहासिक रोमांस में यथार्थ और कल्पना का यह गठबधन अवश्य हो जाता है। इसकी पूरी कथा कल्पित होती है। लेखक नायक के अदम्य साहस को कल्पित घटनाओं के क्रम में चित्रित करता है। कल्पना के कारण सब कुछ पर एक रहस्य का आवरण चढ़ा होता है। सारांश यह कि ऐतिहासिक रोमांस का ऐतिहासिक आधार या तो होता ही नहीं और अगर होता भी है तो क्षीण होता है। ऐतिहासिक उपन्यास की पृष्ठभूमि यथार्थ होती है, पर ऐतिहासिक रोमांस की कल्पित। ऐतिहासिक उपन्यास चरित्र-प्रधान होता है और ऐतिहासिक रोमांस घटना-प्रधान। ऐतिहासिक उपन्यास के चरित्र जीते-जागते इन्सान होते हैं, पर ऐतिहासिक रोमांस की घटनायें कल्पित।

ऐतिहासिक उपन्यास की परिभाषा का पचड़ा भी सरल नहीं। 'बेकर' की दृष्टि में, "तथ्य को उपस्थित करना और उसकी व्याख्या करना इतिहासकार का काम है और भूत के किसी महत्त्वपूर्ण काल को लेकर उस परिस्थिति-विशेष में जीवित स्त्री-पुरुषों को सजीव रूप में चित्रित करना और उनके परिस्थिति-अनुकूल कार्य-व्यापार को निरूपित करना ऐतिहासिक उपन्यासकार का धर्म है।"[1] ए० एच० स्टॉडर्ड के शब्दों में, "ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास नहीं होता है, यह असल में आकर्षणपूर्ण इतिहास होता है जिसमें हर तथ्य अपने जीते जागते रूप में किसी सामंजस्य के केन्द्रीय बिन्दु की ओर उन्मुख रहता है।"[2] इस तरह के उपन्यास में वैयक्तिक जीवन और वैयक्तिक भाव-संवेग का इतिहास की परिस्थिति और देश-काल

---

1. To present and interpret facts is historian's business to sum up a past epoch, to show men and women alive in it and behaving as they must have behaved in circumstances, is the labour and joy of genuine historical novelist.

2. The historical novel is not mere history, it is rather magnetised history in which every fact is quiveringly tended toward some focal pole of unity.

में चित्रण मिलता है। इसके लिये दो बातों की ज़रूरत होती है, (१) उपन्यासकार को इतिहास के तथ्य और चेतना का पूरा बोध होना चाहिए, और (२) उसमें वैयक्तिक जीवन के महत्त्व का ज्ञान और इस ज्ञान की व्याख्या की पूरी क्षमता होनी चाहिए।[1] ई० एम० फार्स्टर ने, सूत्र-रूप में इसी पर बल देते हुए कहा है, "इतिहासकार तथ्य को रेकार्ड करता है, पर उपन्यासकार सृजन करता है।" (Historians record whereas the novelist must create)। 'रोजर डे टालर' के शब्दों में, "ऐतिहासिक उपन्यास एक ऐसे काल-विशेष या पीढ़ी-विशेष के वातावरण, विचार की पद्धति और प्रचलित मनोविज्ञान को पुनर्सृजित करता है जिससे लेखक का आत्मीय संबंध होता है।"[2] यह असल में व्यक्तिगत जीवन और व्यक्तिगत भाव-संवेग को ऐतिहातिक परिस्थिति और परिवेश में चित्रित करने की हामी भरता है। इस प्रकार के उपन्यास में इतिहास की घटनाओं को इस रूप में सँजोया जाता है कि वे चित्र का रूप ग्रहण कर लें। इतिहास केन्द्रापसारी होता है, पर उपन्यास केन्द्राभिमुख। इतिहास के सूत्र लता के समान अपनी टहनियों को बाहर बिखेरे रहते हैं, पर उपन्यास रचना होती है। इतिहास सहज विकासपूर्ण है, पर उपन्यास कथानक के बनावटी साँचे में ढला। इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास में विन्यासगत भेद भी होता है। इतिहास में ऐतिहासिकता और कल्पना की वह मिलावट नहीं पाई जाती जो उपन्यास में होती है।[3] इन बातों को अमल में लाते हुए हम कह सकते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यास किसी देशकाल-विशेष की ऐतिहासिक घटना, जीवन-चरित,

---

1. It is record of individual life, of individual emotion in circumstances and terms of historical interest, for its making two things are requisite—that there be a conception of and fondness for the facts and spirits of history, and that there be knowledge of and appreciation of the importance of individual life.

2. The historical novel is an attempt to reconstruct the atmosphere, the habits of thought, the prevailing psychology of generation, with which the writer has had no intimate contact.

3. The historical novel should present the history, so focalised as to form a picture. In this view history is centrifugal and novel is centripetal. The thread of history is like a vine, with tendrils stretched out, wrapping around unrelated events, the novel is an artificial construction. History is natural growth, the plot of the novel is an artificial fabric. History is narrative, the novel should be either histrionic or romantic. One essential difference exists between history and historical novel and essential difference is unity in form—a unity developed out of concurrences of history by the creative imagination of author.

रहन-सहन, विचारधारा, आदि को कल्पना के जरिये ऐतिहासिक परिवेश में सँजोने का प्रमुख साधन है। वह भूत के तौर-तरीके को चित्रित करता और ऐतिहासिक जीवन-स्पन्दनों को मूर्त बनाता है। ऐतिहासिक उपन्यास पुनर्सृजन है। इसकी सहूलियत के लिये उपन्यासकार में प्रचुर विधायक कल्पना का पाया जाना आवश्यक है। कल्पना ही सब कुछ नहीं है। इसी के बल पर मैदान नहीं जीता जा सकता है। उपन्यासकार में भूत से तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता और उसे सही रूप में समझने की आदत होनी चाहिए। उसे युग की घटना, परिस्थिति और चरित्र का भरपूर ज्ञान होना आवश्यक है। उसे विवेच्य काल की सांस्कृतिक चेतना और सामाजिक गतिविधि का ज्ञान भी होना चाहिए। इन बातों के अभाव में वह इतिहास के निरास्थाजनक तथ्य-संग्रह में सहज-विश्वसनीय और सजीव चेतना का आरोप नहीं कर पायेगा। शुक्ल जी ने इसीलिये इस तरह के उपन्यासकारों को सावधान करते हुए लिखा है, "जब तक भारतीय इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों की सामाजिक स्थिति का अलग-अलग विशेष रूप से अध्ययन करने वाले और सामाजिक स्थिति के सूक्ष्म व्यौरों की अपनी ऐतिहासिक कल्पना द्वारा उद्भावना करने वाले लेखक तैयार न हों, तब तक ऐतिहासिक उपन्यासों में हाथ लगाना ठीक नहीं।" कहना न होगा कि ऐतिहासिक उपन्यासकार के समक्ष इतिहास के निर्वाह की पेचीदी समस्या होती है। यह समस्या दुधारी तलवार के सदृश है। इस पर चलने के लिये इतिहासकार को काफी सतर्क और सावधान रहना चाहिए। एक ओर तो लेखक के समक्ष इतिहास को उपन्यास में ढालने का जटिल प्रश्न होता है, और दूसरी ओर उसके सामने ऐतिहासिकता के निर्वाह के साथ ही रोचकता और विश्वसनीयता को बनाये रखने का सवाल होता है। उसे न तो समीक्षक इस बात की अनुमति देता है कि वह इतिहास का उल्लंघन करे और न ऐतिहासिक पात्र और घटना। ऐसी स्थिति में उसे एहतियात से काम लेना पड़ता है। काल के चुनाव को लेकर दो तरह की बातें उठाई गई हैं। एक वर्ग के लोगों का कहना है कि इस तरह के उपन्यासकार को ऐसी सामग्री का चयन करना चाहिए, ऐसे देश-काल को चुनना चाहिए जिसके विषय में अधिक जानकारी नहीं है। इस प्रकार के काल के चयन से उपन्यासकार को कल्पना के प्रयोग का व्यापक चित्रफलक मिल जाता है। वृन्दावन लाल वर्मा का कहना है, "जिन स्थानों पर इतिहास का प्रकाश नहीं पड़ सकता, उनका कल्पना द्वारा सृजन करके उपन्यास-लेखक भूली या खोई हुई सचाइयों का निर्माण कर सकता है। उसमें वही चमक-दमक आ जाती है जो इतिहास के जाने-माने तथ्यों में अवश्य होती है।. . . पर यह कि उन तथ्यों या परम्पराओं को ताश के पत्तों का महल या क्लब-घर न बना दिया जाय।" दूसरे समुदाय का कहना है कि ऐतिहासिक उपन्यासकार को राष्ट्रीय इतिहास के महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। इस बात को मानने में कठिनाई है। किसी भी सभ्य देश की राष्ट्रीयता

का इतिहास अमूमन कुछ तीन-चार हजार वर्षों का है। ऐतिहासिक उपन्यासकार को सामग्री-चयन के लिये इसी पर निर्भर रहना पड़ेगा। उपन्यासकार इतिहास के साथ खिलवाड़ नहीं कर सकता, तो फिर उसके सामने रास्ता क्या है ? वह मध्यम मार्ग का अवलंबन करता है। वह देश-काल और पात्रों के चुनाव में सतर्कता बरतता है। आवश्यकतानुसार वह कल्पित पात्र और घटनाओं को प्रमुख बना देता है और ऐतिहासिक पात्र और घटनाओं को गौण। इससे उसे कुछ सुविधा मिल जाती है। इतिहास के पात्र अथवा घटनाओं की सर्वथा अवहेलना करना संभव नहीं है। ऐसा करने से ऐतिहासिक परिवेश और प्रभाव पर आघात पहुँचता है। ऐतिहासिक उपन्यासकार अधिक महत्त्वपूर्ण पात्र और घटनाओं से भी कतराता है, क्योंकि ये अपने साथ मनमानी करने की छूट नहीं देतीं। अगर उन्हें वह ग्रहण भी करता है तो उनके चरित्र के ऐसे अंश को लेता है जिसका कहानी से तालमेल बैठाया जा सके। नायक और नायिका प्रायः कल्पित पात्र होते हैं और उन्हें ऐतिहासिक घटना से जोड़ करके जीवन की मूलभूत भावात्मक चेतना को स्पष्ट किया जाता है। ऐतिहासिक उपन्यास की अनुभूति बिंबात्मक होती है। यह तभी संभव हो पाता है जब ऐतिहासिक परिवेश को मूर्त रूप में प्रस्तुत किया जाय, उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म रेखाओं को उभाड़कर रखा जाय और परिवेश तथा पात्र को सही रूप में चित्रित किया जाय। ऐतिहासिक पात्रों के अभाव में लेखक कल्पित पात्रों को ऐतिहासिक पुट दे देता है। इस तरह के उपन्यासकार को यह एहतियात रखनी चाहिए कि वह इतिहास का रोजनामचा नहीं प्रस्तुत कर रहा है, अपितु कलाकृति प्रस्तुत कर रहा है। इस दृष्टि से भाषा, सांस्कृतिक रूपरेखा आदि को लेकर उसे काफी सावधानी बरतनी पड़ती है।

जासूसी उपन्यास (Detective Novel)

सस्ते प्रेम-प्रधान उपन्यासों को छोड़ कर पाठकों के बीच जासूसी उपन्यास बहुत प्रिय हैं। वे देश-विदेश में धड़ल्ले से लिखे भी जा रहे हैं, पर दुर्भाग्य की बात है कि इनका विवेचन नहीं हो पाया है। दूसरे और तीसरे दशक में ही जो उपन्यास अपने को स्थापित कर चुके हैं, उन्हें आज भी अन्त्यज करार किया जाय, इससे अधिक आश्चर्य की और क्या बात हो सकती है ? साहित्य की एक सामाजिक पृष्ठभूमि होती है। सभी लोग जानते हैं कि पहले विश्वयुद्ध के बाद सभी देशों का जीवन कुछ विशृंखलित और कुंठित हुआ है। पाठक कुछ अपनी समस्याओं से बुरी तरह अकुला उठा है। उसे मनोरंजन की जरूरत हैं, जो गंभीर उपन्यासों से नहीं मिल पाता है। लाजिमी तौर पर जासूसी उपन्यासों से उसका मनोरंजन हुआ है। अमूमन देखने में यह आता है कि जीवन से जूझ कर, लड़-झगड़कर जब हम उसकी समस्याओं से पार नहीं पाते तो प्रायः उसे छोड़कर, पलायन के द्वारा उसे सुलझाने और पाने

की तमन्ना पैदा होती है। यह तमन्ना कम बलवती नहीं होती। वह आदमी को अपने नाग-फाँस में फँसा लेती है, फिर वह कटुता और विद्रूपता को छोड़ कर आदर्श लोक का चितेरा वन जाता है। यह प्रवृत्ति मनोवैज्ञानिक होती है। डॉ० चेस्टरटन[1] और समरसेट माम[2] ने आरम्भ में इसका विवेचन शुरू किया। चेस्टरटन ने दो बातों का ज़िक्र किया, (१) यह जनप्रिय साहित्य है। (२) इसमें आधुनिक जीवन की रवानी पाई जाती है। माम ने गंभीर उपन्यास की तुलना में इसके महत्त्व पर बल दिया है। एक बात प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है। जासूसी उपन्यास का संबंध देश-विदेश की शासन-व्यवस्था, न्याय-पद्धति, कार्यपालिका और जिज्ञासा की भावना से होता है। अतएव इनका रूप सब जगह समान नहीं होता। इनमें बुनियादी भेद पाया जाता है।

जासूसी उपन्यास का "कथासूत्र बौद्धिक स्तर पर किसी रहस्यमय घटना या घटना की शृंखला के अन्वेषण को समेटे रहता है। लेखक के सामने जीवन का व्यापक चित्रफलक होता है। वह कल्पना के ज़रिये इसकी परिधि से किसी चमत्कृत कर देने वाली, हक्का-बक्का बना देने वाली घटना को चुनता है। पाठक की जिज्ञासा इससे बेतरह बढ़ने लगती है। इसकीं बनावट-बुनावट में अपराध या रहस्य से जुड़ी हुई घटनाओं का समावेश रहता है। प्रेम और हास्य भी अपना पार्ट अदा करते हैं।" अपराध की प्रवृत्ति शाश्वत है। यह आदम और हौवा के साथ शुरू हुई है और उनके सपूतों में आज भी फल-फूल रही है। इन्सान के दिल में भी देव और असुर की लड़ाई चलती रहती है। जब-जब उसका देव पराजित होता है, उस पर दानव का अधिकार हो जाता है। जब जीवन के सत् से उसकी आस्था डिगती है, वह असत् की कीच में उलझ जाता है। उसकी दशा 'हाय हुसेन आय फँसेन' की हो जाती है। 'ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहत त्यों-त्यों उरझत आय' की बात चरितार्थ होती है। उसकी बुराई का एक 'विशस सर्किल' बन जाता है और आखिरकार वह धूर्त और मक्कार बन जाता है। यह धूर्तता, यह मक्कारी उसके जीवन का अंग हो जाती है, और वह उसे पूरा करने के लिये तरह-तरह की खुराफात रचने लगता है। अपराध में अपने को छिपाने की भावना पाई जाती है। खुराफाती व्यक्ति भी अपने अपराध

1. The first essential value of detective story lies in this, that it is the earliest and only form of popular literature, in which is expressed some sense of poetry of modern life.

2. It may well be that when the historians of literature come to discourse upon fiction produced by English-speaking people in first half of the twentieth century, they will pass somewhat lightly over the composition of serious novelist and turn their attentionto the immense and varied achievemens of detective writers.

को छिपाना चाहता है। इससे दाद में खाज पैदा हो जाती है। अपराध दण्ड्य है। वह शासन की आँख में धूल झोंकना चाहता है, पर न्याय उसे दण्डित करने पर तुला होता है। इसी आपाधापी, भागदौड़, लुकाछिपी से पाठक की जिज्ञासा बढ़ती है, उसका द्वंद्व घनीभूत होता है, और लेखक को मनोवैज्ञानिक फायदा मिलता है। वह अपने वर्णन को लगातार चमत्कारिक ढंग से आगे बढ़ाता जाता है। हर प्रकार के जासूसी उपन्यास का केन्द्र अपराध होता है। इसके सहारे लेखक नाटकीय तौर पर कथानक को विकसित करता है। अपराध की खोज अथवा छानबीन और उसके सूक्ष्म वर्णन से उत्तेजना उत्पन्न होती है और अन्त में न्याय की स्थिति आती है। इन उपन्यासों में अब हास्य और प्रेम का पुट भी दिया जाने लगा है, फिर भी इनका मूल स्वर वैज्ञानिक और भावना-विरोधी होता है। जगह-ब-जगह नैसर्गिक तत्त्वों का समावेश भी मिल जाता है।

जासूसी उपन्यास का अनुज खलनायक-प्रधान उपन्यास (picaresque novel) था। 'पिकारो' स्पेनी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है खलनायकी से जुड़ी कथा। जैसा नाम से ही प्रकट है, इस तरह के उपन्यास में अपराधी जीवन का सही चित्रण किया जाता है। अपराधी कृत्य और उसे पूरा करने के सही तरीके का सूक्ष्म विवरण इसकी प्रमुख विशेषता है। इसके कथानक में उत्तेजना पैदा करने वाली घटनाओं की बहुतायत होती है और ये घटनायें भी असंबद्ध रूप से एक-दूसरे से गुँथी रहती हैं। जीवन का कोई भी स्वरूप खलनायक के कार्यक्षेत्र के बाहर नहीं होता, अतएव वह बारी-बारी से उन सब के साथ प्रयोग करता है। उपन्यासकार के समक्ष नैतिकता का कोई प्रश्न नहीं रहता। इसका मूल स्वर रोमांस-विरोधी होता है और यह बुनियादी तौर पर चरित्र-प्रधान माना जा सकता है।

इसके अतिरिक्त उपन्यास का एक भिन्न रूप भी है जिसे तिलस्मी या ऐयारी का उपन्यास कहते हैं। "तिलस्मी शब्द का अर्थ होता है चमत्कारपूर्ण कल्पना, खजाने की रक्षा के लिये नियुक्त भयंकर आकृति या नक्षत्रों की गणना के लिये खजाने पर बाँधा गया यंत्र।" 'ऐयारी' शब्द अरबी में तीव्र, दूरगामी या चपल व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होता है। "तिलस्मी उपन्यास में आश्चर्यजनक कारनामों की भरमार होती है। यहाँ पात्रों को कुछ भी करना संभव होता है। वह मौत की घाटी से भी किसी चमत्कार के कारण सही-सलामत घर लौट आता है, विघ्न-बाधाओं के जंगल से घिरे रहने पर भी वह कैंची की तरह मार करता हुआ बच निकलता है।"

जासूसी उपन्यास पर विचार करने के पूर्व उसके इन छुटभइयों का ज़िक्र ज़रूरी हो जाता हैं। इसमें कोई शक नहीं कि जासूसी उपन्यास कई तरह से खल-नायक-प्रधान उपन्यास है और वह तिलस्मी तथा ऐयारी से भिन्न भी माना जाता

है। फिर भी विकास की दृष्टि से इनके संबंध को नकारा नहीं जा सकता। खलनायक-प्रधान उपन्यास का पूरा परिवेश बेढंगा होता है, उसे पढ़ते समय हमारी सहानुभूति भी खल के साथ होती है, पर जासूसी उपन्यास को पढ़ते समय जासूस के साथ। पहला चरित्र-प्रधान होता है, पर दूसरा घटना-प्रधान। तिलस्मी और ऐयारी के उपन्यासों के घटना-क्रम में कुतूहल तो पाया जाता है, पर यथार्थ नहीं। जासूसी उपन्यास जीवन के यथार्थ घटना-क्रम में निहित कुतूहलवर्धक रहस्य को समेट कर उसे विश्वसनीय बनाता है। गहमरी के शब्दों में, "पहले जानने जोग बात घटना को जवनिका में छिपा रखना और इधर-उधर की जो बेसिलसिले और बेजोड़ हों पहले कहना और घटना पर घटना का तूमार बाँध कर असल भेद जानने के लिये पाठकों के हृदय में कुतूहल बढ़ाना और रहस्य पर रहस्य साजकर ऐसा उपन्यास गढ़ना कि पूरा पढ़े बिना पूरा स्वाद न मिले।...जिसका उपन्यास पढ़कर पाठक ने समझ लिया कि सब सोलहो आने सच है उसकी लेखनी सफल परिश्रम हुई समझना चाहिए।" इससे साफ ज़ाहिर होता है कि जासूसी उपन्यास तकनीक के लिये खलनायक-प्रधान या ऐयारी उपन्यास का ऋणी है।

जासूसी उपन्यास का वस्तु-विन्यास सुगठित होता है और उसमें कार्य-कारण की शृङ्खला निहित रहती है। जासूसी का क्रम भी वैज्ञानिक प्रमाण और वैज्ञानिक गवेषण का परिचायक होता है। इसका वस्तु-विन्यास पर्याप्त उलझा और पेचीदा होता है, अतएव इसकी रचना के लिये कौशल और कल्पना की अपेक्षा होती है। अन्त में न्याय का विधान पाया जाता है, पर उसकी योजना करते समय पाठक को काफी प्रमाण जुटाना और उसे सिद्ध करना आवश्यक होता है। उपन्यासकार घटना-क्रम को इस प्रकार नियोजित करता है कि वह पाठक की जिज्ञासा को बनाये रखे और उसमें अविश्वास न उत्पन्न हो। आज के जासूसी उपन्यास सफेदपोशी और छिपे रुस्तमी का कलात्मक उद्घाटन करते हैं। अतएव ये मर्म पर सबल चोट करते दीख पड़ते हैं।

आज की जीवन-पद्धति जासूसी उपन्यासों के लिये विशेष उपयोगी है। आज अपराध पर पर्याप्त प्रकाश पड़ चुका है, अब वह दैव-दुर्विपाक या भाग्य का फल नहीं है, अपितु वंश-परंपरा, वातावरण या परिवेश से जुड़ा हुआ है। शासन की ढिलाई, बौद्धिक दिवालियापन और बढ़ती हुई बेरोजगारी क्या राम और कृष्ण को जन्म देगी; ईसा, बुद्ध या मुहम्मद को पैदा करेगी? क्षुद्र स्वार्थों से बँधा अहं, उसकी तृप्ति के लिये नित नये-नये भौतिकवादी खुराफातों का अखाड़ा क्या गांधी को पैदा करेगा? सुरसा की तरह बढ़ती हुई सर्वग्रासी स्वार्थलिप्सा से बेहाल आदमी क्या जन्नत का सपना देखेगा? जासूसी उपन्यास को यह 'क्रेडिट' तो दी ही जा सकती है कि उसके कारण मानव की, राम और कृष्ण के सन्तानों की पाशविक बुभुक्षा कुछ शान्त

हो जाती है। जासूसी उपन्यास पहले उसकी इस प्रवृत्ति को बढ़ाता है, पुनः कलात्मक ढंग से उन्हें शान्त कर देता है। इस तरह के उपन्यास की एक संघटना होती है। इसमें अपराधी, अपराध का पता लगानेवाला जासूस, जिज्ञासा बढ़ाने वाली घटनायें निरीक्षण पर आधारित वैज्ञानिक खोज और जासूस की जासूसी की सफलता का विधान होता है। सभी घटनायें नाटकीय ढंग से घटित होती हैं। बीच-बीच में हमें जासूस के असाधारण बुद्धि-कौशल अथवा अपराधी की असाधारण-वृत्ति का ज्ञान भी होता है। अपराध का पता कैसे लगाया जाय और अपराधी को कैसे दण्डित किया जाय, यही उसका विषय होता है।

आत्मचरितात्मक उपन्यास

देश के हर साहित्य में जीवन-चरित लिखे गये हैं। जब एक लेखक दूसरे का जीवन-चरित लिखता है तो उसे 'बाओग्राफी' कहा जाता है और जब वह बाक़लम खुद अपना जीवन-चरित लिखता है तो इसे 'आटोबाओग्राफी' कहा जाता है। जीवन-चरित या आत्मजीवन-चरित को इतिहास की शाखा माना जा सकता है। इनमें लेखक एक ओर तो ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दृष्टि से तथ्यों पर विचार करता है और दूसरी ओर उन्हें इस रूप में सँजोता है कि वे कलात्मक और मनोरंजक भी हो सकें। आत्म-चरित या जीवन-चरित के लेखक के लिये यह लाजिम है कि वह पहले तो अपनी कृति से संबंधित सभी प्रकार की सामग्री का आलोड़न करे और पुनः उसे कलात्मक ढंग से सजाये।

आत्म-चरित असल में व्यक्ति-विशेष के द्वारा अपने चरित का आलेखन है। अतएव इससे जीवन-चरित्र की तुलना में अधिक सत्य और विश्वास की अपेक्षा होती है। यहाँ लेखक और चरित्र एक ही व्यक्ति होते हैं, अतएव लेखक अपने ही कार्यों का साक्षी होता है। हर व्यक्ति अपना जीवन-चरित नहीं लिख सकता, क्योंकि इसका आलेख सरल काम नहीं है। हर प्रकार के लेखन में व्यक्तिगत स्मृति का सहारा लेना पड़ता है, पर स्मृति में वह सब कुछ हाजिर नहीं होता जो उसके पहले घट चुका है। अपने बचपन की जानकारी के लिये भी हमें दूसरों पर मुनहसर रहना पड़ता है। व्यक्ति अपने जीवन में अपनी चाह और घृणा से निर्देशित होता है। जो बात उसे प्रिय है, उसे वह याद रखता है और जो अप्रिय है, उसे वह भूल जाता है। जीवन में कुछ आप-बीती ऐसी बातें भी होती हैं जिन्हें लिखते समय वह कतरा जाता है। मूल बात तो यह है कि आत्म-चरित को कलात्मक रूप में सँवारने में असुविधा होती है क्योंकि पूरे जीवन-चरित को किसी भी एक उपन्यास द्वारा प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। उपन्यास की रवानी इसे बर्दाश्त भी तो नहीं कर सकती। परिणामस्वरूप विवेकपूर्ण विधि-निषेध का सहारा लेना पड़ता है।

Autobiographical Novel को हम आत्म-चरितात्मक उपन्यास कहते हैं। इस पर विचार करने के पूर्व हम आत्म और उपन्यास के संबंध पर विचार करना चाहेंगे। इसके पहले स्वच्छन्द धारा के लोगों ने आत्माभिव्यक्ति और कला तथा मनोविश्लेषकों ने इच्छापूर्ति के सिद्धान्त पर विचार किया था। इससे कुछ रहस्यमय भावकोण साफ हुए थे। आत्मानुभूति और कला के संबंध की चर्चा आज के कला-सिद्धान्त का अंग है। उपन्यास भी साहित्य की एक जानी-पहचानी विधा है। इसमें भाषा के जरिये भाव के उस प्रवाह को चित्रित किया जाता है जो जीवन से मिलता और उसी की गुत्थियों को सुलझाता है। उपन्यास का ताना-बाना अनुभूति के द्वारा बुना जाता है। अनुभूति के निर्माण में व्यक्तिगत चिन्तन, अन्वीक्षण और परीक्षण का प्रमुख सहयोग होता है। इससे एक बात जाहिर होती है कि उपन्यासकार की अनुभूति और कला का निकट का संबंध होता है। लार्ड डेविड सेसिल ने कहा भी है, "उपन्यास अपने ढंग से हमारे सामने जानी-पहचानी दुनियाँ का चित्र रखता है, अतएव उसे कलाकृति मानना उपयुक्त है। उपन्यास में प्रस्तुत जीवन-चित्र कलाकार की सर्जनात्मक क्षमता और उसकी अनुभूति का आश्रित होता है। उसकी कल्पना यथार्थ को इस रूप में अपनाती है जिससे उसकी आन्तरिक विशेषता और मुखर हो उठती है और जीवन का नया आदर्श हमारे सामने आ जाता है। किसी भी कलाकार में उसकी अनुभूति का विशिष्ट अंश विद्यमान रहता है। यह उसकी कल्पना को प्ररोचित करता और उसके व्यक्तित्व की रहस्यमय परिधि में प्रवेश करके उसकी सर्जनात्मक क्षमता को तीव्र बना देता है। उसकी उपलब्धि इस प्रकार कृति के उस अंश से जुड़ी होती है जो उसकी अनुभूति के इन स्वरूपों को और स्पष्ट बनाती है।"[1] इसमें शक नहीं कि उपन्यास के सर्जन में अनुभूति, कल्पना और जीवन-बोध का सहयोग होता है। अनुभूति का संवित्-विशेष मानस में चक्कर काटता रहता है और वह पच कर इस रूप में हमारे सामने उपस्थित हो जाता है जिसे सही रूप में पहचान पाना कठिन है। यह क्रिया आत्माभिव्यक्ति की ही समानार्थी होती है। 'मि० बोल्जिअन' ने इसी लिये

---

1. A novel is a work of art in so far as it introduces us into a living world. in some respects resulting the world we live in, but with the individuality of its own. Now this world owes its character to the fact that is begotten by the artists creative faculty, on his experience. His imagination apprehends reality in such a way as to present us with a new vision of it. But in any one artist only some aspect of his experience fertilises his imagination, strike sufficiently deep down into the fundamentals of his personality to kindle his creative spark. His achievement, therefore, is limited to the part of his work which deals with these aspects of his experience.

उपन्यासकार को अपने दृष्टिकोण का प्रचारक कहा।[1] पर उनकी यह मान्यता अधूरी है। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उपन्यासकार अपनी अनुभूति को व्यक्त करता है। उसके आत्मगत स्वरूप का खरापन उपन्यास में सचाई लाता है। वह प्रच्छन्न रूप में अपने चरित्र, कार्य-व्यापार और वातावरण सब कुछ में उपस्थित रहता है। जिन पात्रों की रचना वह करता है, वे उसके आत्मगत स्वरूप के परिचायक होते हैं[2], पर इसके अतिरिक्त भी उपन्यास में बहुत कुछ होता है।

इस संबंध-निरूपण के बाद अब हम आत्म-चरितात्मक उपन्यास की ओर लौटते हैं। इसकी विशेषता यह है कि इसका प्रमुख आदर्श लेखक होता है। यह कई रूपों में उपन्यास में उपस्थित रहता है। वह प्रश्न भी करता है और उत्तर भी देता है। इसमें एक ओर उपन्यासकार की दृष्टि तथ्य के उचित निर्वाह पर टिकी होती हैं तो दूसरी ओर वह उपन्यास की विशेषताओं को भी सँजोता चलता है। कथा के केन्द्र में लेखक की अभिरुचि विशेष रूप से सक्रिय रहती है, इसलिये उसकी पंक्ति-पंक्ति, शब्द-शब्द से वही बोलता है। कल्पना का उपयोग निश्चित पद्धति पर किया जाता है। कथाकार अपने अहं को किसी निश्चित पात्र या पात्रों के समुदाय से व्यक्त करता है। इस अभिव्यक्तिकरण में उपन्यासकार अपने को प्रच्छन्न रखकर इसे विश्वसनीय बनाने की हर संभव कोशिश करता है। हम कह चुके हैं कि आत्मकथात्मक उपन्यास चरित्र-प्रधान होता है और इसका नायक ऐतिहासिक या कल्पित किसी भी तरह का हो सकता है। कभी-कभी यह भी देखने में आता है कि नायक तो ऐतिहासिक पुरुष है, पर उसके अन्य पात्र कल्पित हैं। कल्पित पात्र भी उपन्यास के दायरे से बँधे रहते हैं, उन्हें अविश्वसनीय बनने की छूट नहीं मिलती। आत्मकथात्मक उपन्यास को हर स्थिति में विश्वसनीय होना जरूरी है। स्मृति यहाँ कल्पना की सहयोगिनी बन कर उपस्थित होती है, अतएव इन दोनों में एक अन्तःसंबंध होता है। इस तरह के उपन्यास की तीन कोटियाँ हमें देखने को मिलती हैं, (१) पहली वह है जिसमें नायक पूरी कथा को अपने मुख से कहता है, (२) दूसरी वह है जब हर पात्र अपनी कथा को यथास्थान स्वयं प्रस्तुत होकर कहता है, और (३) जिसमें कथा का प्रमुख अंश तो नायक द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, पर कुछ ऐसी घटनायें भी बच रहती हैं जिनसे वह अपरिचित होता है, अतएव वे उन्हीं पात्रों के मुख से कहलायी भी जाती हैं जो उन्हें जानते हैं।

---

1. Every writer consciously or unconsciously puts himself into novels and exhibits his own character even more distinctly than that of his heroes.

2. The material for any picture of personal states will have been drawn preponderantly from depth of designer's own mind.

इस कोटि के उपन्यास की कथा-संघटना भी महत्त्वपूर्ण होती है। लेखक केवल ऐसी सामग्री को चुनता है जो इसकी परिधि में विश्वसनीय ढंग से पिरोई जा सके। इस तरह के घटना-क्रम को चुनने के लिये अन्तर्दृष्टि और कल्पना की ज़रूरत होती है। लेखक को पाठक की कुतूहल वृत्ति को बनाये रखना भी ज़रूरी होता है। व्यक्ति के जीवन में हास्य, उत्साह, करुण और शृंगार के अनेक प्रसंग जुड़े रहते हैं, अतएव आत्म-चरितात्मक उपन्यास में इनकी बहुलता हो जाती है। अगर इन मनोभावों के चित्रण में लेखक सफल होता है, तो उससे उपन्यास में चारुता और विविधता पैदा हो जाती है। लेखक यथास्थान चित्रण की सफलता के लिए स्वगत कथन-शैली, पत्र-शैली अथवा पात्रों की पूर्वस्मृतियों का (पूर्वदीप्ति शैली का) सहारा भी लेता है। आवश्यकता पड़ने पर वह नये पात्रों की रचना करने से भी नहीं चूकता। उपन्यास में ऐसे स्थल भी मिल जाते हैं जो नाटक की तरह केवल सूच्य होते हैं। सूचना देने का काम नये पात्र करते हैं। आत्मकथात्मक उपन्यास असल में लेखक की अन्तर्दृष्टि, कल्पना, जीवन-बोध और गंभीर चिन्तन के खुले पत्रक होते हैं।

———

६ | कहानी

कहानी अब विकसित साहित्य-विधा है। १९वीं शताब्दी के अन्त में नये रूप में जनमने वाली कहानी अब पनप कर बढ़ ही नहीं गई है, अपितु कई दिशाओं में फैल कर फल-फूल भी ग्रहण करने लगी है। कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से वह हमारी मूल्यवान् धरोहर बन गई है। भावबोध की ताजगी, जीवन-बोध के खरेपन, दृष्टि की स्पष्टता, अनुभूति की प्रामाणिकता तथा अभिव्यक्ति की सहजता से सजी-सँवरी और कटी-छँटी कहानी से साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है। इसकी लोक-प्रियता के कुछ बुनियादी कारण हैं। आज का जीवन पहले की अपेक्षा अधिक उलझनपूर्ण और जटिल हो गया है। हर साहित्य-विधा अपनी दृष्टि से इस परिवर्तन को समोने की कोशिश कर रही है। कहानी अपने दायरे में इस प्रयत्न में बाजी मार ले गई है, अतएव कविता के बाद आज सेहरा उसी के माथे है। आज की कहानी में मनोरंजन के साथ ही जीवन-बोध की सार्थकता, उसकी मूल्यवत्ता और बोध की प्रामाणिकता का दर्शन हुआ है। शिल्प के पुराने 'रेडीमेड' नुस्खों को छोड़ कर वह अब लोक-जीवन के राजपथ पर चल रही है। उसमें बुनावट की सहजता, अनुभव का खरापन और संवेदना की तलख है। वह जीवन में इतस्ततः बिखरे हुए सामान्य और सहज घटना-क्रमों से बोध के विविध स्तरों को उद्घाटित करती रहती है। उसका यह उद्घाटन जीवन-सत्य के निकट होता है। नाटककार लोकधर्मी को नाट्यधर्मी बनाने की कोशिश करता है। कहानी में भी यह बात पाई जाती है। कहानीकार अपने जीवन-बोध को कहानी के साँचे में ढालने की कोशिश करता है। उसका यह बोध जिस अनुपात में उसमें ढलता है, उसी अनुपात में कहानी का कहानी-पन अधिक सार्थक बन जाता है। आज की कहानी में लोकधर्मी विशेषता के साथ ही रचनाधर्मी विशेषता भी पाई जाती है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि उसकी लोकधर्मिता—बोधमयी संवेदना—उसकी रचनाधर्मिता का आधार है। वह प्रतिबद्ध है, बुनियादी तौर पर अपने लिये, दूसरों के लिये और समाज के लिये। उसकी यह प्रतिबद्धता मानव-सचेतनता की परिचायक ही नहीं, अपितु उसकी अन्तर्दृष्टि की विधायक भी है। ईमानदार और प्रतिबद्ध चित्रण के कारण "आज की कहानी में

बिजली की कौंध ही नहीं, अपितु उसकी शक्ति भी है जिसका उपयोग मानवोचित सामर्थ्य की प्रतीक उष्णता और आलोक के लिये किया जाता है।"

परिभाषा

कहानी के परिभाषा की समस्या काफी टेढ़ी है। विकास के भिन्न-भिन्न स्तरों पर इसके कई रूप सामने आये हैं और उसे ध्यान में रखकर इसे परिभाषित भी किया गया है। आज के लोग तोतारटन्त रूप में उसे दुहराते चलते हैं। यह प्रथा सचमुच कम अनर्थकारी नहीं है। इससे तो 'कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा, भानुमती ने कुनबा जोड़ा' की बात सामने आती है। बुनियादी तौर पर इस कुनवे से तब कोई एतराज़ न होता जब यह कम से कम कहानी के विकास-क्रम को चित्रित करके उसकी कुछ विशेषताओं को तरजीह देता। इससे तो सब कुछ के बावजूद द्रविड़ प्राणायाम की ही बात सधती है। यह सत्य है कि परिभाषा की छोटी-सी चौहद्दी में किसी साहित्य रूप के आद्यन्त विकास को द्योतित करना कठिन है, पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उसकी कुछ मूलभूत बातें तो उसमें समा ही सकती हैं। परिभाषा की बात चलते ही 'पो' का नाम हमारे सामने आता है। उनका कहना है कि यह एक वर्णनात्मक आख्यान है जो आकार में इतना छोटा होता है कि उसे एक ही बैठक में पढ़ा जा सके। इसके लेखन का प्रमुख उद्देश्य पाठक को प्रभावित करना है। इसे ध्यान में रखकर कहानीकार ऐसे तत्त्वों को छोड़ देता है जो उस के स्वतःपूर्ण प्रभाव में किसी भी तरह बाधक होते हैं।[1] इस उद्धरण से कई बातें सामने आती हैं, (१) कहानी का आकार इतना छोटा होता है कि उसको एक बैठक में पढ़ा जा सकता है। (२) कहानी की अपनी निजी प्रभावान्विति होती है। कहानीकार इसके बाधक तत्त्वों से बचना चाहता है। (३) कहानी का प्रभाव स्वतः में पूर्ण होता है। ऊपरी परिभाषा में कथ्य और शिल्प दोनों की बात आ गई है। बाद के विचारकों में ब्रैण्डर मैथ्यूज़ ने प्रभावान्विति के साथ ही परिस्थितियों के महत्त्व को विशेष रूप से रेखांकित किया है।[2] हड्सन[3] की दृष्टि में कहानी में केवल एक सूच्य विचार होना चाहिए। इस विचार के व्यावहारिक पक्ष के अन्तःसंबंध को उद्देश्य की

---

1. A short story is narrative, short enough to be read in single sitting written to make an impression on the reader, excluding all that does not forward that impression, complete and final in itself.

2. Brander Mathews in philosophy of short story lays great stress on this unity of impression—what Poe calls the effects of totality, as the mark of distinction between the short story and novel.

3. A short story must contain one and only one informative idea, and that the idea must be worked out to its logical connections with absolute singleness of aim and directness of method.

एकोन्मुखता और पद्धति की स्पष्टता के साथ निरूपित किया जाना चाहिए। सर ह्यू वैलपोल के शब्दों में, कहानी में कहानीपन होना चाहिए, अर्थात् उसे घटित होने वाली घटनाओं का निरूपण करना चाहिए। उसमें ऐसी गति और अप्रत्याशित विकास पाया जाना चाहिए जो पाठक को कुतूहल और चरमोत्कर्ष से होता हुआ संतोषप्रद अन्त तक पहुँचाने में सक्षम हो।[1] 'पो' के बाद की परिभाषाओं में उभयनिष्ठ तत्त्व हैं। 'पो' की ही तरह 'मैथ्यूज़' भी प्रभाव की ही बात उठाते हैं और मैथ्यूज की परिस्थितियों और घटनाओं की बात को हड्सन और वैलपोल प्रस्तुत करते हैं। वैलपोल महोदय ने कहानीपन के साथ ही घटनाओं के निरूपण, गति, विकास, कुतूहल, चरमोत्कर्ष तथा संतोषप्रद अंत की भी बात उठाई है। इस परिभाषा से एक बना-बनाया नुस्खा हमारे सामने आता है जो पहले की कहानियों के अध्ययन का समीकरण तो हो सकता है, पर परवर्ती विकास में सहायक नहीं सिद्ध हो सकता। हिंदी विचारकों में अज्ञेय[2] भी प्रभाव की एकांतिकता की बात उठाते हैं। पर ये बातें आज के कहानीकार को मान्य नहीं हैं। कमलेश्वर का कहना है, "एक शानदार अतीत कुत्ते की मौत मर रहा है, उसी में से फूटता हुआ एक विलक्षण वर्तमान रूबरू खड़ा है—अनाम, अरक्षित आदिम अवस्था में। और आदिम अवस्था में खड़ा यह मनुष्य अपनी भाषा चाहता है, आस्था चाहता है, कविता और कला चाहता है, मूल्य और संस्कार चाहता है, अपनी भौतिक दुनिया चाहता है।" भैरव प्रसाद गुप्त के शब्दों में, इस प्रकार की चाह पर आधारित कहानियाँ "शिल्प या रंगीन कला की कलाबाजी पर खड़ी नहीं होतीं, उनका निर्माण जीवंत वस्तु-शिला पर होता है। इसीलिये वे पत्थर की तरह ठोस और कंकरीट की तरह शक्ति-सम्पन्न होती हैं, उनमें आपको बड़े बोल नहीं मिलेंगे, घुमाव-फिराव या बाल की खाल निकालने को बारीकी नहीं मिलेगी, मिलेगी एक सरलता, एक सहजता, एक सादगी और एक सीधापन...लक्ष्य भी सीधा और अचूक होगा।...कहानी की कोई एक बात या कोई एक विशेषता हमारे मन में नहीं बसती, बल्कि पूरी कहानी हमारे स्मृति-पट पर चित्रित रहती है। इसका कारण यह है कि (सर्जक) एक बात-विशेष या एक चरित्र-विशेष के इर्द-गिर्द कथानक के जाल नहीं बुनते, बल्कि जीवन का एक जिन्दा टुकड़ा ही उठाते हैं और उसे ही अपनी सहज कला से गढ़ कर सामने रख

1. A short story should be a story, a record of things, happening full of incidents and accidents, swift movements, unexpected development, leading through suspense, to a climax and satisfying denouement.

२. कहानी नामक साहित्य-प्रकार में एकान्त प्रभाव ही साहित्यकार का उद्देश्य होता है और उसके द्वारा चुनी हुई वस्तु उस उद्देश्य की प्राप्ति का साधन। वह प्रभाव और उस प्रभाव की एकान्तिकता मुख्य है।

देते हैं।" गुप्त जी की यह मान्यता आज के रचनाधर्मी पक्ष को समझने में सहायक है। पहले की कहानी और आज की कहानी में बुनियादी भेद है। पहले की कहानी सूत्र, समीकरण या फार्मूले की कहानी थी। उसमें किसी भी मनोभाव, घटना-विचार या प्रवृत्ति को लेकर एक ताना-बाना बुना जाता था और किसी केन्द्रीय तत्त्व को उभाड़ कर उसके संवेदनात्मक प्रभाव को रेखांकित किया जाता था। पर आज की कहानी में यह बात नहीं पाई जाती। कहानीकार सचाई के साथ जटिल परिवेश से जूझते, संघर्ष करते और टूटते व्यक्ति का समग्र चित्र उरेहना चाहता है। इन चित्रों को बोध के जिन रंगों से भरा जाता है—वही कहानी का प्रेरणा-स्रोत बन जाता है। हेनरी जेम्स ने एक बार कहा था—"उपन्यास अपनी व्यापक परिभाषा में जिन्दगी का वैयक्तिक और सीधा प्रभाव है।" आज कहानी के विषय में भी हम यही कह सकते हैं कि कहानी अपनी व्यापक परिभाषा में जिन्दगी का वैयक्तिक और सीधा प्रभाव है। आज का कहानीकार स्वेच्छया किसी भावात्मक, बौद्धिक अथवा हास्य-प्रधान जीवन-बिंब की योजना बनाता है और अपने रचना-कौशल से इसकी आड़ी-बेड़ी, सीधी-टेढ़ी रेखाओं को इस रूप में उभारता है कि वह व्यक्ति के यथार्थ जीवन-संघर्ष से हमें परिचित करा सके। इस दृष्टि से विचार करने से यही ज्ञात होता है कि आज की कहानी की सबसे बड़ी नियति उसका अपरिभाषित होना है।

स्थापत्य के दिशा-निर्देशक तत्त्व

कहानी के पूर्ववर्ती तंत्र जब अनावश्यक और अर्थहीन हो गये हैं तो फिर उसके तत्त्वों के विवेचन का क्या अर्थ हो सकता है? आज के व्यक्ति के लिये क्या वे पिष्टपेषण मात्र नहीं हैं? ये प्रश्न कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इस संदर्भ में मैं ग्राहम वाल्फोट को उद्धृत करना चाहूँगा। उनकी दृष्टि में कहानी-लेखन की प्रमुख तीन पद्धतियाँ हैं। कथाकार कोई कथानक लेकर उसके उपयुक्त चरित्रों की अवतारणा करता है या वह कुछ चरित्रों को लेकर उन्हें घटनाओं और परिस्थितियों से विकसित करता है। इनके अतिरिक्त एक तीसरी पद्धति भी है। इस पद्धति से वह किसी विशेष माहौल को कार्य-व्यापार और पात्रों के द्वारा सजीव रूप में चित्रित करता है। इस चित्रण का प्रमुख उद्देश्य आत्मान्वेषण और सतत् गतिशील आत्म-विकास की सहज उपलब्धि है। यही उपलब्धि सर्जन के रूप में समाज की मूल्यवान् विरासत बनती है। राजेन्द्र यादव के शब्दों में—"कहानी व्यक्ति और परिवेश का वह सम्बन्ध क्षण है जो ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में युग की एक-एक नब्ज छूता है...उसे नाम देने और समझने की कोशिश करता है।" प्रश्न यह उठता है कि इस प्रयत्न का आधार क्या है? कथानक, चरित्र, वातावरण आदि की शिल्पगत विशेषता या उसके अतिरिक्त कोई अन्य अरूप, अनाम यूतोपिया। सब कुछ के बावजूद मूल्यांकन के लिये तो शून्य में मुक्केबाजी नहीं की जा सकती और अगर की भी जाय तो

उसकी कोई उपलब्धि नहीं हो सकती। मेरी दृष्टि में इसे सही रूप में समझने के लिये सब परिवर्तन के बावजूद कहानी के कुछ तत्त्व सहायक हो सकते हैं। कहानी बदली है तो उसके साथ वे तत्त्व भी तो बदले हैं। वे भी तो सशक्त या क्षीण हुए हैं, दृश्य या अदृश्य बने हैं। तो क्या उन शीर्षकों के अंतर्गत इस विकास-क्रम को रेखांकित नहीं किया जा सकता ? अगर वे शब्द अपनी अर्थवत्ता खो भी चुके हैं तो उनके लिये आधुनिक विचारकों ने किन शब्दों का प्रयोग किया है ? निर्माण कठिन होता है, विध्वंस सरल। मैं यहाँ एकेडमिक दृष्टि से विचार करना अधिक उपयुक्त समझता हूँ।

कथानक

साहित्य के विकास-क्रम में हमें दो तरह के युगों का दर्शन होता है। एक वह जो स्वतंत्रता, स्थायित्व, शान्ति और वैभव का युग है। मनुष्य नियम और अनुशासन को मानकर चलता है। वह जो कुछ भी है, उससे संतुष्ट है और जो नहीं है, उसकी उसे परवाह नहीं। ऐसी सामाजिक व्यवस्था में परंपरादर्शवादी साहित्य पनपता है। इसके अलावे समाज की वह अवस्था होती है, जब व्यक्ति की आस्था और विश्वास के तन्तु बिखर जाते हैं, वह समाज की वर्तमान दशा से असन्तुष्ट हो जाता है और वर्तमान सड़ी-गली व्यवस्था को समूल उखाड़ फेंकने की कोशिश करता है। यह क्षिप्र परिवर्तन का काल संक्रान्ति-काल कहा जाता है। ऐसी स्थिति में साहित्य की मान्यतायें भी करवट बदलने लगती हैं। आदर्श अहं के स्थान पर इदं का बोल-बाला हो जाता है, और मनुष्य सामाजिकता के दृश्य पटल को भेदकर उन मूल आदिम स्रोतों की ओर बढ़ता है जो प्रेरणा के मूल में प्रच्छन्न रूप से विद्यमान रहते हैं। प्रथम स्थिति में कथानक, चरित्र, या वातावरण का जो भी रूप रहता है, वह दूसरी में बदल जाता है। पहली स्थिति की मूर्तता, स्पष्टता, दूसरी स्थिति की अमूर्तता और अस्पष्टता में बदल जाती है। कथानक के स्थूल से सूक्ष्म या मूर्त से अमूर्त की ओर बढ़ने का यही रहस्य है। साहित्य के विकास-क्रम में संभवतः कथानक और शिल्प को लेकर सर्वाधिक प्रयोग हुए हैं। अतएव इनके सूक्ष्म अध्ययन को हम मानव की मनोभूमि के विकास को समझने का साधन बना सकते हैं। आधुनिक साहित्य में कथानक क्षीण हुआ है। वह अमूर्तता की ओर बढ़ा है। यूनानी विचारक अरस्तू ने एक बार कहा था कि नाटक या महाकाव्य में कथानक प्रमुख है और चरित्र गौड़। कुछ अपवादों को छोड़कर यह बात बहुत समय तक अपना सिक्का जमाये रही। हिंदी में द्विवेदी युग तक इसी का डंका पिटता रहा। बाद में प्रेमचंद और प्रसाद की कृतियों में कथानक और चरित्र में संतुलन स्थापित हुआ जो आगे चलकर पुनः बिखर गया। इस बिखराव का प्रमुख कारण बहिर्मुखी विवरणात्मकता का अंतर्मुखी विश्लेपणात्मकता में परिणत होना था। इसी आपाधापी में कथानक कहीं सूक्ष्म होकर अदृश्य हो गया तो चरित्र कहीं केवल भयंकर मानसिक दलदल में फँसकर अपनी

स्पष्टता खो बैठा। पर सब कुछ के बावजूद यह मोड़ कहानी-साहित्य के विकास में सहायक ही सिद्ध हुआ।

बुनियादी तौर पर कथानक को सहज या जटिल घटनाओं का वह ढाँचा माना जा सकता है जिस पर किसी भी कलाकृति का स्वरूप निर्मित होता है। कथानक का संबंध कार्य-कारण शृङ्खला पर आधारित निश्चित काल की सीमा में घटित होने वाली घटनाओं से होता है। काल का संबंध निबंध और गेय कविता से कम होता है, पर अन्य साहित्य-रूपों से अधिक। कथानक में काल-प्रसार की ही बात नहीं पाई जाती, कार्य-कारण संबंध पर आधारित होने के कारण मानव की संसृति-संबंधी विवेकपूर्ण अवधारणा की बात भी पाई जाती है। यही कारण है कि जब मनुष्य का इस संघटना की तर्कसंगत भावना से विश्वास डिगता है, तब कथानक की मान्यता में मोड़ आ जाता है। कहानीकार अपने कथानक में डाइनॉमिक घटनाओं को चित्रित करता है। अतएव वह परिवर्तन का भी सूचक होता है। कथानक के घटना-क्रम में तरह-तरह के लोगों के विचार और भावना के द्वन्द्व निहित रहते हैं। ये द्वन्द्व माहौल के चित्रण के साथ ही व्यक्ति के बाह्य और आंतरिक स्वरूपों को भी रूपायित करते हैं। कथानक में एकसाथ दो विरोधी तत्त्वों का समावेश मिलता है। उसमें विश्वसनीयता के साथ ही कुतूहल भी पाया जाता है। विश्वसनीयता स्थायित्व की जनक होती है, पर कुतूहल मानसिक तनाव या अस्थिरता का। कहानी के कथानक की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि उसमें लेखक द्वारा परीक्षित, मूल्यांकित तथा अभीप्सित, सामान्य, असामान्य अथवा स्थायी-अस्थायी तत्त्वों का संश्लेषण पाया जाय। कुछ लोग इस महत्त्वपूर्ण पहलू को नहीं समझ पाते। वे कथानक के संदर्भ में प्रभावान्विति को न तो समझ सकते हैं, न कार्यान्विति को। कथानक के धरातल पर अन्विति का यह प्रश्न तभी सुलझ सकता है जब कथानक और चरित्र भी आपस में अन्वित हों और कार्य-व्यापार समन्वित हो। कुछ लोगों की यह आम धारणा है कि कहानी का संबंध जीवन से होता है जो स्वयं में समन्वयशील नहीं है तो फिर कथानक के समन्वय की क्या बात ? यथार्थ में यह बात बहुत समझदारीपूर्ण और सोची-समझी नहीं ज्ञात होती। इसे हम कला और जीवन के मसले से अच्छी तरह समझ सकते हैं। अमूमन लोग यह भूल जाते हैं कि कला जीवन नहीं है, जीवन की व्यंजना है। अगर कला और जीवन में व्यंजना के धरातल पर एका है तो यह बात बुरी नहीं। इसके अलावे अगर कोई कहानीकार अपनी कहानी द्वारा जीवन की विसंगति को उभाड़ कर रखना चाहता है और उसके अनुरूप कथा-शिल्प अपनाता है तो इसे भी बुरा नहीं कहा जा सकता। पर अक्सर यह देखने में आता है कि विसंगति लोक अथवा समाज की विसंगति नहीं है, वह तो व्यक्ति की विसंगति है जो नारेबाजी के रूप में समाज पर हावी होने के लिये ऊधम मचाये हुए है। इस प्रकार के ऊधम से लेखक को सतर्क रहना है। आज की कहानी और उपन्यास में

बहुत कुछऐसा है जो आरोपित और तथ्यहीन है और सस्ती भावुकता और बौद्धिकता के सहारे जी रहा है। स्वयं कहानीकार विचार करें कि विकास की दृष्टि से यह बात कितनी ठीक है। मेरी दृष्टि में ऐसा कथानक जो जीवन की मिट्टी से उपजता है और उसी के आधार पर अपने को विकसित करता है, जिसकी नस में जीवन का रक्त प्रवाहित होता है और जिसका संबंध जीवन की व्यंजना से होता है, वह अपने सशक्त और अशक्त दोनों स्वरूपों में ग्राह्य है।

कहानी विकासशील साहित्य-विधा है। उसके द्वारा कहानीकार ने बदलती हुई चेतना को नापने की कोशिश की है और वह उसमें सफल भी हुआ है। इसका प्रमुख श्रेय उसकी प्रतिभा और जीवन-बोध को है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि स्थापत्य पर विचार करते समय, कथानक के जोड़-तोड़ की बात सोचते समय, वह इनका सही उपयोग करे। प्रयोग साहित्य को नया बनाता है। पर खोखला और अर्थहीन प्रयोग उसे नकटी शूर्पणखा की स्थिति में लाता है, उद्देश्यहीन और पथ-भ्रष्ट बनाता है। अगर कथानक में नाटकीयता, कुतूहल, चरमोत्कर्ष, आंतरिक संग्रथन और व्यंजना के धरातल पर ऐसे प्रयोग हों जिनसे कहानी को दिशा मिले तो उस पर नाक-भौं सिकोड़ने वाले को कला के मर्म से अनभिज्ञ माना जायेगा। आज की कुछ कहानियों का वस्तु-गठन शिथिल है, फिर भी वे अपनी भावधारा में भरी-पूरी हैं, उनमें रोचकता और कुतूहल का अभाव नहीं है। वे कहानीकार की सतेज प्रतिभा और विधि-निषेध की भावना की परिचायक हैं। यह उसकी सफलता का रहस्य है। मनोविज्ञान और समाजविज्ञान के अध्ययन से आज के व्यक्ति के भावकोणों पर नया प्रकाश पड़ा है और वे पहले से अधिक स्पष्ट भी हुए हैं। इससे कहानी के द्वन्द्व की भावना प्रभावित हुई है और वह अधिक से अधिक मानसिक बन गया है। आज का कहानीकार कथानक के संदर्भ में परिवेश और द्वन्द्व के अंत:-संबंध के साथ ही संगठन और परिवेश के अंत:संबंध के प्रति भी जागरूक है। इससे कथानक में कलात्मक चारुता आई है। कथानक में आदि, मध्य और अंत का भी महत्त्व होता है। आदि की कई पद्धतियाँ प्रचलित हैं। कहानीकार उसे चित्र-विधान या नाटकीय ढंग से आरंभ करता है। कुछ कहानियों में प्रकृति-चित्रण का भी सहारा लिया गया है। अंत के विषय में सभी लोग किसी एक बात पर सहमत नहीं हैं। कुछ लोग कहानी को प्रश्न-चिह्न के साथ समाप्त कर देते हैं, पर कुछ लोग उसका तर्कसंगत अंत खोजते हैं। कथानक भी दो प्रकार के होते हैं। पहला—रैखिक शिल्प-प्रधान कथानक (linear) और दूसरा—चक्रिल शिल्प-प्रधान कथानक (spiral)। सहज मानवीय अनुभूति के लिये हम रैखिक शिल्प और जटिल तथा मर्मस्पर्शी अनुभूति के लिये चक्रिल शिल्प का सहारा लेते हैं। कहानी की तथ्यात्मक संघटना में उसके सूक्ष्म विवरण संघटित रहते हैं। इस चित्रण के दो उद्देश्य हैं—(१) कल्पित

उपादान को प्रस्तुत करना और (२) सामंजस्य के दृश्य-विधान की व्यंजना करना। संघटना की दुहरी व्यंजना की ही तरह इन कहानियों के पाठक की मनोवृत्ति भी दुहरी होती है। कहानी का एक वह ढाँचा होता है जो कथानक या पात्रों के द्वारा निर्मित होता है और दूसरा वह ढाँचा होता है जो निश्चित सत्य की व्यंजना करता है। कथानक का विश्वसनीय होना आवश्यक है। विश्वसनीयता का मतलब यह है कि उसके चरित्र जाने-पहचाने और ज्ञात हों तथा उसकी अनुभूति समन्वित और कार्य-कारण-शृङ्खला की परिचायक हो।

कहानी के कथानक में मुख्य कथानक के साथ ही सहायक कथानक की योजना भी पाई जाती है। सहायक कथानक कहानी के केन्द्रीय भाग को घेरे रहता है और इसे (frame narrative) कहा जाता है। जो कथानक हमारी आशा और निराशा के साथ ही जिज्ञासा वृत्ति को प्रभावित करके हमारे मानस को तरह-तरह के प्रश्नों से भर देता है, वह सफल माना जाता है। कहानी का मूल बिन्दु कुतूहल है, जिज्ञासा है। छोटे बच्चे परी की कहानी सुनते समय प्रायः पूछा करते हैं—'तब क्या हुआ ?' जो कहानी हमारी इस परिपृच्छा को जिस मात्रा में बनाये रहती है, वह उतनी ही महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। कहानी के सफल कथानक की एक निश्चित रवानी और गति होती है। उसकी प्रेरणा के मूल में कोई न कोई द्वन्द्वात्मक विचार उपस्थित रहता है। कहानीकार इसी द्वन्द्व को आवश्यकतानुसार उलझाता-सुलझाता, उसमें जरूरी तरमीम करता अंत तक पहुँचता है। यह क्रिया विश्लेषण से आरंभ होकर संश्लेषण की ओर बढ़ती है। यही संश्लेषण कथानक की ही नहीं, अपितु पूरी कथा-शक्ति की कसौटी होता है। कथानक के निर्माण का प्रमुख आधार विधायक कल्पना है जो देश-काल के अनुसार रूप ग्रहण करती रहती है। किसी एक लेखक में भी वह अपने विकास के कई रूपों में दिखाई देती है।

वैसे आज तक के कहानी-साहित्य पर विचार करने से कथानक के कई रूप हमारे सामने आते हैं। आरंभिक दशा में यह स्पष्ट और मूर्त रहा है, पर दूसरे स्तर पर बौद्धिकता के समावेश के कारण उसमें बारीकी आ गई है। तीसरे स्तर पर कथानक मनोभावों की प्रमुखता के कारण अनावश्यक रूप से अमूर्त बन गया है। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने इसकी विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखा है, "ऐसी कहानियों में जैसे कोई भाव ही फैलकर स्वयं कहानी बन गया है और उसमें कथा-तत्त्व, चरित्र आदि इस तरह संकुचित हो गए हैं कि इन सब तत्त्वों की एक स्वतन्त्र सत्ता ही एक-दूसरे में खो गई है। 'क्या हो' में सब कुछ स्मृति-चिंतन द्वारा ही किया गया है। लेकिन फिर भी कथानक-तत्त्व इतने सूक्ष्म स्वरूपों में होता हुआ भी अपने में इतना वेग रखता है कि संपूर्ण कहानी किसी अग्नि-शिखा-सी प्रतीत होती है जो किसी तूफ़ान की गति में जलती-जलती सहसा टूट जाती है। चौथे प्रकार में एक

तरह से कथानक का पूर्ण ह्रास हो गया है, क्योंकि ये कहानियाँ आंतरिकता की रेखाचित्र हैं। फलतः यहाँ सूक्ष्म भावों, मनोविकारों को स्थूल कथानक में समेटा ही न जा सका है।" नई कहानियों के कथानक की चर्चा करते हुए वह पुनः कहते हैं, "कथानक अपनी क्रमबद्धता, एकसमता और वर्णनात्मकता से आगे बढ़कर मानसिक सूत्रों, मनोवैज्ञानिक चक्रों, सूक्ष्म घटनाओं, मनोद्वेगों से निर्मित होकर स्फुट रेखाचित्रों, टुकड़ों और सांकेतिक रूपों में कभी-कभी इतने व्यापक हो गये हैं कि उनमें जीवन के लंबे-लंबे भाग और विस्तृत समस्याएँ संगुंफित हो गईं।

डॉ० नामवर जी ने एक मजे की बात कही है, "जिसे कथानक कहा जाता है, वह दरअसल पाठक के दिमाग की उपज है। कहानीकार तो कहानी की रचना करता है, उसे संक्षिप्त और सरल करके कथासूत्र निकालने का काम पाठक करता है। एक संक्षिप्त अनुभव-पुंज को अगल-बगल से काट-छाँट कर सीधी सपाट चीज प्रायः निकाली जाती है। उसका सारा श्रेय पाठक को है और वह एकदम पाठक की रचना है। कहानीकार इस मामले में निर्दोष है। काश कि पाठक उस रचना के लिये आत्म-सजग होता।" मजे की बात यह है कि डॉ० साहब ने पाठक के द्वारा कहानी के सरलीकरण और संक्षिप्तीकरण को कथानक मान लिया है, पर वह कथा है, कथानक नहीं। पाठक को अनावश्यक महत्त्व देने के कारण संभवतः यह भूल हो गई है। मेरी दृष्टि में कथानक कहानी का वह कलात्मक ढाँचा है जो उसके स्वरूप-निर्माण में सहायक सिद्ध होता है। डॉ० साहब की बात मान लेने से एक और उलझन सामने आ जाती है—पाठक अपनी रुचि के अनुसार कहानी को संक्षिप्त करके देख सकता है, पर वह संक्षिप्तीकरण समान नहीं हो सकता है। अगर डॉ० साहब की बात मानें तो किसी एक कहानी के पाठक की दृष्टि से अनेक कथानक की बात सामने आ सकती है। यह बात कम उलझनपूर्ण नहीं है।

चरित्र

कहानी में चरित्र का प्रयोग दो अर्थों में होता है, (१) कहानी में प्रस्तुत व्यक्ति के लिये, (२) इच्छा, अभिलाषा, आशा, निराशा तथा घृणा और क्रोध आदि मनोभावों से युक्त चलते-फिरते पुतले के लिये। कहानी का प्रमुख उद्देश्य पाठक को किसी अनुभूति का बोध कराना है। हर अनुभूति के दो घटक होते हैं—(१) तथ्य, (२) तथ्य में निहित व्यंजना। इसमें कोई दो राय नहीं कि हम तथ्य से होकर व्यंजना तक पहुँचते हैं जो बाद में साधारणीकृत होने पर महत्त्वपूर्ण बन जाती है। व्यंजना का संबन्ध भी घटना-क्रम और उसमें क्रियाशील पात्र से होता है। इस दृष्टि से चरित्र को कहानी का प्रमुख तत्त्व माना जा सकता है। इस संदर्भ में एक बुनियादी सवाल उठाया जाता है कि कहानी के पात्र जीवन के पात्रों-सदृश होते हैं या उनसे कुछ भिन्न? इसका जवाब पहले दिया जा चुका है। यहाँ केवल इतना

कह देना पर्याप्त है कि कहानीकार की अपनी अंतर्दृष्टि और अपना जीवन-बोध होता है। वह इसके लिये चरित्रों और घटनाओं की अवतारणा करता है। उसका बोध जितना खरा, स्पष्ट और प्रभावी होता है, उसकी चरित्र-सर्जना भी उतनी ही महत्त्व-पूर्ण बन जाती है। इसके मूल में बोध के अतिरिक्त और बहुत कुछ होता है, जिसे हम कहानी की आवश्यकता, कहानीकार की प्रतिभा और उसका दृष्टि-विंदु कह सकते हैं। कहानी का पात्र अमूमन दृश्य अथवा अदृश्य रूप में सारे तथ्यों से प्रभावित होता है एवं उन्हें प्रभावित करता भी है। इसी को ध्यान में रखकर थैकरे ने एक बार कहा था—"मैं अपने चरित्रों को नियंत्रित नहीं करता। मैं तो उनके हाथ का खिलौना हूँ और वे मनमानी ढंग से मुझे जिधर चाहते हैं, ले जाते हैं। यथार्थ में सर्जनात्मक प्रतिभा और 'टैलेन्ट' के भेद को हम भूल जाते हैं। 'टैलेन्ट' कुछ उत्पन्न करती है, निर्माण करती है, पर सर्जनात्मक प्रतिभा सर्जन करती है। सृजन की प्रमुख विशेषता सजीव चित्रण है।" कहानी का कार्य-व्यापार चरित्र को द्योतित करता है और चरित्र स्वयं अपने को कहानी में प्रकट करता है। कहानीकार जीवन के चरित्रों का अनुकरण नहीं करता। वह तो जीवन से उतना ही ग्रहण करता है, जितना कहानी के लिये जरूरी है। इस परिग्रहण से एक दिलचस्प इंसान हमारे सामने उपस्थित होता है जो अपने ही तरह के इंसानों से कुछ माने में कम तो कुछ माने में अधिक भी होता है। कहानी में हमें प्रमुख और गौण पात्र देखने को मिलते हैं। गौण पात्र प्रमुख पात्रों के उपस्कारक और सहायक होते हैं। ये पात्र पौराणिक, ऐतिहासिक या कल्पित किसी भी तरह के हो सकते हैं। पौराणिक और ऐतिहासिक पात्रों के चित्रण में खिलवाड़ की गुंजाइश नहीं रहती। कल्पना-प्रधान चरित्रों के निरूपण में लेखक स्वतन्त्र होता है। वह उनके जीवन के आरोह-अवरोह अथवा उतार-चढ़ाव को इस रूप में चित्रित करता है जिससे एक संवेदनशील प्राणमयी मूर्च्छना जग सके। आज के कहानीकार प्रायः जीवन का यथावत् फोटोग्रैफिक चित्र देने की कोशिश करते हैं। उनकी धारणा है कि भाषा और भाव के धरातल पर प्रयोग करके वे कुछ अलाउद्दीन के चिराग-जैसा जादुई करिश्मा दिखा सकते हैं। पर ये भोले लोग भूल करते हैं। प्रयोग हर काल और हर देश में हुए हैं और भाव को बाँधने के लिये भाषा की कुर्बानी भी दी गई है; पर वे इतने उच्छृंखल भाव से इसे कभी नहीं कह पाये। इसका एक प्रमुख कारण है कि वे लोकधर्मी होने के साथ ही रचनाधर्मी कलाकार रहे हैं। सृजन से उनका वास्ता पड़ा है और उन्होंने इसे समझना भी चाहा है; दिल और दिमाग खोल कर समझना चाहा है। उन्होंने केवल अहं के गुड़िले नहीं खिचाये हैं, अपितु अपने गुड़िले से बाहर झाँककर कुछ समझना और बूझना चाहा है। उन्होंने जीवन का नारा भले न दिया हो, आज के लोगों की तरह परी और लालपरी की संस्कृति की बौद्धिकता भले न बघारी हो, पर उन्होंने जीवन को देखा था। उत्तरदायित्व व्यक्ति को शालीन बनाता है, गंभीर बनाता है, उच्छृंखल अहंग्रस्त,

वातुल नहीं। आज के कतिपय लोगों की बात का क्या कहना। उन्होंने कलम क्या हाथ में पकड़ ली कि सैलाब आ गया। और सैलाब भी वह जो अपने सैद्धांतिक खोखलेपन की याद दिलाने वाले को नेस्तनाबूद कर दे, जड़ से उखाड़ फेंके और इसमें अगर कहीं चूक जाये तो बदनाम कर दे। ऐसी स्थिति में साहित्य-चर्चा का क्या अर्थ ? पर आज के व्यक्ति के लिये जीना जैसे मजबूरी है, उसी तरह से कुछ लोगों के लिये लिखना भी मजबूरी है। हाँ, तो मैं कह रहा था कि जीवन की परख करने वाले चरित्र का चित्रण करने वाले होते हैं। जीवन को सतही धरातल पर देखने वाले, सस्ती वाहवाही लूटने वाले, आँख के अंधे और गाँठ के पूरे चरित्र-चित्रण की सार्थकता को क्या समझें ? असल में चरित्र-चित्रण कहानीकार के उत्तरदायित्व के निर्वाह का खरा सबूत होता है। इसके लिये प्रमाण की जरूरत नहीं होती। इसका प्रमाण तो खुद कृति है। कहानीकार को अपनी ओर से कुछ जोड़ने-घटाने की जरूरत नहीं महसूस होती। उसकी कहानी खुद उसकी 'डिफेन्स' का काम करती है। कहानीकार को तो तब कुछ कहने की जरूरत पड़ती है, जब उसके दिमाग में यह शंका घर कर जाती है कि शायद उसके द्वारा रचित कृति को समझने वाला और समझाने वाला और कोई है ही नहीं; एक बार इतिहास में प्लेटो को अपनी बुद्धि का ग़रूर हुआ था तो उसने विचारे कवि के देशनिकाले की बात उठाई। आज के पुनः कुछ नव-सिखुए कहानीकारों को अपनी सृजनशीलता का गरूर हुआ है तो उन्होंने 'आउट-राइटली' भलेमानस आलोचक को 'कैन्सेल' कर दिया है। मुबारक है ऐसी महत्त्वा-कांक्षा को, दाद देनी पड़ती है ऐसी सूझ को। कबीर ने बहुत पहले ही कह रखा है "अंधइ अंधा ठेलिया दूनी कूप परंत।" भाई आप अनायास ठेला-ठाली करके कुएँ में ही नहीं, भक्खड़ में पड़ें, अपने राम से मतलब !

बात चल रही थी कल्पना-प्रधान पात्रों की। इनके चित्रण में विधायक कल्पना विशेष सहायक होती है। लेखक के पात्र-निरूपण की क्षमता के प्रसार और संकोच का प्रश्न भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। अपने सूक्ष्म जीवन-बोध और कल्पना के सहारे कुशल कहानीकार ऐसे पात्रों को सामने रख देता है जो सजीव पात्रों से भी आकर्षक और मोहक दीख पड़ने लगते हैं। पात्रों के दो वर्गों का उल्लेख किया जाता है—(१) स्थिर पात्र और (२) परिवर्तनशील पात्र अथवा विकासोन्मुख पात्र। स्थिर पात्रों को 'केरिकेचर' और 'टाइप' नाम से भी जाना जाता है। ये पात्र किसी भी स्थिति से विशेष प्रभावित नहीं होते। वे सदैव समान बने रहते हैं। कहानीकार इन्हें किसी न किसी वर्ग का प्रतिनिधि बनाकर उपस्थित करता है। विकासोन्मुख पात्र परिवर्तनशील होते हैं, वे जीवन के मनोभावों से प्रभावित होते हैं। इनका परिवर्तन अकारण नहीं होता। कहानीकार को इसका कारण बताना पड़ता है। स्थिर पात्रों का न तो स्थायी प्रभाव होता है और न वे कहानी के लिये उपयुक्त होते हैं।

विकासोन्मुख पात्र इनकी तुलना में अधिक प्रभावी होते हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण में अमूमन दो शैलियों का विशेष दखल होता है; (१) विश्लेषणात्मक शैली, और (२) नाटकीय शैली। पहली शैली में कहानीकार अपने पात्रों के मनोभावों, उद्देश्यों और संवेदनों को विश्लेषित कर के हमारे सामने रखता है, पर दूसरी शैली में वह नाटकीय ढंग से पात्रों के कथोपकथन द्वारा सूक्ष्म तंतुओं को स्पष्ट करता है। इस प्रकार के चित्रण के लिये उसे नाटकीय और अनाटकीय तत्त्वों को जोड़ने की ज़रूरत होती है। कहानीकार को न तो उपन्यास की तरह आकार की छूट है और न नाटककार-जैसी रंगमंचीय विशेषता प्राप्त है। उसे तो अपनी सीमा में कलात्मक प्रभाव उत्पन्न करना है। इसके लिये वह कुछ युक्तियों को अपनाता है। वह अपने चरित्रों को अधिक से अधिक गतिशील बनाता है और कहानी के दायरे में संकोच उत्पन्न करता है। इस संकोच को कहानी के घनत्व की संज्ञा दी जा सकती है। 'गोर्दो' और अलेनटेट ने 'एनवेलपिंग ऐक्शन' की बात उठाई हैं। इस प्रकार के कार्य-व्यापार के सहारे चरित्रों की यथार्थ स्थिति के चित्रण द्वारा एक सामाजिक परिप्रेक्ष्य की स्थापना की जाती है। इससे चरित्र-चित्रण में विशेष सहायता मिलती है। इधर पात्रों के मानसिक पक्ष के उद्‌घाटन की ओर लोगों का ध्यान विशेष रूप से गया है। इसके मूल में मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का प्रमुख हाथ है। आधुनिक कहानियों में इसी लिये चरित्र की प्रधानता मिलती है। चरित्रों के इधर इतने अधिक चित्र उरेहे गये हैं कि उनसे मानव के व्यक्तित्व के महत्त्वपूर्ण अंश उद्‌भासित हो उठते हैं। 'आत्म-विश्लेषण, मानसिक अन्तर्द्वन्द्व, स्वगत कथन, अवचेतन विज्ञप्ति और बिखरे तथा असंबद्ध कार्य-व्यापारों' के माध्यम से इसे नये रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। प्रायः यह देखने में आता है कि जटिल सामाजिक व्यवस्था में इन्सान अपना प्राप्य न प्राप्त कर सकने के कारण, विद्रोही, अहंग्रस्त और वैयक्तिक हो जाता है। परि-स्थितियाँ उसे अधिक से अधिक स्वच्छन्द बना देती हैं। इस प्रकार के समाज़ और व्यक्ति का अध्ययन काफी रोचक और दिलचस्प होता है। मनोविज्ञान के आग्रह के कारण कुछ अतिरंजित, अतिशयोक्तिपूर्ण और आरोपित चित्र सामने आये हैं, फिर भी मनुष्य के सही चित्रण में उससे सहायता भी मिली है। आज की कहानी इस दृष्टि से विशेष सफल मानी जाती है।

तात्त्विक दृष्टि से कथानक और चरित्र को अलग-अलग विवेचित करने की प्रथा चल पड़ी है। कुछ लोग यह कहते नज़र आते हैं कि कहानी कथानक-प्रधान है अथवा चरित्र-प्रधान। यह बात ऊल-जलूल और दकियानूसी है। कहानी पढ़ते समय हमारी रुचि कहानी के कहानीपन से उलझी रहती है, पर पढ़ लेने के बाद यह बात कुछ गौण हो जाती है। इसकी तुलना में चरित्रांकन कुछ अधिक प्रभावी तत्त्व सिद्ध होता है। पहले की जिन कहानियों में कथानक अथवा चरित्र पर अधिक

बल दिया गया है, उनमें अन्य तत्त्व उन्हीं को सँवारने में कमज़ोर बन गये हैं। यह कमज़ोरी कथा-साहित्य के लिये उपयोगी नहीं घातक सिद्ध होती है। आज की कहानियों में कथांश काफी क्षीण और चरित्रांकन काफी सशक्त है। अमूमन वे कहानियाँ अधिक रोचक और कलात्मक सिद्ध होती हैं जिनमें आन्तरिक घात-प्रतिघात, तनाव, कथानक और चरित्र का व्यावहारिक पक्ष विशेष रूप से उभड़ कर सामने आता है।

कथोपकथन—कथोपकथन नाटक या एकांकी की प्रमुख विशेषता है। नाटक के अतिरिक्त अन्य साहित्य-रूपों में नाटकीयता का प्रयोग वांछित है। इसी से उनमें सजीव, सार्थक और व्यंजक कथोपकथन की योजना मिलती है। कथोपकथन से कहानी में सजीवता आती है। बात करने वाले अन्य लोग हमारे सीधे सम्पर्क में होते हैं। बातचीत और बहस-मुबाहिसे के हाव-भाव से कहानीकार अपनी कहानी में कुछ अतिरिक्त व्यंजना और चमत्कार उत्पन्न कर देता है। कथोपकथन का उपयोग एक साथ ही कई उद्देश्यों के लिये किया जाता है। इससे कथानक और चरित्र के विकास में सहायता मिलती है। कार्य-व्यापार को विकसित किया जाता है और कहानी के बिखरे सूत्रों को जोड़ा जाता है। यही कहानी के संश्लेषण और विश्लेषण का प्रमुख आधार सिद्ध होता है एवं जटिल से जटिल मनोभावों को सहज ढंग से हमारे सामने रख देता है। बुनियादी तौर पर इसका प्रयोग संप्रकाशन और सहज अभिव्यक्ति-करण के लिये किया जाता है। अतएव इसका सहज, सरल और संप्रेषण सक्षम होना आवश्यक है। इसमें परिस्थिति, प्रसंग और पात्रानुकूलता भी पाई जाती है। कुछ कहानीकार कथोपकथन को अनावश्यक रूप से बढ़ा देते हैं। इससे कहानी का आकार भोंड़ा और बेडौल हो जाता है, अन्विति समाप्त हो जाती है और उसका प्रभाव बोझिल और लुज-लुज हो जाता है। सायास घुसेड़ा हुआ कथोपकथन कहानीकार के अभीप्सित उद्देश्य को स्पष्ट करने में सहायक हो सकता है, पर बाद में चलकर वह जबर्दस्ती लादा हुआ बोझ बन जाता है। कहानी में कथोपकथन के समय कुछ कहानीकार पात्र की मन:स्थिति को एकदम भूलकर अपनी मन:स्थिति की चर्चा करने लगते हैं। इससे उसमें एक अलगाव आ जाता है। कथोपकथन का मुख्य उद्देश्य कथा के प्रवाह को गतिशील बनाना और बढ़ाना है, उसे विच्छिन्न करना नहीं। कहानी में वही कथोपकथन सार्थक सिद्ध होता है जिसमें संक्षिप्तता, स्वाभाविकता, सहजता, प्रसंगानुकूलता, सजीवता और लाघव पाया जाता है।

वातावरण—वातावरण की चर्चा करते समय इसकी व्यापकता का सहज ही आभास हो जाता है। परी और भूत-प्रेत की कहानियों से लेकर आधुनिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कहानियों तक में यह विद्यमान है। राजा-रानी की कहानियों में भी अकाल, भुखमरी, युद्ध, प्रकृति-कोप और इश्क का दीवानापन मिलता है। यह

चित्रण हमें देशकाल के प्रभावोत्पादक चित्रण की याद दिलाता है। बूढ़ी माँ बचपन में जिन कहानियों की चर्चा किया करती थीं, उनका अंतिम वाक्य सदैव यह हुआ करता था, "जैसे उनका दिन फिरा, वैसे सबका दिन फिरे।" यह भरत-वाक्य अपने में न मालूम वातावरण और परिस्थिति की कितनी सहजता और जटिलता को एक साथ उपस्थित कर देता था। कहानी का कथानक भी मनोरंजक होता था, पर वातावरण तो उसमें चार-चाँद लगा देता था। आज की कहानियों में वही स्वरूप विकसित होकर कुछ अधिक सूक्ष्म हो गया है।

वातावरण के संदर्भ में स्थानीय संस्पर्श (local colour) और वातावरण (Atmosphere) की चर्चा विशेष रूप से की जाती है। ग्लेन क्लार्क के शब्दों में स्थानीय संस्पर्श बुनियादी तौर पर चाक्षुष होता है और वह आँख को प्रभावित करता है। पर वातावरण हमारे भाव-संवेग को प्रभावित करता है। पहला वस्तुगत है, दूसरा भावगत। एक तथ्य की दृष्टि से सत्य होता है. दूसरा लेखक, पाठक या चरित्र की दृष्टि से। निश्चित देशकाल की यथार्थ स्थिति में 'लोकल कलर' (local colour) चरित्र और संघटना के सूक्ष्म विस्तार को समंजित करता है। पर वातावरण संघटना, चरित्र और चरित्र की संवेदना को समन्वित करता है। एक का ज्ञान हमें बुद्धि के द्वारा होता है, पर दूसरे का संवेदना द्वारा।[1] कुछ लोग परिवेश (Environment) और वातावरण को भी समानार्थी मान लेते हैं। वे दृश्य के चित्रण के समय भी इस विभ्रम में पड़े रहते हैं कि वे वातावरण को चित्रित कर रहे हैं। इस प्रकार की गलतफहमी अनुचित है। वातावरण दर्शक पर पड़ने वाला परिवेशजनित प्रभाव है। कहानी लेखक इसी प्रभाव को अपनी कहानी द्वारा पाठक तक प्रेषित करना चाहता है।[2] कहानी में घटना, चरित्र, आदि का महत्त्व होता है। कहानीकार इन्हें विश्वसनीय बनाने के लिये वातावरण को सजीव रूप में चित्रित करता है। देश-काल और

1. Local colour, as the term implies, makes its appeal largely to the eye of the reader. Atmosphere on the other hand makes its appeal entirely to the emotions. One is objective and other is subjective. One must be true to the fact. true to a given mood, either of author or of his creature, the leading character. Local colour attempts to harmonise the details of setting and character with actual conditions of the given time and place, atmosphere attempts to harmonise setting and character with feelings of character in a certain time and place. Thus it will be seen that one is usually perceived by intellect, the other by emotion.

2. Many students get the notion that environment is the atmosphere, and so they fell in technical blunder of trying to produce atmosphere by elaborate descriptions of scenery. Their belief is false

वातावरण के उपयुक्त चित्रण से कहानी में सजीवता और स्वाभाविकता बनी रहती है। वातावरण को रूपायित करते समय देश-काल, समाज और इसकी संसृति की विशेषताओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है। कहानी पढ़ते समय तो इनका प्रभाव पड़ता ही है, पर कहानी पढ़ लेने के बाद भी मन से इसकी छाया दूर नहीं होती। इसे दो तरह का माना जाता है—(१) सामान्य, (२) विशिष्ट। सामान्य वातावरण तो अमूमन हर कहानी में पाया जाता है, पर विशिष्ट वातावरण कुछ विशेष कहानियों की विरासत होता है। कहानी का वातावरण सामाजिक, भौतिक, सांस्कृतिक ऐतिहासिक और द्वन्द्वात्मक किसी भी तरह का हो सकता है। आवश्यकता कलाकार के उसके सफल निर्वाह की है। वातावरण को भौतिक और मानसिक दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। आधुनिक कहानियों में भौतिक वातावरण सर्वथा तिरस्कृत नहीं है, पर वह मूल रूप से मानसिक वातावरण का सहायक बन कर आता है।

कहानी के परिवेश और उसकी सेटिंग में संबंध होता है। कुछ लोगों ने तो सेटिंग को ही घटनाओं का परिवेश मान लिया है, जो उचित भी है। प्रायः सेटिंग को वर्णनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। इससे कहानी की भावात्मक व्यंजना में सहायता मिलती है।

भाषा-शैली

हिन्दी गद्य इधर बीस-पच्चीस वर्षों में अधिक विकसित हुआ है। इसमें अभिव्यंजना की नयी क्षमता, नयी शक्ति पैदा हुई है। उपन्यास और कहानी की भाषा मँजकर जीवन के अधिक निकट आ गई है। शिल्प के क्षेत्र में भाषा को जो महत्त्व अब प्राप्त है, वह इसके पहले नहीं प्राप्त था। भाषा को भावानुकूल बनाने की हर चन्द कोशिश आज की बुनियादी जरूरत है। जब भी भाषा और भाव का यह सी-साँ चलता है तो प्रयोग की नयी भावभूमि उपस्थित होती है। पहले की कहानियों में "उपयुक्त शब्द-चयन, पदमैत्री, सुसंगठित पद-विन्यास, अकुंठित प्रवाह, फबती हुई अलंकार-योजना, भाषा की चित्रोपमता, लक्षणा, व्यंजना शक्तियों के सफल प्रयोग, हास्य-व्यंग्य के पुट" आदि पर बल दिया जाता था। इनमें भाषा को चित्रण और वर्णन के उपयुक्त बनाया जाता था। वर्णनात्मक पत्र, डायरी, आंचलिक, आत्मकथात्मक, चित्रात्मक तथा संलाप शैली का प्रयोग किया जाता था। इधर की कहानियों में कुछ नये शिल्प देखने को आये हैं। पहले के कहानीकार से भिन्न रूप में इस

---

and their practice occasionally sound. The atmosphere is, be it repeated, the impression which environment makes upon the beholder, and which the beholder in writing seeks to convey to his readers—W. B. Pitkin.

युग का कहानीकार स्थापत्य की दृष्टि से अधिक समर्थ है और उसका सर्जन भी विविध, नवीन और व्यापक बन गया है। आज की कहानी में वार्ता, दृष्टांत, सांकेतिक और प्रतीकात्मक शैली से लेकर ऐतिहासिक, आत्मकथात्मक, डायरी, रूपात्मक, नाटकीय पत्रात्मक, स्वगत भाषण और मिश्रित शैली का प्रयोग तक देखने को मिला है। रचना-शैली में इतना वैविध्य और प्रयोग आने का सबसे प्रमुख कारण था कि इस युग की कहानी-कला में चरित्र का विकास दिखाने के लिये विस्तार के अभाव में रचना-कौशल पर सबसे अधिक दवाव डाला गया जिसके फलस्वरूप इसमें आश्चर्य-जनक विविधता आई। चरित्र-विकास के साथ अब कहानी-कला में भाव-वस्तु को उसके अनुरूप प्रमुखता मिली। अब इसके रचना-विधान में और भी नये-नये प्रयोग हुए, जैसे—रेखाचित्र, व्यंग्यचित्र, संस्मरण, सूचनिका और कैमरा शैली। इस प्रकार निर्माण की दृष्टि से कहानी की शैली चित्रकला के बिलकुल समीप आ गई।

शैली का 'टोन' से भी निकट का संबंध होता है। टोन को हम कहानी में उप-स्थित लेखक की भावात्मक मन:स्थिति की संज्ञा दे सकते हैं। जब लेखक अपने चरित्र की मन:स्थिति का स्वयं भोक्ता अथवा सहयोगी बनकर उसे परिवेश में प्रतिच्छादित करता है तो 'टोन' वातावरण का पर्याय बन जाती है। कहानी में 'टोन' की स्थापना तथ्य के निरूपण के कार्य में लायी गयी सामग्री और लेखक की शैली होती है।

थीम

कहानी का जिक्र करते समय थीम को बार-बार दुहराया जाता है। कुछ लोगों ने इसे अंतर्निहित कार्य-व्यापार अथवा गति का पर्याय मान लिया है। अमूमन देखने में आता है कि जिस अनुभव को हम अधिक से अधिक याद रखने की कोशिश करते हैं, उसका एक केन्द्रीय भाव होता है। हम जिसे शब्द के द्वारा जानते हैं और प्रेम-पीड़ा, तनहाई, अच्छाई-बुराई आदि नामों से पुकारते हैं, उसी का हम कहानी में प्रत्यक्ष साक्षात्कार भी करते हैं। इसका मतलब यह है कि कहानी का केन्द्रीय भाव ही उसका थीम होता है। यह विशिष्ट (Particular) और विश्वजनीन (Universal) किसी भी तरह का हो सकता है। थीम कहानी की घटनाओं को सशक्त बनाकर उन्हें अन्वित करता है और जीवन पर प्रकाश डालता है। जीवन के सामान्यीकरण, कहानी द्वारा चित्रित मानव के किसी पक्ष अथवा कहानी के किसी चरित्र के व्यक्तित्व से इसका संबंध हो सकता है। यह घटनाओं को भी अर्थवान् बनाता है। कहानी का 'थीम' उसके तथ्यों से गुँथा होता है। अतएव इसे अलग अथवा एक स्थल पर पाने का प्रयत्न अनुचित है। 'थीम' के लिये केन्द्रीय विचार (central idea) और केन्द्रीय उद्देश्य (central purpose) का प्रयोग किया जाता है।

दृष्टि-बिन्दु

कई कहानियों को अगर हम एकसाथ लें तो हम पायेंगे कि उनकी अनुभूति के साझीदार होने के बावजूद घटनाओं और चरित्रों से हमारा संबंध समान नहीं है। वह बदलता रहता है। हर कहानी के लिये चेतना का ऐसा बिन्दु या स्थिति है जहाँ से हम कहानी को देखना या परखना चाहते हैं। इसी चेतन बिन्दु को दृष्टि-बिन्दु कहा जाता है।[1] पर्सी लुवक[2] ने सबसे पहले सारी कहानी को दृष्टि-बिंदु के जरिये परखने की बात उठाई थी। उनका यह दृष्टिकोण बाद के विचारकों को अपर्याप्त सिद्ध हुआ। अलेनटेट ने इसी समय 'एथारिटी इन फिक्शन' की बात कही थी।[3] हेनरी जेम्स ने बराबर इस शब्द का प्रयोग जानने वाले के अर्थ में किया और आधुनिक विद्वानों ने कथावाचक के अर्थ में। अलेनटेट ने अपनी शिल्प-संबंधी टिप्पणी में कथा के आधारभूत तत्त्व के रूप में इस वाचन-स्थापत्य (voice structure) का विशद एवं मार्मिक विवेचन किया है। यही नहीं, सैमुअल कामरोफ, एम० ई० ग्रैनेन्डर, नॉरमन फ्राइटमैन आदि विद्वानों ने बाद में इस पर बहुत विस्तार से विचार किया। हिंदी में इधर डॉ० नामवर सिंह ने वाचन-स्थापत्य को लेकर प्रेमचंद के संदर्भ में बातें चलाईं। शायद वे ही पहले व्यक्ति हैं जिनकी दृष्टि सबसे पहले इस ओर गई है।[4] यहाँ मैं केवल इतना कहना पर्याप्त समझता हूँ कि अपनी कहानी में अगर लेखक दृष्टि-बिन्दु के प्रति सशक्त नहीं है तो उसका प्रभाव उचित नहीं बन सकता।

वैसे दृष्टि-बिंदु के अनेक भेद-विभेद हो सकते हैं, पर अध्ययन की सुविधा के लिये हम इसे चार भागों में विभक्त करना अधिक उचित समझते हैं— (१) प्रथम पुरुष केन्द्रीय (first person central)—जिसमें प्रमुख पात्र कहानी को अपनी

---

1. This position, this point of consciousness, from which we perceive the events of story is called point of view.—Robert Stanton.

2. The whole intricate method in the craft of fiction, I take to be governed by question of point of view—the question of relation in which the narrator stands to story.

3. On whose authority is the story told ? It is the focus of point of view from which the story is told that looks simple for often the material itself is extremely complex, and the world reveal at a glance its complexity, even to the point of confusion, if the chosen point of view were not the right one for the complete ordering of the subject.

१. सुरेन्द्र चौधरी ने भी अपनी पुस्तक 'हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ' में इस तरह के विचार बहुत पहले व्यक्त किया है।

जबानी कहता है। अतः वह प्रथम पुरुष में कही जाती है। (२) प्रथम पुरुष परिधिस्थ (first person peripheral)— इसमें गौड़ पात्र कहानी को अपनी ज़बानी कहता है। (३) अन्य पुरुष सीमित (the third person limited) —इसमें लेखक सभी चरित्रों को अन्य पुरुष में संबोधित करता है। जो केवल एक पात्र द्वारा सोचा, देखा या समझा जा सकता है। (४) अन्य पुरुष सर्वज्ञाता (third person omniscient)—इस पद्धति में कहानीकार हर चरित्र को अन्य पुरुष में संबोधित करता है और उनके द्वारा देखी-सुनी घटना का विवरण पेश करता है। दृष्टि-विन्दु को आत्मगत और वस्तुगत रूपों में भी विभक्त किया जा सकता है। आत्मगत रूप में किसी एक चरित्र के विचार या संवेदन पर प्रकाश डाला जाता है, पर वस्तुगत में कहानी के तथ्य को ध्यान में रखकर चरित्रों के विचार को चित्रित किया जाता है।[1] दृष्टि-बिंदु के इस बँटवारे को और व्याख्यायित करने की ज़रूरत है। प्रथम पुरुष केन्द्रीय पद्धति में हम प्रमुख पात्र के अनुभव के निकट होते हैं। लेकिन कभी-कभी लेखक और चरित्र आपस में इतने घुल-मिल जाते हैं कि उससे अलग चरित्र को अकेले समझ पाना कठिन है। प्रथम पुरुष परिधिस्थ में गौण पात्र प्रमुख पात्र पर प्रकाश डालता है। कभी-कभी वाचक का दृष्टिकोण पात्र के विषय में बहुत स्पष्ट नहीं हो पाता, क्योंकि वर्णन की दृष्टि से उसकी एक सीमा होती है। अन्य पुरुष सीमित पद्धति में हम एक चरित्र के विचारों से परिचित होते हैं एवं कहानीकार उसी के जरिये अपने चरित्र का स्पष्ट चित्रण भी करता है। पर यह बिन्दु भी सीमित है। इसके द्वारा हम यह नहीं समझ पाते कि अन्य पात्रों की उसके विषय में क्या राय है। चौथी पद्धति में हम अपनी तरफ से कुछ जोड़-घटा नहीं सकते। इस प्रकार दृष्टि-बिन्दु का अपना सबल और निर्बल पक्ष है।

इस बात का संकेत किया जा चुका है कि कहानी का प्रमुख उद्देश्य निरूपित मानव-अनुभूति की कल्पना और साझेदारी है। अनुभूति को हम त्रिशंकुवत् लटकने वाली निरपेक्ष अवधारणा नहीं मान सकते। इसका लेखक की अभिलाषा-आकांक्षा, घृणा, चाह, अंतर्दृष्टि और चित्तवृत्ति से संबंध होता है। अतएव हमें अनुभूति को समझने के लिए दृष्टि-बिंदु के इन अवधारक तत्त्वों पर विशेष रूप से विचार करना पड़ता है। कहानीकार अपनी कहानी में जो कुछ भी चाहता है, उसे अपनी शिल्प-विधि के द्वारा स्पष्ट कर देता है। वह प्रत्यक्ष रूप में हमारे सामने होता है। कहानीकार की कहानी के द्वारा हम उसके दृष्टि-बिंदु तक पहुँचते हैं और पुनः मुक्त होकर उसे थोड़े समय तक समझते और बूझते हैं। कुछ समय तक तो हमारे पर अनुभूति का सम्मोहन छाया रहता है, पर बाद में हम उससे मुक्त हो जाते हैं।

---

1. Robert Stanton—*How to Read Short Story*

प्रतीक

प्रतीकों का प्रयोग आधुनिक कहानी की प्रमुख विशेषता है। सर्जक की सबसे बड़ी समस्या उलझे हुए भाव-संवेग को अभिव्यक्त करना है। प्रतीक अभिव्यक्ति का सहायक तत्त्व है। यह उलझे हुए संवेदन को सुलझाता है जिससे वे मूर्त होकर हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं। यह मूर्तीकरण अनुभूति का मूर्तीकरण होता है। गोर्दो और अलेनटेट के शब्दों में हम पुस्तक को चार रूपों में समझ सकते हैं। पहला रूप अभिधेयार्थ है। इस रूप में हमें शब्दों से आगे बढ़ने की जरूरत नहीं होती। दूसरा रूप अध्यवसित रूपक (allegory) का है। इसमें कथा के बाह्य स्तर के नीचे एक प्रच्छन्न अर्थ निहित रहता है। तीसरा रूप नैतिक है और चौथा रहस्यमय (anagogical) है।[1] इसे हम संस्कृत के शब्द-शक्तियों की पुनरावृत्ति मान सकते हैं। हम अर्थ के दो स्तरों से परिचित हैं, जिन्हें हम प्रत्यक्ष अर्थ (surface meaning) और गहन अथवा व्यंजित अर्थ (depth meaning) की संज्ञा दे सकते हैं। प्रतीकों के जरिये गहन और प्रत्यक्ष अर्थ को सरलता से व्यंजित किया जा सकता है। ये प्रतीक हमारे भावकोण के स्वरूप को व्यंजित करने में सहायक होते हैं। कहानी में इनका प्रयोग कई रूपों में होता है और उसके अनुरूप पाठक प्रभाव भी ग्रहण करता है। कभी-कभी प्रतीक का प्रयोग कहानी के चरमोत्कर्ष या अन्य किसी महत्वपूर्ण क्षण में किया जाता है। ऐसी स्थिति में यह प्रतीक उस क्षण की महत्ता को स्पष्ट करता है। कभी कहानीकार किसी प्रतीक की कहानी में पुनरावृत्ति करता है। इससे कहानी में एक नया प्रभाव उत्पन्न होता है। कभी-कभी एक ही प्रतीक भिन्न-भिन्न संदर्भों में प्रयोग में लाया जाता है। यह पद्धति कथानक की मूल संवेदना को स्पष्ट करने के लिये अपनाई जाती है।"[2] मार्सेल प्रूस्त के अनुसार दो असम्बद्ध जीवन-क्षेत्रों के अनुभव

---

1. Books can be understood and ought to be explained in four principal senses, one is called literal, and thus is it which goes no further than letter......The second is called allegorical and this is the meaning hidden under the cloak of fable and is a truth concealed beneath a fair fiction...The third is called moral...and this readers should carefully gather from all writings, and fourth sense is called anagogical, that is beyond sense.

2. Symbolism in fiction has three usual effects, depending upon how it is used. First a symbol which appears during an important moment of story underlines the significance of the moment... second a symbol repeated several times reminds us of some constant element in the story world...Third a symbol which recurs in varying contexts helps to define and clarify a theme.

को कहानी में सँजोने के लिये प्रतीक का उपयोग किया जाता है।[1] कहानीकार
प्रतीकों के प्रयोग की दृष्टि से सतर्क रहता है। वह इन्हें इस रूप में नियोजित करता
है कि वे किसी अनुभूति की गुणात्मकता के परिचायक बनकर हमारे सामने आयें।
परंपरित प्रतीकों की व्यंजना को तो हम समझ सकते हैं, पर नये प्रतीकों की व्यंजना
को समझने में कठिनाई होती है। इससे पाठक परीशानी में पड़ जाता है। कहीं-कहीं
कहानीकार वर्णनात्मकता को प्रतीकों के जरिये उपस्थित करता है। ऐसी स्थिति
में पाठक बार-बार सोचता है कि आखिर लेखक चाह क्या रहा है। एक ही प्रतीक के
कई-कई अर्थ भी होते हैं। अतएव कहीं-कहीं हमें माथापच्ची करके इस समस्या को
भी सुलझाना पड़ता है। अगर कहीं सही अर्थ हाथ लगा तब तो समस्या सुलझ गई।
और अगर कहीं गलत अर्थ पल्ले पड़ गया तो फिर अनर्थ हो जाता है। प्रतीक
सादृश्य-गर्भित होता है और उसका एक आंतरिक संदर्भ भी पाया जाता है। इन्हें
लेकर कभी बुझौवल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ये दो तरह के माने जाते हैं:
सामान्य और विशिष्ट। "विशिष्ट प्रतीक को 'प्रतीक क्षण', प्रमुख क्षण अथवा प्रकटी-
करण का क्षण भी कहा जाता है। यह कहानी में ऐसा क्षण होता है जो प्रमुख द्वन्द्व
की स्थिति को प्रकट करता है। प्रायः यह चरमोत्कर्ष का हमवक्ती होता है, पर
इसे सरलता से विश्लेषित किया जा सकता है। चरमोत्कर्ष की स्थिति में कोई
निर्णायक और महत्त्वपूर्ण बात घटित होती है। प्रतीक क्षण इस बात को द्योतित
करता है कि क्या घटित हुआ है?" मनोविज्ञान की प्रगति के साथ कहानी में प्रतीकों
की बाढ़ आ गई।

व्यंग्य

कहानी में व्यंग्य का प्रयोग भी मिलता है। यह विश्लेषण-प्रधान बुद्धि की
प्रमुख विशेषता है। सुरेन्द्र चौधरी का कहना है, "व्यंग्य सामान्य रूप से कहानी की
एक विधा तो है ही, व्यापक रूप से वह एक प्रेक्षण विधि भी है और मानसिक भंगिमा
भी। व्यंग्य के द्वारा हम वस्तु के उसके सम्पूर्ण जटिल रूपों में देखने और परखने में
समर्थ होते हैं।" व्यंग्य की इसी विशेषता को ध्यान में रखकर मैंने उसकी युगबोधक
चेतना की बात की है। संतुलन और सामंजस्य के युग में व्यंग्य मनोरंजन का एक

---

1. The truth will only begin to emerge from the moment, that writer takes the two different objects, posits their relationships the analogue in the world of art to the only relationship of causal law in the world of science and enclose it within the circle of fine style. In this as in life he fuses a quality common to two sensations, extracts their essence, and in order to withdraw them from the contingencies of time unites them in a metaphor.

साधन है, किन्तु तीक्ष्ण अंतर्विरोध के युग में वह एक व्यावहारिक हथियार है एवं एक अत्यन्त सिद्ध साधन भी। वान ओकोनर ने ठीक ही लिखा है, "व्यंग्य का गुण-धर्म युग की प्रकृति पर निर्भर करता है।" व्यंग्य को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) नाट्य व्यंग्य (dramatic irony) और (२) व्यंग्यात्मक व्यंजना (ironic tone)। नाट्य व्यंग्य प्रमुख रूप से कथानक और परिस्थिति से जुड़ा होता है और इससे हमें चीजों को समझने में सहायता मिलती है। व्यंग्यात्मक व्यंजना को वाचिक व्यंग्य (verbal irony) भी कहते हैं। यह तब देखने को मिलता है जब व्यक्ति विरोधी कथन द्वारा अपना अभीप्सित अर्थ प्रकट करता है।

कहानी की पाठन-विधि

हम अभी तक कहानी को अपनी तरह से पढ़ते और समझते रहे हैं। पर इधर एक नयी बात देखने को मिली है। कुछ अरसे से इस बात पर गहमा-गहमी बहस चालू है कि हमें कहानी को कैसे पढ़ना चाहिये ? इसका आरंभ मारकन्डेय के इस कथन से "क्या वह कहानी के पाठ के प्रति सचेत है ?' अथवा अश्क की इस शिकायत से कि 'कहानी जितने ध्यान से पढ़ी जाने की माँग करती है, उतने ध्यान से तुमने उसे नहीं पढ़ा' से हुआ। यह सच है कि आज भी कहानी को उसके संपूर्ण कहानीपन के साथ पढ़ने वालों की कमी है। अधिकांश पाठक उसे मनोरंजन के लिये पढ़ते हैं। वे उन स्थलों को तो देखते जाते हैं जो उनकी रुचि का है, पर उन स्थलों को छोड़ देते हैं जो उनकी रुचि के प्रतिकूल पड़ता है। आज मनोरंजन के लिये कहानी या उपन्यास पढ़ने वाले अधिक लोग हैं, पर ध्यान देने की बात यह है कि आज का साहित्य केवल मनोरंजन का विषय नहीं रह गया है। वह कुछ देना चाहता है, जीवन में कुछ जोड़ना चाहता है। पर आज के हर आदमी को इस लेन-देन की फुरसत कहाँ ? कहानी के पाठ की निश्चित क्रिया का प्रश्न मेरी दृष्टि में आलोचक के दिमाग की उपज है। यों कुछ पाठक ऐसे भी देखने को मिलने हैं जो पर्याप्त सुबुद्ध हैं, फिर भी उनकी संख्या कम है। गंभीर कहानियों को कई रूपों में पढ़ने वाले लोग तो वैसे ही कम हैं, तो फिर खासतौर से निश्चित ढंग से पढ़ने वालों का क्या कहना ? नामवर जी का कहना है, "कहानी स्वयं एक प्रक्रिया है, ऐसी प्रक्रिया जिससे होकर लिखते समय लेखक गुज़रता है तो पढ़ते समय पाठक। पाठक इस प्रक्रिया को याद करे तो लिखने की प्रक्रिया के भी कुछ सूत्र हाथ आ सकते हैं, साथ ही कहानी का ज्यादा से ज्यादा रूप पकड़ में आ सकता है।" वे वर्जीनिया वुल्फ जैसे 'कामन रीडर' की बात उठाते हैं। यह 'कामन रीडर' सहज बोध के स्तर से साधारण पाठक को शिक्षित करने से प्राप्त होगा। वह पुनः लिखते हैं, "कहानी शुरू होती है, मन की दुहरी क्रिया शुरू होती है। मन एकसाथ वर्तमान में भी है और भविष्य को ओर भी दौड़ता है।...

लगातार आगे और कभी-कभी पीछे देख लेने का एक सिलसिला है जो चलता रहता है। क्षितिज का एक चलता हुआ दायरा है जो हर क्षण नया होता चलता है और उस दायरे से होकर हम गुजरते रहते हैं। एक दुहरी प्रतीक्षा है जिसमें अनागत शब्द पाठक का इंतजार करते हैं तो पाठक अनागत शब्द का। एक भविष्य है जो शब्दों से भरा है और हजारों शब्दों के द्वारा पाठक को एक अंत से अलगाये हुए है; एक फ़ासला है जो दृष्टि के हर कदम के साथ घटता जाता है। हर शब्द से अनेक दिशाएँ शुरू होती हैं। मन कभी इस रास्ते बढ़ता है तो भूल महसूस करके कभी दूसरे रास्ते बढ़ता है। अचानक दिशा का संकेत मिल जाता है। हम समझ लेते हैं कि लेखक किधर ले जाना चाहता है। बिजली की एक कौंध-सी होती है। आलोक की रेखा में अचानक सब कुछ जुड़-सा जाता है। बिखरी घटनाएँ एक कथानक में उभर उठती हैं। निरर्थक प्रतीक होने वाली बातें सार्थक हो जाती हैं। खंड चित्रों को एक रूपाकार मिल जाता है। छिटपुट प्रभाव एक प्रभाव में बँध जाते हैं और भाव एक विचार के रूप में आलोकित हो उठता है।" अंत में कहानी की प्रतिमा बन जाती है। इसका निर्माणक भी पाठक होता है। अतएव ऐसे पाठक को उन्होंने पुनर्सृजक कहानीकार की संज्ञा दी तो अनुचित नहीं। संभवतः डॉक्टर साहब की दृष्टि समर्पित पाठक की ओर है जो अपनी पाठक्रिया में अंत तक कहानी के मर्म को समझ लेता है। पिछले पन्ने में हमने प्रतीक की चर्चा के संदर्भ में अर्थ के स्तरों का उल्लेख किया है। कहानी का पाठक अगर सुबुद्ध और क्षमता-सम्पन्न व्यक्ति है तो इन स्तरों का बोध उसे अवश्य होगा। पर अगर वह इस बोध में असफल होता है, क्या वह पाठक नहीं रह जायेगा ? आज जब भी किन्हीं सूक्ष्म सैद्धांतिक बातों की हम चर्चा करते हैं तो सर्वसामान्य हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है और विशिष्ट उभड़कर सामने आने लगता है। कुछ ऐसे मासूम एहसास से हम गुजरने लगते हैं जिसमें हमें यह समझते देर नहीं लगती कि साहित्य-पठन और आस्वादन भी कुछ विशिष्ट लोगों का धंधा है। क्या इसे बौद्धिक सामंतवाद से कुछ भिन्न कहा जा सकता है ? ऊपर की कहानी के पठन की प्रक्रिया सुबुद्ध आलोचक डॉ० सिंह जैसे कुछ इने-गिने लोगों के पाठन की प्रक्रिया है। उसे सर्वसामान्य के पठन की प्रक्रिया हम नहीं मान सकते। इससे तो प्रश्न सुलझने के बजाय और उलझता नजर आता है। मेरी स्वतः धारणा है कि कहानीकार के बौद्धिक समता वाले पाठक का समाज में अभाव है। 'कॉमन रीडर' के सही निर्माण में अभी दशकों की देरी है। ऐसी स्थिति में सामान्य पाठक को आँख से ओझल करना बहुत उचित नहीं ज्ञात होता। हर लेखक अपने पाठकों के लिये लिखता है जो सामान्य और विशिष्ट दो कोटियों के होते हैं। सामान्य से विशिष्ट की अपेक्षा बालू से तेल निकालने जैसी होगी।

कहानी में चरित्र, कथानक और संघटना एक ही स्थापत्य के अंग होते हैं। "इनके मिले-जुले रूप को तथ्यात्मक संघटना या तथ्यात्मक स्तर कहा जाता है।

हम इस स्तर को कहानी से अलग नहीं कर सकते।'' स्थापत्य के वैधानिक पक्ष एक-दूसरे से इतना घुलमिल कर एकरूप हो जाते हैं कि उन्हें अलग-अलग करने देखने से उनका प्रभाव और संप्रेषण-क्षमता नष्ट हो जाती है। कहानी के तथ्यात्मक आधार में उसके सूक्ष्म विवरण गुँथे रहते हैं। इनकी संरचना कुछ इस ढंग की होती है कि उनसे कल्पित उपादानों के साथ ही दृश्य-समन्वित संघटना का आभास भी मिलता है। डॉ० नामवरजी ने इसे सही रूप में उद्घाटित किया है। इससे एक बात साफ हो जाती है कि पाठक का दृष्टिकोण भी दुहरा होना जरूरी है। प्रायः कहानी की विश्वसनीयता का प्रश्न उठाया जाता है। इसका यह मतलब नहीं होता कि केवल वही कहानी विश्वसनीय होगी जिसमें जीवन की अनुकृति पाई जायेगी। ऐसी कहानी भी विश्वसनीय होती है जिसमें अनुभव का खरापन उपस्थित होता है।

नयी कहानी

गीता में भगवान कृष्ण ने कहा था, जीर्ण वस्त्र छोड़कर मनुष्य जैसे नया वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार जीर्ण शरीर छोड़कर आत्मा नया शरीर धारण करती है। बात तो पते की थी। साहित्य की आत्मा भी जीर्ण शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण कर लेती है। मनुष्य की आत्मा और साहित्य की आत्मा में एक भेद है। पहली बदलती नहीं, पर दूसरी युग के अनुरूप बदल कर नयी संवेदना का रूप लेती रहती है। हर काल के साथ नयी संवेदना उभड़ती है, नयी चेतना 'क्रिस्टलाइज़' करती है और अचानक सामने आ जाता है एक ऐसा मनुष्य जो हाथ-पाँव से भले न भिन्न हो, पर आशा-आकांक्षा अथवा अपने आन्तरिक गठन में भिन्न होता है। ऐसी स्थिति में साहित्य का दबाव-मापक यंत्र इस नये माहौल के दबाव को मापने की कोशिश करता है, उसके दिशा-निर्देशक तत्त्वों को हमारे सामने रखता है। इस सूत्र से सँवर कर जब एक नया उरेहा चित्र हमारे सामने आ जाता है तो प्रायः परंपरा से बँधा व्यक्ति उस पर नाक-भौं सिकोड़ने लगता है और उसे वर्णसंकर या अन्त्यज अथवा किसी विदेशी आदर्श का अंधानुकरण कहकर उससे छुट्टी पा लेना चाहता है। यह बात ठीक नहीं। जीवन की हर करवट के साथ, समाज की हर चेतना के नये रूप के साथ साहित्य के बदलाव की दिशा पर भी कुछ सोचने की ज़रूरत खड़ी हो जाती है। हम इससे बच नहीं सकते हैं।

हमारे अग्रज जब हम पर बेहद खुश होते हैं तो संस्कृत का एक पद दुहरा देते हैं शतंजीवी। जिन कहानीकारों ने अपनी भावना के रंगों से कहानी की बनावट-बुनावट को सँवारा होगा, उनमें इसके विकास के लिये कितनी लालसा रही होगी। पसीने और खून को एक करके कहानी को कला के साँचे में ढालने का वह भगीरथ प्रयत्न कितना मोहक रहा होगा। उनके प्रयत्न का ही फल है कि कथा

और आख्यायिका को छोड़ करके अभी हिन्दी कहानी का इतिहास सौ वर्षों के अनुभव को भी समेटने में समर्थ नहीं हो पाया है, फिर भी वह अपने विकास के कई दर्जों को पार करता हुआ एक सशक्त साहित्य-विधा के रूप में हमारे सामने उपस्थित है। भारतेन्दु-युगीन परिवर्तन की आकांक्षा से शुरू होकर प्रसाद के भाववादी और प्रेमचंद के यथार्थवादी स्वर को समेट कर आगे बढ़ने वाली कहानी आज कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से पर्याप्त समृद्ध है। प्रेमचंद की 'पूस की रात', 'कफन' आदि कहानियों में, उनके 'गोदान' उपन्यास में यथार्थ के एक नये स्वर का दर्शन हुआ है। उन्होंने 'इन्डिविजुवल' को उसके परिवेश में समझने की कोशिश की थी। उसके बाद की कहानी का दौर दो खित्तों में बँट गया। एक ओर उसमें भोग की विभीषिका के दर्शन हुए, सात वित्ते शरीर की नाप-जोख की बात खड़ी हुई, चाँदनी रात, यमुना-किनारा और करील-कुंज की बात प्रकारान्तर से घुस गई, पर दूसरी ओर उनमें राष्ट्रीय चेतना और स्वाधीनता-आंदोलन की चर्चा भी देखने को मिली, इन्क़लाब और कुर्बानी की बात का भी समावेश हुआ। स्वतंत्रता मिली, संविधान बना, भारत को गणराज्य घोषित किया गया, चुनावों का दौर चला, नारेबाज़ी का बाजार गरम हुआ, पर दुर्भाग्य से वह सब कुछ हाथों से खिसक गया जिसकी आशा थी, अपेक्षा थी; "उरसे खसल पर समनि रे कौन गेल अपनाइ !" कहाँ था स्वतंत्रता का सपना, कहाँ स्वतंत्र-परतंत्रता, लोलुपता, भोग-लिप्सा, अहं का नग्न नर्तन, कहाँ थी समाजवादी समाज की भावना और कहाँ अपनों के शोषण की अन्तहीन प्रवृत्ति का बोलबाला। सामान्य व्यक्ति ने महसूस किया, "चले थे हरिभजन को ओटन लगे कपास।" क्या यह प्रवंचना अपने को समझने के लिये पर्याप्त न थी ? क्या साहित्य को बदलने के लिये कुछ और की अपेक्षा थी ?

आदमी बदला और उसके साथ कहानी बदली। यह बदलाव बनावट-बुनावट दोनों धरातलों पर घटा। इसकी क्रिया पहले कविता में आई और उसके बाद कहानी या अन्य साहित्य-रूपों में। दूसरे का धोका आदमी के दिल को नहीं दहलाता, पर अपनों की नृशंसता तो उसे निराश कर देती है। अपनों से धोका खाने पर वह 'हॉब्स' के शब्दों में सोचने लगता है, "मनुष्य का सबसे बड़ा दुश्मन मनुष्य है।" आदमी की आस्था का डिगना कम भयंकर बात नहीं है। वह दूसरों को तो झेल लेता हैं, पर उसे अपनों को झेलना थोड़ा कठिन हो जाता है। उस समय का आदमी अपनों के अन्याय को अपने पर झेल रहा था। इससे कहानी की मूल संवेदना में परिवर्तन हुआ। अब कहानी के मूल में पुनः जीवन को उसकी समता, विषमता, कटुता और तिक्तता में झेलने वाले व्यक्ति की प्रतिष्ठा हुई। लेखक या कहानीकार का मोहभंग हुआ। वह कटु यथार्थ को झेलने के लिये बद्धपरिकर दीखने लगा। इस आपाधापी में कहानी का विकास हुआ और वह अब, "मानव-मानव के नये

उभरते, शक्ल लेते, या टूटते संबंधों को रेखांकित'' करने लगी और वह 'मैं' से निकल कर 'वह' या उसकी प्रामाणिक अभिव्यक्ति करने लगी। कमलेश्वर ने इसकी चर्चा करते हुए लिखा है, ''प्रामाणिकता एक ओर अनुभव की सचाई की शर्त है तो दूसरी ओर सचाई को प्रौढ़ता से झेल कर अर्थों तक पहुँचने की पहचान भी है। इसीलिये नयी कहानी मात्र जीवन-खण्डों, या घनीभूत क्षणों का संप्रेषण न होकर उस में निहित अर्थों या मूल्यों की कहानी है, जो अनेक स्तरों पर घटित होती है, अभिधात्मक रूप में वह स्थिति-विशेष, जीवन-खण्ड या घनीभूत क्षण की सच्ची प्रस्तुति है, तो व्यंजनात्मक रूप में वही मानवीय संबंधों, घटना या क्षण को नये अर्थ तक ले जाती है। ये अर्थ उस यथार्थ से फूटते हैं जिसे लेखक कहानी के लिये चुनता है। अतः आज कथ्य से चुनाव का दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण है और इसी लिये अर्थगर्भी स्थितियों की महत्ता सहज ही बढ़ गई है और नई कहानी परिवेश से उद्भूत प्रामाणिक अनुभव की गंभीर संवेदनशील परिणति अथवा प्रतीति है, घटना-चक्र का बाचाल चलचित्र है।''

कहानी से जुड़ा हुआ यह 'नया' नामधारी उपशीर्षक बेकार नहीं है। यह आज के कहानी की विशेषता द्योतित करता है। नयेपन का संबंध हमेशा नयी मूल्यवत्ता, अर्थवत्ता या नये संवेदन से होता है। कुछ लोग जिन्हें शाश्वतता विशेष रुचिकर है, और जो अपनी इसी यूतोपिया में विचरण भी करते हैं, इसे लेकर हाय-तोबा मचा सकते हैं, पर विकास का चक्र किसी के रोके नहीं रुकता, रोकने, वालों को रौंद कर आगे बढ़ जाता है। कहानी ने भी तरह-तरह के प्रतिरोधों को झेलकर अपने को प्रतिष्ठित कर लिया है। इस प्रतिष्ठा के पीछे उस का भोगा हुआ सत्य है। कठिनाइयों को झेलता हुआ व्यक्तित्व और तरह-तरह की परिधियों में अपने को पा लेने, समझ लेने, अथवा आत्म-साक्षात्कार कर लेने की विकलता है। वह जीवन-कंथे की बखिया को उधेड़ कर, उसकी परतों को उकेल कर उसके अर्थ के भिन्न-भिन्न स्तरों को प्राप्त करना चाहता है। उसे न तो आदर्श का झमेला बहका पाता है, और न कल्पना की उड़ान उलझा पाती है। वह अब जीवन के दकियानूसी कुहासे से बाहर आ गया है, कथ्य और शिल्प के पुराने चौखटे को लाँघ चुका है। फिरहाल उसकी अपनी दृष्टि है और अपना निश्चित जीवन-दर्शन भी। इसे उसने घेलुवे में नहीं पाया है, मोम की तरह अपने को गलाकर, अपने चतुर्दिक् जीवन में अपने को बिखेर कर सार्थक जीवन-बोध के धरातल पर ग्रहण किया है। उसने जीवन की छोटी घटना से लेकर भावना के महत्तर ताजमहल तक का दर्शन किया है। उसने अपने को एक नहीं अनेक बार खोया और पाया है। यह उसकी उपलब्धि है, उसका बोध है, उसकी विरासत है, उसका प्रिवीपर्स है। इसे नकारने से उसे दुःख होता है, उसके सामने समस्या खड़ी हो जाती है। आज की कहानी की मूल्यवत्ता,

मध्यवर्गीय समाज की मूल्यवत्ता है जो जीवन के झपेड़े को देखती ही नहीं, भोगती भी है। इसीलिये वह कहानी में व्यक्ति को उसकी समग्रता में देखना चाहता है, उसे बाह्य भौतिक प्रसार और आन्तरिक भावशबलता में ग्रहण करना चाहता है।'' वह जीवन के समूचे पैटर्न को ''क्रिएट'' करना चाहता है, अपने संपूर्ण अस्तित्व को झेलना चाहता है। यही कारण है कि वह वर्तमान की चेतना के यथार्थ की सीमा को समृद्ध बनाता और 'समय से परे' जाने और जीने की बात को चरितार्थ करता है। उसकी यह तलाश अनुभव के घनत्वों को अपना कर चलती है। वह अनावश्यक 'ब्रेड्थ' से बचता और 'डेप्थ' को अपनाता है। 'डेप्थ' का संबंध केवल कल्पना से नहीं, प्रामाणिक अनुभूति से भी होता है। यही प्रामाणिक अनुभूति अपने छोटे दायरे में जीवन का कोई महत्तर अनुभव-खण्ड रख देती है जिसकी व्यंजना महत्त्वपूर्ण होती है। रचनाधर्मी कलाकार अनुभूति की सच्चाई को अपनाता है। कुछ लोग इस सचाई को रूमानी भावुकता के अन्तहीन प्रवाह का पर्याय मान सकते हैं, पर यह मान्यता बेबुनियाद है। खरी अनुभूति रचना में उसी रूप में ढल जाती है जिस रूप में पिघलता मक्खन बरतन में ढलता जाता है। इसके जरिये रचनाकार की सर्जक दृष्टि प्रशस्त होती है। इसके स्पष्ट होते ही दो मूलभूत बातें घटती हैं, (१) पुराने मूल्य बेकार ज्ञात होने लगते हैं, और (२) नये मूल्य की अर्थवत्ता सामने आ जाती है। मैंने नयेपन के सन्दर्भ में मूल्य की बात उठाई है। अब उस चर्चा पर पुनः लौटना चाहूँगा। ऊपर के विवेचन से एक बात साफ जाहिर हो जाती है कि नयी कहानी के मूल्य का संबंध रचनाकार की अनुभूति से होता है जो खरी और समाज-सापेक्ष होती है और जिसमें विचारों की गहनता पाई जाती है। मैंने इसके पहले कहानीपन की बात उठाई है। यह मसला महत्त्वपूर्ण है। साठोत्तरी कहानीकार और उसके नुमाइन्दे इससे भी मुक्ति की बात उठाते हैं। डॉ० धनंजय ने कहानीपन से मुक्ति पर विचार करते हुए कई बातें कहीं हैं, (१) आज की कहानी अनुभूति से तटस्थ रहने की कोशिश कर रही है। (२) आज की कहानी में कहानीकार का अनुभव जहाँ संप्रेषित हो रहा है, वहाँ सर्जनात्मक तटस्थता को अलग से व्याख्यायित करने अथवा पहचान कराने की जरूरत नहीं रह गई है। (३) अब कहानीकार सार्थक खोज की ओर अग्रसर है। (४) सन्दर्भ की सार्थकता को कहानीकार के चेतना-स्तरों पर घटित होना चाहिए। उस धरातल की भी खोज होनी चाहिए जिस पर कहानीकार का बोध टिका रह सकता है। वे पुनः लिखते हैं, ''कहानी को अन्ततः कहानी ही रहना है। यहाँ मतलब कहानीपन से नहीं है, वह स्थूल चीज है।'' एक जगह आगे वे पुनः कहते हैं, ''नयापन मूल्य नहीं, प्रक्रिया है।'' ऊपरी फतवे कुछ ऐसे ही हैं, जैसे हर आन्दोलन के समर्थक दिया करते हैं। कहानीकार अनुभूति से तटस्थ रहे, बात ठीक है, इसमें किसी को क्या एतराज। पहले के सब कहानीकार निरर्थक खोज में लगे थे, अच्छा ही हुआ कि कुछ लोगों ने उससे मुक्ति दिला दी। इसके लिये उन्हें

धन्यवाद। मुझे इन बातों से विशेष वास्ता नहीं। कहानीपन स्थूल है, कहानी सूक्ष्म है, आधुनिकता प्रक्रिया है मूल्य नहीं, आदि बातें ऐसी हैं जिनसे सहमत होना कठिन है। कहानी में अगर कहानीपन नहीं है तो क्या वह कहानी है? मेरी दृष्टि में उसका कहानीपन, उसकी विशेषता ही उसकी प्रमुख शर्त है। अगर उसमें कहानीपन नहीं है तो वह और कुछ हो सकती है, कहानी नहीं; स्थूलता से इतनी घबराने की क्या बात? प्रोफेसर साहब इससे तो परिचित होंगे ही कि कहीं-कहीं स्थूलता भी अभीप्सित होती है। अब रही दूसरी बात। आधुनिकता प्रक्रिया है, मूल्य नहीं। कैसी अन्तहीन प्रक्रिया? आप खुद समझें जो 'काज़ और इफेक्ट' दोनों से ऊपर हो। सुना था एक राजर्षि विश्वामित्र अपने तप के बल पर त्रिशंकु को स्वर्ग भेज रहे थे, ऊपर से महर्षि वशिष्ठ ने ललकारा 'रुक जाओ'। त्रिशंकु अधर में ही लटके रहे। क्या वही स्थिति इस क्रिया की तो नहीं है जो मूल्य-निर्माणक नहीं बनती। ऐसी क्रिया से कम से कम साहित्यकार का कोई सरोकार नहीं जो क्रिया तो हो, प्रतिक्रिया न उत्पन्न करती हो। नया अपने नये मूल्य-बोध, नयी संवेदना के कारण नया होता है, केवल प्रक्रिया के कारण नहीं। प्रक्रिया या क्रिया तो किसी उद्देश्य-बोध या लक्ष्य-वेध का साधन होती है। मार्ग किसी गन्तव्य का सूचक होता है। क्रिया बोध से होती हुई मूल्य-बोध तक अगर नहीं ले जाती तो वह बेकार है।

हर नया साहित्य भाषा और भाव के धरातल पर प्रयोगरत होता है। इससे कथ्य और शिल्प का नया रूप उभड़ कर सामने आता है। इधर की कहानी की आलोचना में नये जुमलों की अथवा यों कहें कि काव्यालोचन के जुमलों की बाढ़-सी आ गई है। अब कहानी में संवेदना, सांकेतिकता, दुरूहता, जटिलता, संप्रेषणीयता, बिंब, प्रतीक आदि की बातें उठने लगी हैं। हर साहित्य-रूप कथ्य की दृष्टि से भिन्न नहीं होता, शिल्प की दृष्टि से भिन्न होता है। अतएव इसमें एतराज की गुंजाइश नहीं है। नयी कहानी सांकेतिक है। नामवर जी का कहना है, ''अभीष्ट विचार और भाव को सांकेतिक बनाने के लिये कथाकारों ने प्रायः कथानक और चरित्र के स्थूल उपादानों से ध्यान हटाकर वातावरण पर दृष्टि केन्द्रित की है। 'वातावरण' शब्द काफी व्यापक है। इससे प्रकृति का भी बोध हो सकता है और शहर, कस्बा, गाँव वगैरह के भीतरी जीवन का भी। पिछली पीढ़ी के लोग वातावरण का चित्रण कभी कहानी को सजाने के लिये करते थे तो कभी यथार्थ का रंग देने के लिये। किन्तु नयी कहानी में वातावरण अलंकरण मात्र नहीं, बल्कि अंतःकरण है।' वातावरण के निर्माण में बिंब-विधान विशेष रूप से सहायक होता है। बिंब का संबंध अनुभूति और कल्पना से होता है। वह अपने अन्दर यथार्थ के निश्चित प्रखंड समेटे रहता है जिसमें एक 'टेंशन' पाया जाता है। चारों ओर के थपेड़े खा लेने के बाद कहानीकार की दृष्टि निराशा और करुणा से रँग उठती है। कहानियों का तनाव उस

स्थिति को उद्घाटित करने का प्रमुख साधन है। नयी कहानी का अर्थबोध कई स्तरों पर घटित होता है। अतएव इन्हें उद्घाटित करने के लिये कहानीकार प्रतीकों का सहारा लेता है। इधर की कहानियों में नायक और कथानक का लोप हुआ है और यथास्थान कहानीकार का 'मूड' अधिक उजागर होकर सामने आया है। शिल्प-परिवर्तन इनकी प्रमुख विशेषता है। युग-जीवन को वे उसकी सम्पूर्ण जटिलता और विसंगति में समेटना चाहते हैं। साठोत्तरी कहानियों में प्रयोगाधिक्य के कारण 'स्ट्रक्चर और टेक्सचर' का रुख काफी बदल गया है। फिरहाल साठोत्तरी कहानी के कथ्य और शिल्प से संवेदना के धरातल विकसित हुए हैं और यथार्थ के कई स्तर सामने आये हैं जिनका अपना निजी संदर्भ है। इन संदर्भों के जरिये आधुनिक परिवेश उजागर हुआ है। आज का जीवन सपाट नहीं; चक्रिल, वर्तुल, आवर्तमय और जटिल है। परिस्थितियों और घटनाओं के घात-प्रतिघात उलझे हुए हैं और उनका कोई स्थायी रूप नहीं बन पाया है। सब कुछ उलझनपूर्ण, अनिश्चित और जटिल है और बोध की सीधी रेखाएँ अदृश्य हो गई हैं। कहानीकार के लिये हर संभावना अनुर्वर और अर्थहीन बन गई है। अतएव वह जीवन की सच्चाई पर निर्मम और निष्पक्ष रूप से विचार करता है। इसके प्रति आग्रह होने के कारण कहीं-कहीं आरोपित सत्य भी सामने आते हैं। आज के कहानीकार से एक आशा बँधी है। उसकी कहानी का संघर्ष, विसंगति और जटिलता जीवन के संघर्ष, विसंगति और जटिलता से जुड़ी हुई है। रचना के धरातल पर अगर वह इसे और खरेपन, सच्चाई और सहानुभूति से उतार सका तो यह उसकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि होगी। हेनरी मिलर ने एक बार कहा था, ''जीने के नहीं, बल्कि स्वयं को व्यक्त करने की कोशिश मैंने की है। जीने में मेरी ज़रा भी रुचि नहीं रही है। जीने के लिये जो प्रयास करता हूँ, संघर्ष झेलता हूँ, केवल उसमें मुझे आनंद मिलता है।'' आज की कहानियों में झेले हुए संघर्ष की दास्तान उपस्थित है जो उसके कथ्य और शिल्प दोनों से उद्भासित होती है।

७ | निबंध

आधुनिक साहित्य में निबंध का महत्त्व स्वयं-सिद्ध है। संस्कृत साहित्य में 'गद्यं कवितां निकषं वदन्ति' का उल्लेख मिलता है। आचार्य शुक्ल ने भी इस सूत्र को आगे बढ़ाते हुए कहा है कि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबंध गद्य की। दोनों ही बातों में निबंध में गद्य के सशक्त प्रयोग की आवश्यकता पर प्रकाश पड़ता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि निबंधकार शैलीकार भी होता है। वह विषय के प्रति अपनी मानसिक या बौद्धिक प्रतिक्रिया के वाहक के रूप में इसका प्रयोग करता है।

हिन्दी-निबंध का आविर्भाव आकस्मिक नहीं है। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि भारतेन्दु-युग में देश में एक सशक्त सामाजिक एवं राजनीतिक सचेतनता परिव्याप्त रही है। उस समय इन्सानियत के मूल्यों को नए नजरिए से देखा जा रहा था। आजादी एवं देशप्रेम की कसमसाहट में संपूर्ण राष्ट्रीय परिवेश स्पंदित हो रहा था। नवजागरण की मूलभूत चेतना अपने को प्रतिफलित करने के लिए नई दिशाओं की खोज में संलग्न थी। सुषुप्ति जागरण में बदल रही थी एवं नव-निर्माण की अभिलाषा अपने सशक्ततम रूप में अभिव्यक्त होने के लिए कुलबुला रही थी। जब समाज अँगड़ाई लेता है, उद्‌बुद्ध होकर अपने पैरों पर खड़े होने की कोशिश करता है, तो इस लहर से नई संवेदना का जन्म होता है। इसे व्यक्त करने के लिए नई भाषा और नए छन्द की जरूरत पड़ती है। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। जनचेतना की अभिव्यक्ति के नए माध्यम के रूप में, उस समय, गद्य का ही विकास नहीं हुआ, बल्कि छापेखाने के विकास के कारण पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी शुरू हो गया। एकबारगी निबंधकारों को वे सभी सुविधाएँ मिल गईं, जो निबंध जैसे स्वच्छन्द आत्मप्रकाशन के लिए अपेक्षित थीं।

परिभाषा का पचड़ा कम जटिल नहीं होता है। ख़ासतौर से ऐसे साहित्य-रूप की परिभाषा करने के खतरे से हर साहित्यकार परिचित होता है, जो निरंतर विकासोन्मुख होते हैं; फिर भी 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' के ही सूत्र को शिरोधार्य करना विवेक-संमत ज्ञात होता है। मान्तेन निबंधों के आदि जनक माने जाते हैं। अतएव उन्हों के सूत्र से इस विवेचन को प्रारंभ करना अधिक तर्कसंगत ज्ञात

होता है। उन्होंने कहा है, "निबंध में विचारों, उद्धरणों एवं कथाओं को प्रस्तुत किया जाता है। उसका 'मैं' होता है।" स्पष्ट है कि उन्होंने निजी विचार अथवा आत्मकौंध को महत्त्व दिया है। जान्सन का भी कहना है कि निबंध मुक्त मन की मौज तथा अनियमित एवं अपरिपक्व रचना होता है। मान्तेन के 'मैं' एवं जान्सन के 'मुक्त मन की मौज' में कोई बुनियादी भेद नहीं है। दोनों प्रायः समान हैं। ज़ाहिरा तौर पर दोनों ने वैयक्तिकता को महत्त्व दिया है। आज का निबंधकार उन सूत्रों से पूर्णरूपेण संतुष्ट नहीं है। वह उसे अधिक अनुशासित देखना चाहता है। कुछ लोगों ने निबंध की बात करते समय मनोविनोद का भी उल्लेख किया है। आज के लोगों की दृष्टि में मनमौजी विनोद निबंध की सार्थकता प्रमाणित नहीं कर सकता है। यह ठीक है कि निबंध अपने दायरे में पाठक से सीधा संबंध स्थापित करने का प्रमुख साधन होता है। वह जितना ही स्वच्छन्द, सरल, आडम्बरहीन होता है, उतना ही यह संबंध स्वाभाविक बन जाता है। वह जितने कलात्मक ढंग से पाठक को गुदगुदा पाता है, उसी अनुपात में हमारे लिए ग्राह्य बन जाता है। लेकिन अधिक गुदगुदी प्रायः हास्य की जनक न होकर त्रासदी की जनक बन जाती है। विनोदप्रियता, चुलबुलाहट एवं सरलता के साथ संक्षिप्तता आदि निबंध की प्रमुख विशेषताएँ हैं; लेकिन उसे तथ्यपरक होना भी आवश्यक है। मुरे की परिभाषा इसी बदलाव की दिशा की सूचक है। उनके शब्दों में निबंध किसी विषय पर गद्य की ऐसी नाति दीर्घ रचना है जिसका क्षेत्र एवं शैली स्पष्ट होती है; पर उसमें कलात्मक समाप्ति का प्रयास नहीं पाया जाता है। मुरे ने शैली को रेखांकित किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार निबंध-लेखक के लिए प्रतिभा एवं ज्ञान-पिपासा की आवश्यकता नहीं होती है। यह बात आज दिवालिएपन की प्रतीक बन गई है। निबंध का विषय कुछ भी हो सकता है; लेकिन उसके निर्वाह की अहमियत से इन्कार नहीं किया जा सकता है। कुछ निबंधों में 'गागर में सागर' भरने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, तो कुछ में विषय के हलके प्रतिपादन की। लेकिन इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं होता है कि कोई 'ऐरा-गैरा नत्थू खैरा' निबंध लिखने में सफल हो सकता है। किसी भी व्यंजित विचार को मन की तरंग कह देना, उससे मुकरना है। हमें तो देखना पड़ता है कि आखिर उस तरंग के पीछे प्रेरणा का सूत्र क्या एवं कैसा है? अलेक्जेण्डर स्मिथ ने 'आन द राइटिंग ऑफ एसे' में इस पर प्रकाश डालते हुए कहा है, "निबंध एवं प्रगति में उस हद तक समानता है, जिस हद तक वे किसी विनोदी, गंभीर, या व्यंग्य-प्रधान केन्द्रीय चित्तवृत्ति से निर्देशित होती हैं। विषय के साथ निश्चित चित्तवृत्ति का संयोग होने पर निबंध वैसे ही विकसित होता है, जैसे सिल्क के कीड़े के साथ सिल्क।" स्मिथ के इस सूत्र के द्वारा निबंध की रचना-प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है। हमने आरंभ में ही वर्गीकरण के मसले पर नाट्य-कल्पना एवं प्रगीत-कल्पना की चर्चा की है और निबंध एवं प्रगीत का संबंध प्रगीत कल्पना से स्थापित किया

है। जब स्मिथ इन दोनों के साम्य की चर्चा करते हैं, तो संभवतः वे भी इनके सृजन की गुणात्मक एकता को सम्मुख रखना चाहते हैं। प्रगीत के विवेचन में सावयव विकास की जिन तीन सरणियों का उल्लेख किया गया है, वे कमोवेश रूप में निबंध पर भी लागू होती हैं। किसी भी विषय के चारो ओर भाव या विचार की किलेबन्दी तब होती है, जब कोई निश्चित 'मूड' उससे जुड़ता है। जिस तरह 'स्विच आन' होने पर बिजली की धारा स्वयमेव गतिशील हो उठती है, उसी तरह 'मूड' एवं विषय का संयोग होने पर विचार की शृङ्खला भी बनने लगती है। हर निबंध में विकास-क्रम की आड़ी-बेड़ी रेखाओं को देखा जा सकता है।

हिन्दी के विद्वान् भी निबंध को परिभाषित करने का प्रयत्न किए हैं। बाबू गुलाब राय के शब्दों में "निबंध उस गद्य-रचना को कहते हैं; जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छंदता, सौष्ठव एवं आवश्यक सजीवता तथा आवश्यक संगति और संबद्धता के साथ किया जाता है।" इस परिभाषा में निबंध की सभी विशेषताओं को समेटने का प्रयास किया गया है, अतएव अतिव्याप्ति दोष आ गया है। मेरी दृष्टि में निबंध गद्य के माध्यम से किसी विषय की भावात्मक अथवा बौद्धिक प्रतिक्रिया का ऐसा संप्रकाशन है; जिसमें अपेक्षित निजीपन, स्वच्छंदता एवं संगति पाई जाती है।

वर्गीकरण

अन्य साहित्य-रूपों की भाँति निबंध के भी वर्गीकरण का प्रयास किया गया है। उसके चार वर्ग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(१) वर्णनात्मक (Descriptive)
(२) विवरणात्मक (Narrative)
(३) विचारात्मक (Reflective)
(४) भावात्मक (Emotional)

वर्णनात्मक निबंध : का लेखक किसी विषय का वर्णन करता है और उसे अधिक-से-अधिक सरस बनाने का प्रयास करता है। वर्णन की सजीवता ही पाठक की तल्लीनता का प्रमुख कारण होती है। वर्ण्य वस्तु निबंधकार के बोध, संवेदना एवं अनुभूति का विषय होती है। लेखन के समय वे विचार उसके सम्मुख उपस्थित होने लगते हैं। वह उनमें तारतम्य स्थापित करते हुए अपनी बात को स्पष्ट शब्दों में निरूपित करता है। इसके लिए न तो किसी फलसफे की जरूरत होती है, और न जीवन-दर्शन की। इसके लिए तो असल में ऐसी दृष्टि की आवश्यकता होती है, जो वर्णन को विश्वसनीय एवं सप्राण बना सके। निबंधकार वस्तु को स्थिर रूप में देखकर उसका वर्णन करता है। अतएव उसका संबंध देश से होता है। वह कल्पना, राग, बुद्धि एवं शैली का समुचित उपयोग करता है। बुद्धि विषय के विश्लेषण, राग

सहानुभूतिपूर्ण पर्यवेक्षण और कल्पना उचित संश्लेषण का कार्य करती है। शैली सहज बोधगम्य संप्रेषण का साधन सिद्ध होती है।

विवरणात्मक निबंध का विषय काल से जुड़ा होता है। इसमें वस्तु को गतिशील रूप में देखने की कोशिश की जाती है। गतिशीलता का अर्थ है क्रियाशीलता। किसी भी क्रिया का संबंध विकासमय सूत्रों से होता है। अतएव उसमें कथात्मक सूत्रों का समावेश हो जाता है। वह निश्चित काल की परिधि में घटती है। अतएव उसका एक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पक्ष भी होता है। साहित्य के साथ जब भी उसका इतिहास जुड़ता है, तो उसको प्राणवान् अथवा जीवंत बनाने के लिए संस्कृति की अंतर्धारा का उपयोग अवश्य किया जाता है। इसी विशेषता के द्वारा निबंधकार निष्क्रिय जड़ता से मुक्त होता है। निबंधकार बाह्य आँकड़ों से संतुष्ट नहीं हो जाता। वह तथ्यों का तटस्थ विवेचन प्रस्तुत कर अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ लेता है। वह तो काल की क्रोड़ में छिपे उस गतिशील तथ्य को परखना एवं समझना चाहता है, जो इतिहास की दृष्टि से छूट गया है। वह संपूर्ण घटना-क्रम को अपनी अन्तर्दृष्टि से परखकर उसे अपनी रागात्मकता, काल्पनिकता एवं भावमयता से रँग देता है। यह कार्य थोड़ा कठिन होता है। इसके लिए यत्किंचित् कलात्मकता अपेक्षित होती है। इस खेवे का लेखक व्यंजना-प्रधान, बिम्बात्मक एवं प्रसाद गुण संपन्न शैली को अपनाता है, संगति एवं तारतम्य पर ध्यान देता है। वह कल्पना का सहारा लेता है; फिर भी निबंध में विश्वसनीयता बनाये रखने की हरचन्द कोशिश भी करता है।

विचारात्मक निबंध में बुद्धि तत्त्व की प्रधानता पाई जाती है। इसके द्वारा लेखक विषय से संबंधित अपने चिंतन, मनन एवं मौलिक विचार को व्यक्त करता है। चूँकि इसमें लेखक की बौद्धिक दीप्ति एवं तर्क-शृङ्खला का प्राधान्य होता है, अतएव उसके व्यक्तित्व को अबाध रूप में प्रकट होने की संभावना भी अधिक होती है। चिंतन तर्क-कर्कश और खंडन-मंडन-प्रधान होता है, अतएव लेखक की शैली में उसे ग्रहण करने की शक्ति का पाया जाना आवश्यक हो जाता है। विचार-प्रधान व्यक्ति न तो ख्याली दुनियाँ सँजोता है और न कल्पना की भूल-भूलैया में फँसता है। वह तो अभिनव बौद्धिक संवेदना से यथार्थ की आड़ी-बेड़ी रेखाओं को परखता है : सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परंपराओं की शल्य-क्रिया करता है और शोषक परंपराओं के प्राणघाती विष से हमें मुक्त करता है। हर विषय के संबंध में उसकी अपनी निजी बौद्धिक प्रतिक्रिया होती है और उसकी बेदाग अभिव्यक्ति को वह अपना धर्म समझता है। विचारात्मक निबंध में एक तीखापन होता है। उसकी अपील सीधे बुद्धि को आंदोलित करती है। बुद्धि-व्यवसाय जब रूखेपन की ओर अग्रसर होने लगता है; तब लेखक व्यंग्य एवं हास्य के द्वारा मुक्ति पाने

एवं देने का प्रयास करता है। इनसे उसके दुहरे उद्देश्य की सिद्धि होती है। आरंभ में पाठक रूखेपन से मुक्त हो जाता है; लेकिन जब वह उसकी गहराई में तिरने लगता है, तो उसका असली प्रभाव उस पर छा जाता है। लेखक अपने सीमित दायरे में चिंतन की अधिक से अधिक बातों को समेट लेना चाहता है। चुनांचे लेख की शैली कसी, मँजी एवं संश्लिष्ट बन जाती है। शुक्ल जी ने कहा भी है, "शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरमोत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है, जहाँ एक-एक पैराग्राफ़ में विचार दबाकर कसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी संबद्ध विचार-खंड को लिए हुए हों।" औंधी खोपड़ी के लोग इसे समझने में भी मनमानी करते हैं। वे केवल विचारों के धकापेल को महत्त्व देने लगते हैं। यह वैचारिक धक्कम-धुक्की निबंधकार को उद्देश्य से विमुख कर देती है। दरअसल विचारात्मक निबंधों में विचारों के अनुशासित एवं गठित रूप का बड़ा महत्त्व होता है। इसकी रचना-प्रक्रिया का निर्देश करते हुए आचार्य प्रवर ने सुझाया है: "निबंध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ-संबंधी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ-संबंधी सूत्रों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखायें ही भिन्न-भिन्न लेखकों का दृष्टिपथ निर्दिष्ट करती हैं। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी संबंध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है, एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूलाधार यही है।" कहना न होगा कि अर्थ-संबंधी जिस व्यक्तिगत विशेषता का शुक्ल जी ने उल्लेख किया है, वही विचारात्मक निबंध का प्राण होती है। निबंधकार अपनी बौद्धिक प्रतिक्रिया के अंतःसंबंधों को शब्द-अर्थ ही नहीं देता है; अपितु अपने मौन चिंतन को भाषा के कलेवर में बाँध कर मुखरित भी करता है। इससे 'तरह-तरह के अर्थों की विचित्र गतिशील परंपरा' का जन्म होता है, जो भाषा को एकरसता एवं एकतानता से मुक्त करके निबंधकार की शैली की जनक बनती है। विचार-तारतम्य एक सार्थक जुमला है। यह विभिन्न विचार-खण्डों के आपस में मिलकर एकरस होकर विकसित होने का परिचायक है। जो विचार विकसित होता है; उसका आदि, मध्य एवं अंत होता है और उसमें पूर्वापर संबंध भी पाया जाता है। वह त्रिशंकुवत् अधर में नहीं लटकता; अपितु तार्किक शृङ्खला से आबद्ध होता है। विचार-प्रधान निबंधों का प्रमुख उद्देश्य पाठक की बुद्धि को उत्तेजित करके नई विचार-पद्धति को ग्रहण करने योग्य बनाना है। यह तभी संभव होता है; जब लेखक का चिंतन स्पष्ट एवं उसकी भाषा सशक्त होती है। कुछ लोग इस प्रकार के निबंध में हृदय तत्त्व को प्रायः नगण्य समझते हैं; पर बात ऐसी नहीं है। कल्पना, राग, बुद्धि एवं शैली, सभी का इसमें भी सहयोग होता है। बुद्धि प्रमुख होती है तथा राग गौण। सारांश यह है कि विचारात्मक निबंध में विचारों का विकासोन्मुख

संगुंफन, अर्थ के संबंध-सूत्रों का निर्वाह, व्यक्तित्व की पूर्ण सशक्त झलक तथा भाषा-शैली का सुष्ठु नियोजन पाया जाता है।

अब रही भावात्मक निबंधों की बात। ये यथानाम तथागुण की कहावत को चरितार्थ करते हैं। वास्तव में इन्सान का दिल चिरंतन काल से भावात्मक ललक के चरम पाश से बँधा हुआ इस अजीबो-गरीब दुनियाँ की सुख-दुखात्मक अनुभूति करता रहा है। उसका यह संसार तर्क एवं युक्ति से परे रहा है। यह ललक गेय कविता एवं भावात्मक निबंधों के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होती रही है। इस प्रकार के निबंध की प्रमुख विशेषता रही है संवेदनमय अनुभूति का संप्रकाशन अथवा ललक-भरे दिल का आत्म-निवेदन। अनुभूति भाषा को तरलित करके उसे अभिव्यक्ति-सक्षम बनाती है। जिस प्रकार घोर वर्षा में जल अपने प्रवाह की दिशा स्वयं निर्धारित करता है; उसी प्रकार, सघन अनुभूति की स्थिति में संप्रकाशन उससे स्वयं निर्देशित होता है। दिल की उमंग को दिल ही समझता, परखता एवं देखता है तथा सार्थक होने पर उसमें रमता भी है। भावात्मक निबंध की सबसे प्रमुख विशेषता है रमाने की शक्ति, रागात्मक तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता अथवा रसमग्न कर देने की दक्षता।

छायावादी काल में भावना के ज्वार में एक तरह से गद्य भी रँग उठा था। एकबारगी ऐसे अनेक लेखक सामने आये थे जिनकी रचनाओं को 'गद्यगीत' की संज्ञा दी गई थी। यह नाम एक समय जोरों से चल भी पड़ा था। आज भी कुछ लोगों की जुबान से यह जाने-अनजाने निकलता रहता है। मेरी दृष्टि में यह भावात्मक निबंध का ही स्वरूप है। जब भावधारा उमड़ती है, तो जिसकी प्रमुखता होती है, वह केन्द्रीय भाव बन जाता है और उसके चारों ओर उसके अन्य सहायक भावों का एक चक्र बन जाता है। जिस प्रकार विचारात्मक निबंध में विचार-खण्ड अभिव्यक्तीकरण की प्रक्रिया में विकसित होते हैं; उसी प्रकार भावात्मक निबंध में भाव-खण्ड। लेकिन प्रथम में जहाँ विकास की रेखाएँ स्पष्ट होती हैं; वहीं द्वितीय में कुछ चक्रिल एवं अस्पष्ट। भावात्मक निबंधों में राग की प्रधानता होती है। इसमें विभावों एवं अनुभावों की छटा देखने को मिलती है। इन निबंधों में धारा शैली, तरंग शैली एवं विक्षेप शैली का प्रयोग किया जाता है। यथास्थान भाषा व्यंजना-प्रधान, सांकेतिक और प्रतीकात्मक भी हो जाती है।

इधर अँग्रेजी के अनुकरण पर हिन्दी में भी **'परसनल एसे'** या **आत्मपरक निबंधों** की चर्चा होने लगी है। वैसे इसका एक विभाजन आत्मगत और वस्तुगत आधार पर भी प्रस्तुत किया जाता है। भावात्मक निबंध आत्मगत निबंधों का ही सगोत्री है; फिर भी दोनों में कुछ भेद किया जाता है। वैयक्तिकता निबंध की प्राण है; परन्तु भावगत निबंधों में यह समष्टि की ओर झुकी होती है और आत्म पर

में लीन होता नजर आता है। आत्मपरक निबंधों का लेखक अपने ही चतुर्दिक् घूमता रहता है। उसमें उसके वैयक्तिक सुख-दुख, आशा-निराशा, सफलता-असफलता, घुटन-बिखराहट और सामंजस्य के चित्र होते हैं। वह अपने कथ्य के द्वारा, हास एवं करुणा के द्वारा, लोगों की सहानुभूति पाना चाहता है। मेरी दृष्टि में इसे भावात्मक निबंधों की कोटि में ही रखा जाना चाहिए। इसे अन्य 'लेबुल' लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है। लोगों का यह तर्क यहाँ औचित्यपूर्ण नहीं लगता है कि इसमें निबंधकार अपने भौतिक संबंधों की बात करता है; जबकि भावात्मक निबंधों में भाव-जगत् की। वस्तु-जगत् ही भाव-जगत् का निर्माण एवं निर्देशक होता है। भौतिक संबंधों की क्रिया-प्रतिक्रिया से ही उसके सूक्ष्म तंतुओं का निर्माण भी होता है।

मूल्य रु० १०.००